# ACKNOWLEDGEMENT

We sincerely express our gratitude to **“Shree Vitrag Sat-Sahitya Prakashak Trust, Bhavnagar”** from where we have sourced **“Pravachan Sudha Part-11”**.

**“Shree Vitrag Sat-Sahitya Prakashak Trust, Bhavnagar”** have taken due care, However, if you find any error, for which we request all the reader to kindly inform us at info@vitragvani.com or to **“Shree Vitrag Sat-Sahitya Prakashak Trust, Bhavnagar”.**

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

# प्रवचन सुधा

## भाग - 11

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित प्रवचनसार परमागम
पर हुए परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती
प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद
(पंच रत्न गाथा तथा परिशिष्ट)

अनुवादक

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ - भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर (सौराष्ट्र)

**प्रथमावृत्ति :** 1000 प्रति

**न्यौछावर राशि : 25 रुपये**

**प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :**

- **वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**
  **श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट**
  580, जूनी माणेकवाड़ी, भावनगर-364001
  **फोन : ( 0278 ) 423207/ 2151005**
- **गुरु गौरव**
  श्री कुन्दकुन्द कहान जैन साहित्य केन्द्र
  पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़
- **तीर्थधाम मंगलायतन**
  अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216, (महामायानगर) उ.प्र.
- **श्री खीमजीभाई गंगर ( मुम्बई ) :** (022) 26161591
  **श्री डोलरभाई हेमाणी ( कोलकाता ) :** (033) 24752697
  **अमी अग्रवाल ( अहमदाबाद ):**(079) 25450492, 9377148963

टाइपसैटिंग :
**विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़**
**vivekapal78@gmail.com**

मुद्रण व्यवस्था :
भगवती ऑफसेट
15-सी, वंशीधर मिल कम्पाउण्ड
बारडोलपुरा, अहमदाबाद

## प्रकाशकीय

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत पञ्च परमागमों में प्रवचनसार शास्त्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सर्वोत्कृष्ट आगमों में से एक है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की महिमा दर्शानेवाले अनेक शिलालेख आज भी विद्यमान हैं। उनके द्वारा लिखित शास्त्र, साक्षात् गणधरदेव के वचनों जितने ही प्रमाणभूत माने जाते हैं।

महाविदेहक्षेत्र में विद्यमान त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमदेवाधिदेव श्री सीमन्धर भगवान की प्रत्यक्ष दिव्यदेशना सुनकर, भरतक्षेत्र में आकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अनेक शास्त्रों की रचना की है। जिनशासन के अनेक मुख्य सिद्धान्तों के बीज इस प्रवचनसार शास्त्र में विद्यमान है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस ग्रन्थ के प्रवचनों में फरमाते हैं – प्र + वचन + सार। प्र अर्थात् दिव्यवचन। जो दिव्यध्वनि – तीन लोक के नाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि, जो ओमध्वनि है – वह यहाँ कहते हैं। अत: यह प्रवचनसार ग्रन्थ है, वह भगवान श्री सीमन्धरस्वामी के दिव्य सन्देश ही हैं। तीन विभाग में विभाजित हुए इस ग्रन्थ में वस्तुस्वरूप को समझाते हुए मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। जो मुमुक्षु जीव को महामिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये दिव्यप्रकाश समान ही है।

महामिथ्यात्व से प्रभावित इस दुषम काल में ऐसे सर्वोत्कृष्ट परमागमों के सिद्धान्त समझने की सामर्थ्य अज्ञानी जीवों में कहाँ थी? परन्तु भरतक्षेत्र के अहो भाग्य से तथा भव्यजीवों के उद्धार के लिये इस मिथ्यात्व के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिये एक दिव्यप्रकाश हुआ! वह है कहान गुरुदेव!! पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अजोड़ रत्न हैं! जिन्होंने स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा गूढ़ परमागमों के रहस्य समझाये। जिनके घर में आगम उपलब्ध थे, उन्हें भी आगम समझने की शक्ति नहीं थी, ऐसे इस दुषम काल में पूज्य गुरुदेवश्री के परम प्रभावनायोग से घर-घर में मूलभूत परमागमों के स्वाध्याय की प्रणाली शुरु हुई। द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त इत्यादि अनेकानेक वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्तों का पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रकाश किया है।

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के वचनानुसार 'पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अचम्भा ही हैं।' पूज्य गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी। पञ्चम काल में निरन्तर अमृत झरती गुरुदेवश्री की वाणी भगवान का विरह भुलाती है। इत्यादि अनेकानेक बहुमान सूचक वाक्य पूज्य गुरुदेवश्री की असाधारण प्रतिभा को व्यक्त करते हैं।

ऐसे भवोदधि तारणहार, निष्कारण करुणाशील, अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक मूल परमागमों पर प्रवचन प्रदान करके दिव्य अमृतधारा बरसायी है। उन अनेक शास्त्रों में से एक प्रवचनसार जैसे गूढ़ परमागम पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन प्रकाशित करने का महान सौभाग्य वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। प्रवचनसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के कुल 274 प्रवचन हुए हैं। मूल परमागम तीन अधिकारों में विभाजित है। उनमें अन्य अधिकारों के विभाग भी किये गये हैं जो प्रवचनसार शास्त्र की अनुक्रमणिका में दिये गये हैं। तद्नुसार 274 प्रवचनों को समाहित करने के लिये कुल ग्यारह भागों में प्रकाशित किया गया है। इस ग्यारहवें भाग में कुल 24 प्रवचन हैं। जिसमें पंच रत्न गाथा—271 से 275 तथा परिशिष्ठ का समावेश होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वाध्याय में सरलता रहे, तदर्थ मूल सूत्रकार श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथायें, सूत्र टीकाकार आचार्य भगवान श्रीमद् भगवत् अमृतचन्द्राचार्यदेव की तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा श्रीमद् भगवत् जयसेनाचार्यदेव की तात्पर्यवृत्ति टीका संस्कृत में दी गयी है। तदुपरान्त तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा प्रकाशित प्रवचनसार परमागम के हरिगीत दिये गये हैं। साथ ही हिन्दी टीका भी समायोजित की गयी है।

समादरणीय सिद्धान्तनिष्ट जिनवाणी रहस्यज्ञ पूज्यभाईश्री शशिभाई के मार्गदर्शन में इससे पहले प्रवचन नवनीत भाग 1-4 प्रकाशित किये गये हैं। उसी अनुसार इन प्रवचनों के संकलन में भी पूर्ण सावधानी रखकर पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी अक्षरश: सलामत रहे तथा भावों का प्रवाह भी यथावत् रहे, यह प्रयास किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन प्रकाशित हों ऐसी भाईश्री की भावना थी। तद्र्थ सभी प्रवचन कम्प्यूटर में पुस्तकाकाररूप आ जायें ऐसी भी उनकी शोध चलती थी। यह बात उनकी पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्तिभावना को प्रदर्शित करती है। इसलिए इस भावना का अनुसरण करके यह कार्य किया जा रहा है। अत: इस प्रसंग पर उनके उपकार का स्मरण करके उनके चरणों में वन्दन करते हैं।

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट की नीति अनुसार इन प्रवचनों को सर्व प्रथम ओडियो कैसेट से अक्षरश: लिखा जाता है। तत्पश्चात् इन प्रवचनों का कैसेट सुनते-सुनते सम्पादन किया जाता है। वाक्य रचना को पूर्ण करने के लिये कोष्ठक भी भरा जाता है। जहाँ-जहाँ व्यक्तिगत सम्बोधन किया गया है अथवा व्यक्तिगत बात की गयी है वह इसमें नहीं ली गयी है। पूर्णरूप से प्रवचन तैयार होने के बाद एक बार अन्य मुमुक्षु द्वारा उन्हें कैसेट के साथ मिलान किया जाता है। जिससे किसी भी प्रकार की भूल न रह पाये। इसके फलस्वरूप प्रवचन सुधा, भाग-11 प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष होता है।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में जिन-जिन मुमुक्षुओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनका

भी यहाँ आभार प्रदर्शित करते हैं। प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तरण एवं एक बार पुन: सी.डी. प्रवचन से मिलान करने के लिये पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) का आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सुन्दर टाईप सेटिंग के लिये विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा सुन्दर मुद्रण कार्य के लिये मैसर्स भगवती आफसेट का आभार व्यक्त करते हैं।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में प्रमादवश या अजागृतिवश कोई क्षति रह गयी हो तो सर्व जिनेन्द्र भगवान से, आचार्य भगवन्तों से, जिनवाणी माता से तथा सर्व सत्पुरुषों से शुद्ध अन्त:करणपूर्वक क्षमा चाहते हैं।

अन्तत: इन प्रवचनों की दिव्यदेशना को अन्तर में ग्रहण करके। सभी जीव शीघ्र आत्महित को प्राप्त करें – ऐसी भावना के साथ। विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण

**वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**

भावनगर

# श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

ॐ

卐 श्री सर्वज्ञ-वीतरागाय नमः 卐

# ।। शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मङ्गलाचरण ।।

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नमः ॥१॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालित-सकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती ! हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३॥

## श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यश्रीगुरवे नमः

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री 'प्रवचनसार' नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञ-देवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारमासाद्य आचार्यश्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितम्।

## श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमौ गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥ १॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्॥ २॥

# अनुक्रमणिका


| प्रवचन नम्बर | गाथा नम्बर | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| प्रवचन-२५० | श्लोक-१८, गाथा-२७१ | ००२ |
| प्रवचन-२५१ | गाथा-२७२ | ००९ |
| प्रवचन-२५२ | गाथा-२७३ | ०२५ |
| प्रवचन-२५३ | गाथा-२७३ | ०४२ |
| प्रवचन-२५३ | गाथा-२७४ | ०५४ |
| प्रवचन-२५४ | गाथा-२७१ | ०६१ |
| प्रवचन-२५५ | गाथा-२७१ | ०७६ |
| प्रवचन-२५६ | गाथा-२७२ | ०९१ |
| प्रवचन-२५७ | गाथा-२७४ | १०६ |
| प्रवचन-२५८ | गाथा-२७५ | १२३ |
| प्रवचन-२५९ | परिशिष्ट | १३७ |
| प्रवचन-२६० | नय-१ से ४ | १५३ |
| प्रवचन-२६१ | नय-५ से १४ | १७२ |
| प्रवचन-२६२ | नय-१५ से २० | १८८ |
| प्रवचन-२६३ | नय-२१ से २४ | २०३ |
| प्रवचन-२६४ | नय-२५ से २७ | २१९ |
| प्रवचन-२६५ | नय-२८ से ३१ | २३५ |
| प्रवचन-२६६ | नय-३१ से ३३ | २५२ |
| प्रवचन-२६७ | नय-३४ से ३९ | २६५ |
| प्रवचन-२६८ | नय-४० से ४२ | २८७ |
| प्रवचन-२६९ | नय-४३ से ४५ | ३०३ |
| प्रवचन-२७० | नय-४६ से ४७ | ३२० |
| प्रवचन-२७१ | श्लोक-१९ | ३३७ |
| प्रवचन-२७२ | श्लोक-१९ | ३५५ |
| प्रवचन-२७३ | श्लोक-१९ | ३७० |
| प्रवचन-२७४ | श्लोक-२०, २१, २२ | ३८८ |

ॐ

नमः श्री सिद्धेभ्यः

# प्रवचन सुधा

## ( प्रवचनसार प्रवचन )

### भाग - ११

## पंच-रत्न गाथा तथा परिशिष्ट

कलश-१८

**अथ पञ्चरत्नम्।**

**तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतो-**
**ऽद्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः संक्षेपतः शासनम्।**
**व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं**
**जीयात्सम्प्रति पञ्चरत्नमनघं सूत्रैरिमैः पञ्चभिः।।१८।।**

---

अब, पंच-रत्न हैं (अर्थात् पाँच रत्नों जैसी पाँच गाथाएँ कहते हैं)।

[वहाँ पहले, श्लोक द्वारा उन पाँच गाथाओं की महिमा कहते हैं:—

**अर्थ** - अब इस शास्त्र के कलगी के अलंकार जैसे (चूड़ामणि-मुकुटमणि

समान) यह पाँच सूत्ररूप निर्मल पंच-रत्न—जो कि संक्षेप से अरहन्त भगवान के समग्र अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशित करते हैं वे—विलक्षण[१] पन्थवाली संसार-मोक्ष की स्थिति को जगत के समक्ष प्रकट करते हुए जयवन्त वर्तो।

**प्रवचन नं. २५० का शेष, श्लोक-१८, गाथा-२७१ वीर संवत २४९५**

**द्वितीय आषाढ़ कृष्ण ११, शुक्रवार, ०८ अगस्त १९६९**

अब, पाँच रत्न हैं, पाँच गाथा (हैं)। गाथा को रत्न कहा! पाँच रत्न! संसारतत्त्व की गाथा को रत्न कहा! सार है, रत्न अर्थात् सार है।

**अब, पंच-रत्न हैं ( अर्थात् पाँच रत्नों जैसी.... )** रत्नों जैसी **पाँच गाथाएँ कहते हैं )** ये पाँच रत्न जैसी पाँच गाथायें कही जाती हैं। 'नियमसार' में 'शुद्धभाव अधिकार' में भी आता है न? पाँच रत्न जैसी गाथायें (हैं)। वहाँ भी पाँच रत्न लिये हैं, पाँच रत्न कहे हैं। यहाँ पाँच रत्न (जैसी) गाथा है। सम्पूर्ण बारह अंग और चौदह पूर्व का सार पाँच रत्न गाथा है। वीतरागी शासन के दोहन में से निकाली (गाथायें हैं)। **( वहाँ पहले, श्लोक द्वारा उन पाँच गाथाओं की महिमा कहते हैं:- )** लो! कलश है न?

**तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतो-**
**ऽद्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः संक्षेपतः शासनम्।**
**व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं**
**जीयात्सम्प्रति पञ्चरत्नमनघं सूत्रैरिमैः पञ्चभिः।।१८।।**

**अब इस शास्त्र के कलगी के अलंकार जैसे....** कहो, राजा होते हैं न बड़े! ऐसे नहीं लगाते? मुकुट में कलगी लगाते हैं। **इस शास्त्र के कलगी...** प्रवचनसार (अर्थात्) भगवान की दिव्यध्वनि का सार। सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानी परमात्मा से जो वाणी आयी, उसे यहाँ प्रवचन कहते हैं, उसका यह सार था। उसमें भी इस शास्त्र के कलगी समान, मुकुट-समान **अलंकार जैसे ( चूड़ामणि-मुकुटमणि समान )....** लो! **यह पाँच सूत्ररूप निर्मल पंच-रत्न—जो कि**

१. विलक्षण=भिन्न-भिन्न [ संसार और मोक्ष की स्थिति भिन्न-भिन्न पन्थवाली है, अर्थात् संसार और मोक्ष का मार्ग अलग-अलग है। ]

**संक्षेप से...** पाँच रत्न, कि जिसमें संक्षिप्त में **अरहन्त भगवान के समग्र अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशित करते हैं....** यह दीपक है, यह सूर्य। पाँच गाथा द्वारा सम्पूर्ण शास्त्र का रहस्य क्या है, यह सब वहाँ जानने में आता है।

**संक्षेप से अरहन्त भगवान के....** अरहन्त परमात्मा वीतरागी केवलज्ञानी परमेश्वर के **समग्र अद्वितीय शासन को सर्वतः....** इसके द्वारा **प्रकाशित करते हैं...** पाँच रत्न में सब आ गया; कहते हैं। बारह अंग और चौदह पूर्ण का सार (आ गया)। कहो, समझ में आया? अमृतचन्द्राचार्य में है न? पाँच रत्न कहकर रचना की है न? **वे—विलक्षण पन्थवाली संसार-मोक्ष की स्थिति को जगत के समक्ष प्रकट करते हुए जयवन्त वर्तो।** कहते हैं, भगवान के द्वारा कथित शास्त्र और उनका शासन, उनके साररूप पाँच गाथा को **विलक्षण पन्थवाली....** देखो! भिन्न-भिन्न संसार की स्थिति और मोक्ष की स्थिति भिन्न-भिन्न पंथवाली है। जिस मार्ग से संसार मिलता है, उस मार्ग से मोक्ष नहीं और जिस मार्ग से मोक्ष मिलता है, उस मार्ग से संसार नहीं। दोनों की जाति अत्यन्त भिन्न है। समझ में आया? **विलक्षण पन्थवाली संसार-मोक्ष की स्थिति को जगत के समक्ष....** दुनिया के समक्ष **करते हुए जयवन्त वर्तो।** आहाहा!

## प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिङ्ग

**अहा! मुनिदशा कैसी होती है?** उसका विचार तो करो! छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले वे मुनि, स्वरूप में गुप्त हो गये होते हैं। **प्रचुर स्वसम्वेदन ही मुनि का भावलिङ्ग है और शरीर की नग्नता-वस्त्रपात्ररहित निर्ग्रन्थदशा, वह उनका द्रव्यलिङ्ग है।** उनको अपवाद-व्रतादि का शुभराग आता है, किन्तु वस्त्रग्रहण का अथवा अधःकर्म तथा औद्देशिक आहार लेने का भाव नहीं होता।

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिणसासणं सव्वं, २१४, पृष्ठ १३०*

## गाथा - २७१

**अथ संसारतत्त्वमुद्घाटयति-**

**जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।**
**अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।।२७१।।**

**ये स्वयमविवेकतोऽन्यथैव प्रतिपद्यार्थानित्थमेव तत्त्वमिति निश्चयमारचयन्तः सततं समुपचीयमान-महामोहमलमलीमसमानसतया नित्यमज्ञानिनो भवन्ति, ते खलु समये स्थिता अप्यनासादित-परमार्थश्रामण्यतया श्रमणाभासाः सन्तोऽनन्तकर्मफलोपभोगप्राग्भारभयंकर-मनन्तकालमनन्तभावान्तर-परावर्तैरनवस्थितवृत्तयः संसारतत्त्वमेवावबुध्यताम्।।२७१।।**

---

इतः परं पञ्चमस्थले संक्षेपेण संसारस्वरूपस्य मोक्षस्वरूपस्य च प्रतीत्यर्थं पञ्चरत्नभूतगाथापञ्चकेन व्याख्यानं करोति। तद्यथा-अथ संसारस्वरूपं प्रकटयति-**जे अजधागहिदत्था** वीतरागसर्वज्ञ-प्रणीतनिश्चयव्यवहाररत्नत्रयार्थपरिज्ञानाभावात् येऽयथागृहीतार्थाः विपरीतगृहीतार्थाः। पुनरपि कथंभूताः। **एदे तच्च त्ति णिच्छिदा** एते तत्त्वमिति निश्चिताः, एते ये मया कल्पिताः पदार्थास्त एव तत्त्वमिति निश्चिताः, निश्चयं कृतवन्तः। क्व स्थित्वा। **समये** निर्ग्रन्थरूपद्रव्यसमये। **अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं** अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालम्। द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चप्रकारसंसारपरिभ्रमण-रहितशुद्धात्मस्वरूपभावनाच्युताः सन्तः परिभ्रमन्ति। कम्। परं कालं अनन्तकालम्। कथंभूतम्। नारकादिदुःखरूपात्यन्तफलसमृद्धम्। पुनरपि कथंभूतम्। अतो वर्तमानकालात्परं भाविनमिति। अयमत्रार्थः- इत्थंभूतसंसार-परिभ्रमणपरिणतपुरुषा एवाभेदेन संसारस्वरूपं ज्ञातव्यमिति।।२७१।।

---

अब, संसारतत्त्व को प्रकट करते हैं:—

**समयस्थ होकर अयथा ही, जो समझते तत्त्व को।**
**ऽ अनन्त फलसमृद्ध भावी, काल में वे मुनि भ्रमें॥२७१॥**

**अन्वयार्थ** - [ **ये** ] जो [ **समये** ] भले ही समय में हो (भले ही वे द्रव्यलिंगी के रूप में जिनमत में हों) तथापि वे [ **एते तत्त्वम्** ] 'यह तत्त्व है (वस्तुस्वरूप ऐसा ही है)' [ **इति निश्चिताः** ] इस प्रकार निश्चयवान वर्तते हुए [ **अयथागृहीतार्थाः** ] पदार्थों को अयथार्थरूप से ग्रहण करते हैं (जैसे नहीं हैं वैसा समझते हैं), [ **ते** ] वे

**[ अत्यन्तफल-समृद्धम् ]** अत्यन्तफलसमृद्ध (अनन्त कर्मफलों से भरे हुए)— ऐसे **[ अतः परं कालं ]** अब से आगामी काल में **[ भ्रमन्ति ]** परिभ्रमण करेंगे।

**टीका** - जो स्वयं अविवेक से पदार्थों को अन्यथा ही अंगीकृत करके (अन्य प्रकार से ही समझकर) 'ऐसा ही तत्त्व (वस्तुस्वरूप) है' ऐसा निश्चय करते हुए, सतत एकत्रित किये जानेवाले महा मोहमल से मलिन मनवाले होने से नित्य अज्ञानी हैं, वे भले ही समय में (द्रव्यलिंगीरूप से जिनमार्ग में) स्थित हों, तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वास्तव में श्रमणाभास वर्तते हुए, अनन्त कर्मफल की उपभोगराशि से भयंकर ऐसे अनन्त काल तक, अनन्त भावान्तररूप परावर्त्तनों से अनवस्थित[१] वृत्तिवाले रहने से, उनको संसारतत्त्व ही जानना ॥२७१ ॥

---

**प्रवचन नं. २५० का शेष**

**द्वितीय आषाढ़ कृष्ण ११, शुक्रवार, ०८ अगस्त १९६९**

---

**अब, संसारतत्त्व को प्रकट करते हैं:—** संसारतत्त्व प्रगट करते हैं। नव तत्त्वों में संसारतत्त्व कौन सा होगा ? नव तत्त्व तो सुने हैं, कहते हैं, भाई ! नव तत्त्व तो सुने हैं। जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। संसारतत्त्व क्या ? संसारतत्त्व (अर्थात्) मिथ्यात्व, आस्रव, बन्धभाव, वह संसारतत्त्व (है)। वह नौ में आ जाता है। समझ में आया ? मिथ्यात्व के परिणाम, वह आस्रव और वे ही स्वयं मिथ्यात्व के परिणाम बन्ध—अटकनेयोग्य—उसरूप परिणमित हुआ जीव, उसे संसारतत्त्व कहा जाता है। समझ में आया ? संसारतत्त्व, इस आत्मा की विकारीदशा के भाव को संसारतत्त्व कहते हैं।

जीव की संसारदशा, जीव से अलग नहीं रहती—ऐसा सिद्ध करते हैं। यह स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, शरीर—यह संसार नहीं, यह संसारतत्त्व नहीं; ये तो परवस्तुएँ हैं। वहाँ कहाँ संसारतत्त्व है ? संसारतत्त्व, भगवान आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध अयथार्थ पदार्थ की प्रतीति, उसका जो मिथ्यात्वभाव, उसे सेवन करनेवाला जीव, वह संसारतत्त्वी और उसे संसारतत्त्व कहा जाता है। समझ में आया ? लोग कहते हैं न, यह संसार छोड़कर बैठे हैं। संसार किसे कहना—यह तो तुझे पता नहीं (तो) तूने क्या छोड़ा ?

**मुमुक्षु :** दूसरों को छुड़ाने के लिये बैठे हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दूसरों को छुड़ाने के लिये बैठे हैं, भाई! इनने तो ऐसा सब सुना है, ऐसा बहुत सुना है। दूसरों को दीक्षा लेने के लिये-धर्म कराने के लिये.. ऐसा, देखो! यह विरति है, विरति लो। तुम्हारे कपाल में देवलोक तो पक्का। देवलोक न? उसमें देवलोक अर्थात् संसार हुआ, सुन न! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, भगवान! संसारतत्त्व, वह आत्मा की मिथ्यात्वदशा है। उसे संसारतत्त्व कहा जाता है। इन नव तत्त्वों में आस्रव और बन्ध, पुण्य और पाप, वह संसारतत्त्व है। समझ में आया? यह संसारतत्त्वी उत्कृष्ट जीव कौन होता है, उसकी बात करते हैं।

**जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।**
**अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।।२७१।।**

**समयस्थ होकर अयथा ही, जो समझते तत्त्व को।**
**ऽ अनन्त फलसमृद्ध भावी, काल में वे मुनि भ्रमें॥२७१॥**

आहाहा! यह रत्न जैसी गाथा कहते हैं। पहले थोड़ा शब्दार्थ लो। '**जो,...**' '**समये**' **भले ही समय में हो....** अर्थात् द्रव्यलिंगी, जिनमत में हो, ऐसा। जैन का निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु, वस्त्ररहित ऐसा हो। जैन में रहा हुआ, वाड़ा में—सम्प्रदाय में (रहा हुआ हो)। समझ में आया? '**समये**' अर्थात् जैन वाड़ा में, जैन का साधु द्रव्यलिंगीरूप से हो। कहो, समझ में आया? वस्त्ररहित, नग्नदशा और उसकी पंच महाव्रतादि की क्रिया एकदम ठीक हो, ऐसा द्रव्यलिंगी। ऐसा लिया है न?

'**तथापि वे...**' '**एते तत्त्वम्**' '**यह तत्त्व है ( वस्तुस्वरूप ऐसा ही है )**' **इस प्रकार निश्चयवान वर्तते हुए....** पुण्य को पवित्रता में खतियावे, पवित्रता को पुण्य में खतियावे, व्यवहार से निश्चय माने, निश्चय को व्यवहार की आवश्यकता है—ऐसा माने। समझ में आया? निमित्त से जीव की पर्याय बदलती है—ऐसा माने, जीव की पर्याय दूसरे को बदलती है—ऐसा माने। यह ऐसा ही (है), ऐसा मानकर उस प्रकार (वर्ते कि) ऐसा ही होता है। समझ में आया? अब यहाँ सर्दी प्रत्यक्ष हो, लो और अग्नि हो अग्नि, (वहाँ हाथ रखे तो) सर्दी उड़ जाती है, ठीक! ऐसे उड़ जाती है, लो! हाथ छुआओ तो सर्दी उड़ जाती है, प्रत्यक्ष है। इस प्रकार

विपरीतमान्यतावाला जीव, ऐसे कहता है। ऐसा पदार्थ इसने निर्णय किया है। पर से गर्म होता नहीं। समझ में आया।

इस प्रकार अपनी कल्पना से 'यह ऐसा ही है'—ऐसा वस्तु का स्वरूप है। **इस प्रकार निश्चयवान वर्तते हुए पदार्थों को अयथार्थरूप से ग्रहण करते हैं...** देखो! जैसा नहीं, वैसा मानता है, समझता है। भगवान, एक समय की पर्यायवाला, त्रिकाली ध्रुव, उसमें राग और निमित्त जिस प्रकार से वस्तु का स्वरूप है, उससे विपरीत मान्यता है। कहीं भी इसे उसमें विपरीतता की शल्य रहती है। '**अयथागृहीतार्थः**' जैसा पदार्थ का ध्रुवस्वरूप, निर्मल पर्याय का स्वरूप, विकारी राग का स्वरूप, निमित्त की उपस्थिति का स्वरूप जिस प्रकार है, (उससे) विपरीतरूप माननेवाला। समझ में आया?

'**अयथागृहीतार्थः**' जैसा पदार्थ नहीं, वैसा इसे मान्यता में आया है, पकड़ा है। नहीं, हम मानते (हैं) वैसा है, वैसा है। व्यवहार होवे तो निश्चय होता है। निश्चय को प्रगट करने के लिये व्यवहार की आवश्यकता है, पहले व्यवहार होता है, पहले राग होवे तो फिर वीतरागता होती है।

**मुमुक्षु :** बीमार हो वह ठीक होवे न?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बीमार ठीक हो। बीमारी छोड़कर ठीक होता है या बीमारी रखकर?

यह पदार्थ के स्वरूप को अयथातथ**( जैसे नहीं हैं वैसा समझते हैं ), वे... 'अत्यन्तफल-समृद्धम्' अत्यन्तफलसमृद्ध....** उसे महाफल मिलेगा। **( अनन्त कर्मफलों से भरे हुए )—ऐसे.... 'अतः परं कालं' अब से आगामी काल में परिभ्रमण करेंगे।** चौरासी के अवतार में निगोदादि में जाएगा। आहाहा! वस्त्र का एक धागा रखकर मुनिपना माने तो निगोद जाएगा। यह तो अनेक पदार्थ की विपरीतता की मान्यता (रखता है), यह तो निगोद में जाएगा। विशेष बात कही जाएगी, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## गाथा - २७२

**अथ मोक्षतत्त्वमुद्घाटयति-**

**अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।**
**अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो।।२७२।।**

**अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितः प्रशान्तात्मा।**
**अफले चिरं न जीवति इह स सम्पूर्णश्रामण्यः।।२७२।।**

**यस्त्रिलोकचूलिकायमाननिर्मलविवेकदीपिकालोकशालितया यथावस्थितपदार्थनिश्चयनिवर्तितौत्सुक्यस्वरूपमन्थरसततोपशान्तात्मा सन् स्वरूपमेकमेवाभिमुख्येन चरन्नयथाचारवियुक्तो नित्यं ज्ञानी स्यात्, स खलु सम्पूर्णश्रामण्यः साक्षात् श्रमणो हेलावकीर्णसकलप्राक्तनकर्मफलत्वादनिष्पादितनूतनकर्मफलत्वाच्च पुनः प्राणधारणदैन्यमनास्कन्दन् द्वितीयभावपरावर्ताभावात् शुद्धस्वभावावस्थित-वृत्तिर्मोक्षतत्त्वमवबुध्यताम्।।२७२।।**

---

अथ मोक्षस्वरूपं प्रकाशयति-**अजधाचारविजुत्तो** निश्चयव्यवहारपञ्चाचारभावनापरिणतत्वादयथा-चारवियुक्तः, विपरीताचाररहित इत्यर्थः, **जधत्थपदणिच्छिदो** सहजानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थपरिज्ञानसहितत्वाद्यथार्थपदनिश्चितः, **पंसतप्पा** विशिष्टपरमोपशमभावपरिणतनिजात्म-द्रव्यभावनासहितत्वात्प्रशान्तात्मा, **जो** यः कर्ता **सो संपुण्णसामण्णो** स संपूर्णश्रामण्यः सन् **चिरं ण जीवदि** चिरं बहुतरकालं न जीवति, न तिष्ठति। क्व। **अफले** शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतर-सास्वादरहितत्वेनाफले फलरहिते संसारे। किन्तु शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति। अयमत्र भावार्थः- इत्थंभूत मोक्षतत्त्वपरिणतपुरुष एवाभेदेन मोक्षस्वरूपं ज्ञातव्यमिति। ।२७२।।

---

अब, मोक्षतत्त्व को प्रगट करते हैं:—

**सत् आचरण, प्रशान्त मुद्रा, सूत्र-अर्थ सुनिश्चयी।**
**वे पूर्ण साधु कर्मफलबिन, संसार में चिर रहें नहीं॥२७२॥**

**अन्वयार्थ** - [ **यथार्थपदनिश्चितः** ] जो जीव यथार्थतया पदों का तथा अर्थों (पदार्थों) का निश्चयवाला होने से [ **प्रशान्तात्मा** ] प्रशान्तात्मा[१] है और

**[ अयथाचार वियुक्तः ]** अयथाचार (-अन्यथा आचरण, अयथार्थ आचरण) रहित है, **[ सः सम्पूर्ण श्रामण्यः ]** वह सम्पूर्ण श्रामण्यवाला जीव **[ अफले ]** अफल (-कर्मफल रहित हुए) **[ इह ]** इस संसार में **[ चिरं न जीवति ]** चिरकाल तक नहीं रहता (-अल्प काल में ही मुक्त होता है।)

**टीका** - जो (श्रमण) त्रिलोक की चूलिका (कलगी) के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिका के प्रकाशवाला होने से यथास्थित पदार्थ निश्चय से उत्सुकता का निवर्तन करके स्वरूपमंथर[२] रहने से सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ, स्वरूप में एक में ही अभिमुखरूप से विचरता (क्रीड़ा करता) होने से 'अयथाचार रहित' वर्तता हुआ नित्य ज्ञानी हो, वास्तव में उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना, क्योंकि पहले के सकल कर्मों के फल उसने लीलामात्र से नष्ट कर दिये हैं इसलिए और वह नूतन कर्मफलों को उत्पन्न नहीं करता इसलिए पुनः प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त न होता हुआ द्वितीय भावरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित[३] वृत्तिवाला रहता है ॥२७२॥

---

**प्रवचन नं. २५१, गाथा-२७२**

**द्वितीय आसोज कृष्ण १४, शुक्रवार, १९ अगस्त १९७९**

---

प्रवचनसार, २७२ (गाथा) चलती है, थोड़ी बाकी है, फिर से लेते हैं। मोक्षतत्त्व की व्याख्या है। पहली गाथा में संसारतत्त्व की व्याख्या आयी। संसारतत्त्व अर्थात् क्या? संसारतत्त्व, आत्मा की पर्याय से कहीं पृथक् नहीं है। शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार, ये कोई संसार नहीं; ये तो परचीज हैं। संसारतत्त्व, नवतत्त्व में फिर संसारतत्त्व दसवाँ कहाँ से आया? दसवाँ नहीं। ये पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध पर्याय है, वह संसारतत्त्व है। उन्हें एकत्व मानना वह। समझ में

---

१. प्रशान्तात्मा = प्रशान्तस्वरूप; प्रशान्तमूर्ति; उपशान्त; स्थिर हुआ।

२. स्वरूपमन्थर = स्वरूप में जमा हुआ [ मन्थर का अर्थ है सुस्त, आलसी। यह श्रमण स्वरूप में तृप्त-तृप्त होने से मानो वह स्वरूप से बाहर निकलने को सुस्त या आलसी हो, इस प्रकार स्वरूपप्रशान्ति में मग्न होकर रहा है। ]

३. अवस्थित = स्थिर, [ इस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले जीव को अन्यभावरूप परावर्तन ( पलटन ) नहीं होता, वह सदा एक ही भावरूप रहता है—शुद्ध स्वभाव में स्थिर परिणतिरूप से रहता है; इसलिए वह जीव मोक्षतत्त्व ही है। ]

आया ? क्योंकि आत्मा ज्ञायकस्वरूप-चैतन्यस्वरूप शुद्ध ज्ञानमय... आया था न ? शुद्ध ज्ञानरूप में बहुत कहने का था। कहने का आशय तो यहाँ भी यही है।

जो कोई श्रमण... अपने इसमें से थोड़ा लेते हैं। **त्रिलोक की कलगी समान विवेकरूप दीपिका के प्रकाशवाला होने से...** आहा...हा... ! यहाँ तो मोक्षमार्गी जीव को मोक्षतत्त्व कहा है। फिर मोक्ष का साधनतत्त्व बाद में कहेंगे, परन्तु यह तो मोक्षतत्त्व (अर्थात्) जो मोक्ष के मार्ग पर है, वही मोक्ष है। आहा... ! क्योंकि आत्मा मुक्तस्वरूप है। आहा...हा... ! उसमें जो पर्याय का वेष है... रागादि तो भिन्न हैं, परवस्तु तो पर्याय में नहीं; रागादि, मिथ्यात्वादि इसकी पर्याय में है। परवस्तु का तो इसकी पर्याय में अभाव है। इसकी पर्याय में भ्रम और राग-द्वेष इसकी पर्याय में है, परन्तु वह पर्याय है, वह मलिन है। इससे इसे जब... यहाँ नित्य ज्ञानमय कहेंगे, नित्य ज्ञानी कहेंगे। है न ? नित्य ज्ञानी। उस ओर है।

नित्य ज्ञानी अर्थात् ? आहा...हा... ! जिसे मति, श्रुत, अवधि-ऐसे पर्यायभेद हैं, वे भी अशुद्ध हैं। आहा...हा... ! वह अशुद्धनय का विषय है। यहाँ तो ऐसा कहा था न, सबेरे चलता था वहाँ कि पराश्रित, वह व्यवहार। नहीं तो पर्याय स्वयं ही व्यवहार है, परन्तु ऐसा यहाँ नहीं लेना है। समयसार, २७२-गाथा। द्रव्य स्वयं त्रिकाल, वह निश्चय है और पर्याय है, वह व्यवहार, परन्तु वह पर्याय सद्भूत व्यवहार है; इसलिए उसे न लेते हुए पराश्रित व्यवहार अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति, काम-क्रोध के परिणाम उत्पन्न हों, उन्हें व्यवहार कहा है। वस्तुतः यह असद्भूत व्यवहारनय के विषय को व्यवहार कहा है। सूक्ष्म बात है। नहीं तो पर्याय स्वयं है, वह व्यवहार है। संवर, निर्जरा की पर्याय या केवलज्ञान की पर्याय, व्यवहार है। भेद है न ? आहा... ! और इसलिए पर्याय को तो... यह लिया है न ? प्रवचनसार में अन्तिम ४६ और ४७ नय, कि जैसे मिट्टी है, उस मिट्टी में उसके बर्तन आदि भिन्न-भिन्न पर्याय है, वह मिट्टी की अशुद्धता है; मिट्टी का मिट्टीपना जो है, वह शुद्ध है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है।

इसी प्रकार आत्मा में पुण्य और पाप के भाव, जिन्हें समयसार, गाथा-२७२ में व्यवहार कहा, वह तो व्यवहार पराश्रय राग की क्रिया और विकार की क्रिया को व्यवहार कहा; वरना तो पर्याय स्वयं व्यवहार है, परन्तु यहाँ उस पर्याय की बात न लेते हुए, पराश्रित व्यवहार लिया। जितना दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के

परिणाम होते हैं... आहा...हा... ! वह सब व्यवहार है, उसका वहाँ निषेध कराया है और स्व का आश्रय कराया है। वहाँ पर्याय है, वह वास्तव में तो पर्याय व्यवहार है, परन्तु वह पर्याय सद्भूत व्यवहार है, क्योंकि वह पर्याय विषय करती है द्रव्य को। क्या कहा- समझ में आया ? जो निर्मलपर्याय है, वह द्रव्य को विषय करती है, इसलिए उस पर्याय को पराश्रय न कहकर; इसे पराश्रय से जितने दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम होते हैं, उन्हें पराश्रय कहकर निषेध किया है कि वे बन्ध के कारण हैं, वे कोई धर्म नहीं और धर्म का स्वरूप नहीं। आहा...हा... ! कठिन बातें, भाई ! वीतरागमार्ग, सर्वज्ञ परमेश्वर के अन्तर के मार्ग के अभिप्राय कोई अलौकिक हैं ! आहा... !

कहते हैं कि पर के आश्रय से ( भाव हों), उन्हें वहाँ व्यवहार कहा। यहाँ यह कहते हैं, नित्य ज्ञानी आत्मा है। जो जीव धर्मी है, यहाँ मुख्य मुनि की व्याख्या है, परन्तु धर्मी जीव है, उसकी नित्य त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि है। यह दृष्टि है सम्यक्, वह सम्यग्दर्शन की पर्याय, दृष्टि का विषय नहीं। समझ में आया ? आहा...हा... ! जो सम्यग्दर्शन है, वह पर्याय है, परन्तु वह पर्याय सद्भूत व्यवहारनय में जाती है, परन्तु उस पर्याय का विषय पर्याय नहीं है। आहा...हा... ! ऐसी बातें, इसमें कहाँ... ? ये व्रत करो और अपवास करो और मर जाओ ! सामायिक की और प्रौषध किये और.... सब मिथ्यात्व है। अभी तत्त्व का तो पता नहीं होता। समझ में आया ?

यह पर्याय में जितना पर का आश्रय है—दया, दान, उसका निषेध किया, परन्तु वर्तमान पर्याय का निषेध नहीं किया। वहाँ २७२ गाथा और यह भी २७२ है न ? आहा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! शुद्ध ज्ञानमय चैतन्य प्रभु त्रिकाल, शुद्ध ज्ञानमय आत्मा—अर्थात् कि शुद्ध शब्द क्यों प्रयोग किया ? कि पर्याय में मति-श्रुतादि के भेद हैं, वह अशुद्धनय है, अशुद्ध है, वेष है। भाई ! आहा...हा... ! राग और दया, दान के परिणाम, वे तो मलिन हैं ही, वह तो राग है, विकार है, ज़हर है, दुःख है। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! वीतरागमार्ग कोई अलग है। अभी तो गड़बड़ ऐसी चली है और बनियों को समय भी नहीं मिलता, पूरे दिन पाप का धन्धा। भाई ! सुना है न यह ?

'जापान' का एक व्यक्ति है। समाचार पत्र में आया है। बड़ा इतिहासिक है।

६७ वर्ष की उम्र है। जैन के, अन्यमत के अनेक हजारों शास्त्र पढ़े हैं। बड़ा इतिहासिक है। उसका एक लड़का है, वह भी इतिहासिक है। उसमें यह जैन का भी पढ़ा और सबका पढ़ा, बहुत पढ़ा, फिर उसने ऐसा कहा कि जैनधर्म, अर्थात् अनुभूति, वह धर्म है। 'जापान' का व्यक्ति कहता है। यह आत्मा जो शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान (है)... उसका इतना लम्बा तो नहीं... परन्तु पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसका अनुभव करना; राग की क्रिया रहित वीतरागी पर्याय में वेदन और अनुभव करना, वह जैनधर्म है, ऐसा उसने लिखा है। समाचार-पत्र में आया है, परन्तु यह मार्ग बनियों को मिला, ऐसा उसने लिखा है। बनिये धन्धे के कारण सत्य का निर्णय करने के लिये निवृत्त नहीं। जिस बाड़ा में पड़े सो पड़े और उसमें वे (धर्म) मानकर जिन्दगी (पूरी करते हैं।) आहा...हा...!

जापानी व्यक्ति कहता है, यह तुम्हारे बनियों की पोल! पूरे दिन धन्धा, फिर निवृत्त होवे (तो) स्त्री-पुत्र के साथ प्रसन्न हो, छह-सात घण्टे नींद में जाए, उसमें घण्टा मिले (और) कदाचित् सुनने जाए तो कुगुरु उसे लूट ले। उसे धर्म मनावे, व्रत और तप और भक्ति करने से धर्म होगा। मिथ्यात्व करके उसका (एक) घण्टा लूट लेता है। इसलिए उसने कहा कि बनियों को मिला (परन्तु) उन्हें निवृत्ति नहीं, फुर्सत नहीं मिलती। सत्य क्या है? सम्यग्दर्शन क्या है? सम्यग्दर्शन का विषय क्या है? यह वस्तु है स्वयं भगवान, वह कौन? कैसा है? इसका निर्णय करने का समय-फुर्सत देता नहीं। आहा...हा...! जिन्दगी चली जाती है, बहुत-से तो मरकर ढोर आदि होनेवाले हैं, क्योंकि राग और पुण्य-पाप के भाव-कषाय-उनका सेवन है, वह स्वरूप से विपरीत / वक्रता है। माँस और शराब (खाते-पीते नहीं), इसलिए वे मरकर नरक में नहीं जाएँ; बहुत पशु होनेवाले हैं।

बाकी जिसे आत्मा क्या चीज़ है, उसका ज्ञान से विरुद्ध जिसका राग और द्वेष कषाय में जिसका घोंटन है,... कषाय तो विकार है, उसमें जिसका घोंटन है, वह स्वरूप से वक्रता है और वक्रता के फल में.... सबेरे कहा था, मनुष्य ऐसे खड़े-ऊँचे हैं। गाय, भैंस, घोड़ा, गिलहरी, नेवला, चूहा ऐसे आड़े हैं, वे आड़े क्यों हुए? प्रभु कहते हैं, गोम्मटसार में लेख है, यह आड़ा शरीर क्यों हुआ? कि पूर्व में राग और द्वेष की कषाय की वक्रता बहुत की, इसलिए आत्मा तो आड़ा और उल्टा पड़ा परन्तु (आड़े) शरीर उसके उल्टे फल में आया, आड़ा शरीर मिला। यह मनुष्य ऐसे खड़े

हैं, वे आड़े हैं। गिलहरी, नेवला, चूहा, हाथी, घोड़ा... आहा...हा...! प्रभु कठिन बात है जरा, दुनिया को तो जानते हैं न बापू! क्या नहीं जानते? यहाँ तो ९१ वर्ष हुए हैं। दुनिया को ७० वर्ष से तो भलीभाँति जानते हैं। व्यापार-धन्धे में पाँच वर्ष थे, तब से सब जानते हैं। आहा...! अरे रे! दुनिया को निवृत्ति नहीं मिलती कि सत्य क्या है? असत्य क्या है? मैं मानता हूँ, वह सत्य है या नहीं मानूँ, वह सत्य है? क्या है? इसका कोई निर्णय नहीं होता।

यहाँ कहते हैं, जिसे भेदज्ञान हुआ है। आहा...हा...! **जो त्रिलोक की चूलिका ( कलगी ) के समान निर्मल विवेक....** भाषा देखो! आहा...! ये दया, दान और व्रत-भक्ति के विकल्प राग हैं, इनसे जिसने भिन्न करके आत्मा का ज्ञान किया है। जिसने विवेक का दीपक प्रगट किया है। आहा...हा...! 'धर्म विवेक से निपजै जो करिये तो होय' ऐसी भाषा तो बहुत बोलते हैं परन्तु विवेक अर्थात् क्या इसका पता नहीं होता।

वह यहाँ कहते हैं। **त्रिलोक की चूलिका ( कलगी ) के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिका के प्रकाशवाला होने से यथास्थित पदार्थ निश्चय से....** यह तो कल कहा था। पाठ में-गाथा में पद और अर्थ दो सूत्र हैं। सूत्र और अर्थ दो हैं। सूत्र के पद और पदार्थ-दो हैं। टीका में अकेला पदार्थ लिया है। समझ में आया इसमें? पाठ में है न? '**जधत्थपदणिच्छिदो**' पद और पदार्थ। पद अर्थात् शास्त्र के वाक्य क्या हैं—उसका ज्ञान यथार्थ चाहिए और उसने कहा जो आत्मा, जड़, चैतन्य, पुण्य-पाप क्या है, उस पदार्थ का निश्चय चाहिए। आगम के शब्दों का निश्चय चाहिए (और वाच्य का निश्चय चाहिए)। (तुम) कल नहीं थे? थे? कल दोपहर में आया था। पाठ में दो शब्द हैं परन्तु टीकाकार ने एक कर दिया है। जैसे (समयसार की) पन्द्रहवीं गाथा में '**जो पस्सदि अप्पाणं**' द्रव्यश्रुत न लेकर सीधे (भाव लिया), वरना द्रव्यश्रुत '**अपदेससंतमज्झं**' में आ गया। वे एक दिल्लीवाले विद्वान थे, वे इनकार करते हैं कि इसमें द्रव्यसूत्र की बात कहाँ है? तीन ही बोल हैं, इसमें पाँच बोल की बात कहाँ है? ऐसी बड़ी चर्चा आयी थी। (एक विद्वान थे), वे गुजर गये। बहुत वर्ष (पहले की) बात है १४ के साल की बात है। १४ के साल में 'लाठी' में थे वहाँ आया था। अरे... भगवान! आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं, भगवान के श्रीमुख से जो वाणी निकली, परमात्मा

त्रिलोकनाथ तीर्थंकर तो बिराजते हैं, महाविदेह में परमात्मा मौजूद हैं, पाँच सौ धनुष की देह है, करोड़ पूर्व की आयुष्य है, एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाये, इतना एक पूर्व, ऐसे एक करोड़ पूर्व की आयुष्य प्रभु की है। महाविदेह में अभी मनुष्यरूप से बिराजमान हैं। यह उनकी वाणी है। वहाँ पूर्व में संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे और वहाँ से आकर ये शास्त्र रचे हैं। भगवान का ऐसा कथन है। आहा...हा...!

यहाँ यह कहा कि, विवेक कैसा है? कि **त्रिलोक की चूलिका ( कलगी ) के समान...** यह मुकुट होता है न? उसमें चूलिका लगाते हैं न? इसी प्रकार **त्रिलोक की चूलिका ( कलगी ) के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिका....** आहा...हा...! चाहे तो दया, दान, व्रत का विकल्प हो परन्तु वह राग है, उस राग से भगवान अन्दर भिन्न है। नव तत्त्व है न? नव तत्त्व में रागतत्त्व भिन्न है, ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। आहा...हा...! ऐसे **निर्मल विवेकरूपी दीपिका के प्रकाशवाला होने से यथास्थित पदार्थ निश्चय से....** इतना लिया, वहाँ पद नहीं लिया, पदार्थ लिया है। **यथास्थित पदार्थ निश्चय से....** ऐसा इतना लिया। पाठ में पद और अर्थ दोनों हैं परन्तु पद है, वे शब्द हैं; इसीलिए उन्हें नहीं लिया। इसमें आ जाता है। पदार्थ का निश्चय करने पर जो आगम के शब्द हैं, उनका भी निर्णय साथ आ जाता है। इसलिए **यथास्थित पदार्थ निश्चय से उत्सुकता का निवर्तन करके....** यह क्या कहते हैं? यह क्या होगा और कैसे होगा? ऐसी जो उत्सुकता, वह सम्यग्दृष्टि जीव, उस उत्सुकता को निवर्तमान करता है। यथार्थ चीज़ है, उसका अन्तर अनुभव में निर्णय करता है। आहा...हा...! समझ में आया? समझ में आया, अर्थात्? किस पद्धति से कहा जाता है इतना। समझ जाये तब तो निहाल हो जाये, परन्तु किस पद्धति से कहा जाता है? अर्थात् समझ में आता है का अर्थ।

वीतराग तीन लोक का नाथ सर्वज्ञ जिनेश्वर की वाणी ऐसा कहती है कि विवेकरूपी दीपिका के प्रकाश से यथास्थित पदार्थ जिसने निश्चय किया है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञानमय-शुद्ध ज्ञानमय है-ऐसा निर्णय किया है। दया, दान के परिणाम पुण्य मलिन है और राग है-ऐसा निर्णय किया है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग के पाप के परिणाम मैल है, पाप है-ऐसा निर्णय किया है। आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन यह तो मिट्टी-धूल है। यह वाणी जड़ है, यह शरीर जड़, मिट्टी-

धूल है—ऐसा जिसने निर्णय किया है कि ये तो जड़ हैं-मिट्टी हैं; ये कोई आत्मा नहीं और आत्मा इनका शरीर का कुछ कर सके (-ऐसा) तीन काल में नहीं। यह हिलना-चलना, यह सब क्रिया है, वह जड़ की जड़ से होती है परन्तु जिसने ऐसा माना कि मुझसे होता है, (उसने) जड़ और आत्मा दोनों को एक माना। ऐसा जिसका निर्णय छूट गया है और यथार्थ निश्चय द्वारा **उत्सुकता का निवर्तन करके...** आहा...! सूक्ष्म बात, प्रभु! क्या कहें? जिसे सम्यग्ज्ञान में यथार्थ निर्णय हुआ है, उसे यह कैसे होगा? ऐसी उत्सुकता जिसे निवर्त हो गयी है। अब उसे समझने का कुछ बाकी नहीं रहता।

**स्वरूपमंथर रहने से....** आहा...हा...! क्या कहते हैं? स्वरूप जो शुद्ध चैतन्यभगवान पूर्णानन्द प्रभु, उसे राग से भिन्न करके जिसने पदार्थ का अनुभव किया है, वह स्वरूपमंथर / लीन है, वह अन्तर में लीन है। स्वरूपमंथर है न? स्वरूप में जम गया है। आहा...हा...! इसका नाम चारित्र है। चारित्र! सूक्ष्म बात है, भगवान! यह स्वरूप शुद्धचैतन्य ज्ञानघन आत्मा है, इसका निर्णय करके, फिर इसमें जम गया है। स्वरूप में जम गया है, रम गया है, स्थिर हो गया है, इसका नाम चारित्र है। आहा...! कोई नग्नपना और वस्त्र का त्याग और कोई पंच महाव्रत के परिणाम कोई चारित्र नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसी बातें अब, बेचारे को कान में पड़े नहीं, (तो) निर्णय कब करे? भाई! जिन्दगी चली जाती है।

**स्वरूपमंथर रहने से सतत 'उपशांतात्मा'....** मोक्षतत्त्व का वर्णन है न? मोक्षतत्त्व। स्वरूप जो अन्दर मुक्तस्वरूप है। शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप के राग से भिन्न है—ऐसा अन्तरभान करके अन्दर स्थिर हुआ है, जम गया है, वह उपशान्त है, स्थिर हो गया है, अन्दर में जम गया है। आहा...हा...! जैसे बर्फ जम जाती है। बर्फ की शिला होती है न, पचास-पचास मण की? तुम्हारे मुम्बई में बहुत होती है। पचास-पचास मण की शिला, ट्रक निकलते हैं। नजर से देखे हैं न! उसी प्रकार यह भगवान आत्मा अन्दर उपशमरस की शिला है प्रभु! उपशान्तरस की अन्दर शिला है। जम गया, शीतल... शीतल... शीतल... शीतल... शीतल... शान्त... शीतल अर्थात् यह (पुद्गल की) अवस्था नहीं। यह तो उपशान्तरस का शीतल। आहा! उसमें मन्थर रहने से **सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ,...** स्वयं वर्तता हुआ-ऐसा कहा। कर्म घटा, इसलिए वर्तता है-ऐसा नहीं। समझ में आया? कर्म का अभाव

होता है, इसलिए यहाँ स्वरूप में वर्तता है—ऐसा नहीं। क्यों?

भगवान आत्मा में एक अभाव नाम का गुण है, जिस अभावगुण के कारण राग के अभावस्वरूप परिणमे, ऐसा इसका गुण है। पर का अभाव हो तो यहाँ भाव होता है-ऐसा नहीं। क्या कहा? समझ में आया? सूक्ष्म बात है, प्रभु! जैसे आत्मा में एक ज्ञानगुण है, एक दर्शनगुण है, आनन्दगुण है; वैसे एक अभाव नाम का गुण है। अनादि-अनन्त परमात्मा त्रिलोकनाथ ने कहा है। यह अभाव, कर्म का अभाव हुआ, इसलिए यहाँ अभाव होता है-ऐसा नहीं। अपने में अभाव नाम का गुण है, इसलिए पर के अभावस्वरूप परिणमता है। समझ में आया? आहा...हा...! वह पढ़ा है? भाई! सहजानन्द का, अविरोध निर्णय, पढ़ा है? यहाँ पुस्तक नहीं? अविरोध निर्णय। इसमें भी हो और इसमें भी हो, ऐसे बीस बोल लिखे हैं। पढ़ा नहीं। नहीं है, दो पुस्तक हैं। इसमें भी हो और इसमें भी हो। राग से भी हो और वीतरागपने से भी हो। आहा...!

यहाँ तो एक ही बात-इस राग के कारण तो नहीं परन्तु राग का अभाव हो, उसके कारण से नहीं। इसमें अपना स्वभाव ही राग के अभावरूप परिणमित होना-ऐसा इसका स्वभाव है। समझ में आया? आहा...हा...! भगवान आत्मा परमेश्वरस्वरूप ही इसका है, भाई! यदि परमेश्वरस्वरूप न हो तो परमेश्वरपना कहाँ से आयेगा? कहीं बाहर लटकता है? बाहर से कुछ आता है? आहा! यह अन्दर परमात्मस्वरूप (बिराजमान है)। बापू! बहुत कठिन बात है। वीतरागमार्ग को समझना, यह कोई अलौकिक बात है। जिसके जन्म-मरण का अन्त आनेवाला हो, उसे यह बात समझ में आये और जँचे ऐसा है। बाकी तो व्यर्थ भटक मरेगा, चार गति में चौरासी के अवतार में भटक मरेगा। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ,....** भाई! कर्म का अभाव हुआ है, इसलिए वर्तता हुआ—(ऐसा) नहीं। यह अपना ही स्वभाव है। आहा...हा...! पर के अभाव-स्वभावरूप उपशान्तरूप वर्तना, यही इसका स्वभाव है। समझ में आया? आहा...हा...! **स्वरूप में एक में ही....** अब यहाँ वजन है। **स्वरूप में एक में ही अभिमुखरूप से....** देखो, यह आया। पर्याय के भेद हैं, उनमें भी नहीं। जो मति, श्रुत, अवधि आदि पर्याय के भेद हैं, उनमें वर्तता हुआ-ऐसा भी नहीं क्योंकि पर्याय के भेद हैं, वह अशुद्धनय का विषय है। पर्याय स्वयं अशुद्धनय का विषय!

आहा...हा... ! सैंतालीस नय, प्रवचनसार, ४६ और ४७ नय है न अन्तिम ? उसमें यह बोल है। यहाँ तो सब पढ़ा गया है न ! बहुत वर्ष हुए। यहाँ तो ४५ वाँ वर्ष चलता है। यहाँ ४५ वर्ष में आये हैं और ४५ वर्ष हुए, (कुल) ९० हुए, ९१ वाँ चलता है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं, एक बार तू सुन न प्रभु ! अन्तर में जब अन्तर का अनुभव करके जम जाता है, तब वह उपशान्तरूप से स्वयं वर्तता है। कर्म का अभाव हुआ, इसलिए वर्तता है-ऐसा नहीं। आहा...हा... ! क्या कहना है, समझ में आया ? पर की अपेक्षा नहीं-ऐसा कहना है। आहा...हा... ! कर्म का नाश होता है, अभाव होता है, इसलिए वर्तता है-ऐसी अपेक्षा इसमें नहीं है। आहा...हा... ! स्वयं ही उपशान्त आत्मारूप से वर्तता हुआ **स्वरूप में एक में ही अभिमुखरूप से....** यह क्या कहते हैं ? ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप एकरूप वस्तु जो नित्यानन्द प्रभु है, उस स्वरूप में-एक में ही अभिमुख है। राग में नहीं, भेद में भी नहीं। आहा...हा... ! अब ऐसी बातें ! वह तो कहे-सामायिक करो, प्रौषध करो, णमो अरिहंताणं, तिक्वुत्तो... छह पद बोले तो सामायिक हो गयी। इच्छामि पडिक्कमा... तस्ससूतरि... धूल भी नहीं। सामायिक नहीं, वहाँ मिथ्यात्व है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि **स्वरूप में एक में ही अभिमुखरूप से....** भेद निकाल दिया। राग में तो नहीं, परन्तु पर्याय का भेद है, उस पर भी लक्ष्य नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह पढ़ते हुए कहीं प्रतिदिन एक ही प्रकार आये-ऐसा कुछ नहीं। आहा... ! **स्वरूप में एक में ही....** यह एकान्त कहा। ज्ञायकस्वरूप, परमात्मस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन-ऐसा जो स्वरूप त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु है, उसमें-एक में, नित्य में, एक में ही वर्तता हुआ। अभिमुख-उसके सन्मुख वर्तता हुआ; राग और निमित्त से तो ठीक, परन्तु पर्याय से भी विमुख और स्वभाव से सन्मुख। धीरे से समझ में आये ऐसा है, बापू ! यह तो तीन लोक के नाथ की बात है। जिसे गणधर और इन्द्र सुनने आते हैं। महाविदेह में अभी प्रभु बिराजते हैं। आहा...हा... ! एकावतारी—एक भवतारी—मोक्ष जानेवाले इन्द्र जिसे सुनने आवें, बापू ! वह बातें कैसी होंगी ! यह दया पालो और व्रत करो (ऐसी होगी) ? अब यह तो कुम्हार भी कहता है। समझ में आया ?

**मुमुक्षु :** वहाँ भी सुनने की वस्तु तो यही है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वहाँ मार्ग यही है, यहाँ कहते हैं, वह यह है। आहा...हा...! समझ में आया?

स्वरूप में, **स्वरूप में एक में ही....** स्वरूप जो ज्ञायक चिदानन्द नित्यानन्द प्रभु, उसके-ध्रुव के ध्यान में एकाकार होकर, उस स्वरूप में एकाकार होकर वर्तता है, सन्मुख (वर्तता है), है न? भाषा है-**एक में ही....** कथंचित् स्वरूप में एक में और कथंचित् भेद में तथा राग में-ऐसा नहीं। व्यवहार से भी होता है और निश्चय से भी होता है-ऐसा नहीं। आहा...हा...! सूक्ष्म बातें, परन्तु क्या हो? **स्वरूप में एक में ही....** स्व-रूप में। स्वरूप ऐसा जो ज्ञायक चैतन्य आनन्द का नाथ प्रभु, **एक में ही अभिमुखरूप से...** (अर्थात्) उसके सन्मुख हुआ है। वस्तु का त्रिकाली स्वभाव है, उसके सन्मुख होकर एकाकार है। आहा...हा...! ऐसा **विचरता (क्रीड़ा करता) होने से...** एक में रमता होने से। है न? **अभिमुखरूप से विचरता (क्रीड़ा करता) होने से....** आहा...हा...! **'अयथाचार रहित'....** अब व्याख्या समझायी। विपरीत-अयथाचार है, उससे रहित है। यथाचार से सहित है, अयथाचार से रहित है। ज्ञान कराया। आहा...हा...! सूक्ष्म है, भाई! वीतरागमार्ग, बापू! तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र, इन्द्र जिनके तलिया चाटे, इन्द्र सुनने जाये तो वहाँ पिल्ले की तरह सुनने बैठे। इन्द्र, पहले देवलोक का इन्द्र, एकावतारी है। सौधर्म इन्द्र है अभी, वह एकावतारी है। वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है। उसकी इन्द्राणी है, वह भी मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाली है। सौधर्म देवलोक है, बत्तीस विमान है। वह वहाँ सुनने आवे, एकावतारी, मति-श्रुत-अवधिज्ञानी, समकिती (सुनने आवे), वह वाणी कैसी होगी! बापू! आहा...हा...! वह यहाँ कहते हैं।

**'अयथाचार रहित' वर्तता हुआ नित्य ज्ञानी हो,....** क्या कहा? नित्य ज्ञानी हो (अर्थात्) त्रिकाली ज्ञान पर उसकी दृष्टि कायम पड़ी है। किसी समय ज्ञानी और किसी समय अज्ञानी, किसी समय पर्यायबुद्धि और किसी समय (द्रव्यदृष्टि) - ऐसा नहीं।

**मुमुक्षु :** बारम्बार भेदज्ञान करना पड़ता नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कहाँ कहा? यहाँ तो नित्य ज्ञानी हो, बस! नित्य ज्ञानी होता ही है। उसे अब राग से भिन्न करना नहीं पड़ता। यह तो उस समय क्या भाषा (आवे)। आहा...हा...!

**नित्य ज्ञानी हो,...** शाश्वत् नित्य ज्ञानी। ध्रुव त्रिकाली परमात्मा पर जिसकी अन्तर्दृष्टि पड़ी है, वह त्रिकाली नित्य ज्ञानी ही है। आहा...हा...! शास्त्र का ज्ञान भले कम ज्यादा हो। वह तो सबेरे आ गया, ग्यारह अंग पढ़ा हो, उसके सम्बन्ध नहीं। आहा...हा...! तिर्यंच है, पशु है, वे असंख्य समकिती हैं। ढाई द्वीप के बाहर पशु हैं। सिंह-बाघ, मगरमच्छ, हजार योजन के बड़े लम्बे मच्छ, आत्मज्ञानी तिर्यंच हैं, भगवान के शास्त्र में (कहा) है। ठाणा में भी आता है, ढाई द्वीप के बाहर असंख्यात तिर्यंच समकिती, अनुभवी आत्मा के आनन्द के अनुभवी-पाँचवें गुणस्थानवाले असंख्य पड़े हैं। आहा...हा...! तिर्यंच हो (तो) वह तो शरीर है। आत्मा तिर्यंच नहीं और आत्मा के भेद की पर्याय भी वह नहीं। आहा...हा...!

**नित्य ज्ञानी हो, वास्तव में उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले...** उसे साधुपना कहा। जिसे आत्मज्ञान में स्थिरता जम गयी है और ध्रुवता में रम रहा है, उसे सम्पूर्ण साधुपना कहा गया है। आहा...हा...! वस्त्र छोड़कर नग्न हो गया है; इसलिए साधु है; स्त्री, पुत्र, परिवार, धन्धा छोड़ा, इसलिए साधु है - ऐसा नहीं है। ऐसा द्रव्यलिंग तो अनन्त बार धारण किया है। आहा...हा...! अन्तर में पूर्ण श्रामण्य प्रगट हो गया है। आहा...हा...! **वास्तव में उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को...** साक्षात् श्रमण है, इसलिए द्रव्यनिक्षेप से नहीं, भावनिक्षेप से साक्षात् श्रमण है। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसी बातें हैं, बापू! नूतन वर्ष की वीतराग की बौनी तो यह है, भाई! आहा...!

**मुमुक्षु :** बारहवाँ गुणस्थान....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह नहीं, नहीं। यहाँ तो मोक्षमार्ग साधता है, उसे मोक्षतत्त्व कहा है।

**मुमुक्षु :** साधनतत्त्व....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह साधनतत्त्व बाद में कहेंगे परन्तु यहाँ तो यह साधनतत्त्व हुआ है उसे, उसमें वर्तता है, उसे मोक्षतत्त्व कहा है। आहा...हा...! दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान मुक्तस्वरूप ही है, त्रिकाल निरावरण है, अखण्ड एक स्वरूप प्रभु अन्दर है। अरे रे! कैसे जँचे? कभी सुना नहीं। पामर होकर घूमता है। एक पाँच-पच्चीस लाख पैसा मिले, वहाँ ऐसा हो जाता है कि ओहो...हो...! हमने तो मानो क्या किया और क्या हुए! भाई! करोड़ों और अरबों रुपये, धूल अनन्त बार मिली है।

**मुमुक्षु :** .....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अभी था। वह भी धूल है, क्या है? आहा...हा...! भाई की बात नहीं की थी? गोवा में (एक मुमुक्षु) है न? दो अरब चालीस करोड़ रुपये हैं। अभी हैं, वह स्वयं अभी मर गया। ये भाई बैठे हैं इनका साला। इनका साला। दो अरब चालीस करोड़! लींबड़ी वाला, मूल तो पणनाला के हैं। पणनाला है, वहाँ के हैं और ये कहाँ के हैं? पाणसणा, नहीं? पाणसणा के हैं न, पाणसणा देखा है, पाणसणा गये हैं। दो अरब चालीस करोड़! मरकर हाय... हाय...! स्त्री को यह हुआ... हेमरेज! मुम्बई आया, डेढ़ वर्ष, पौने दो वर्ष (पहले की) बात है। तीन-चार दिन (बाद) वह एकदम उठा (और कहा) मुझे दु:खता है। स्त्री को हेमरेज (हुआ था इसलिए) असाध्य थी। दु:खता है, बुलाओ डॉक्टर को! डॉक्टर जहाँ आवे वहाँ.... जाओ... भटकने... आहा...!

**मुमुक्षु :** डॉक्टर थोड़ा देरी से...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो डॉक्टर को कहते हैं। डॉक्टर आवे तो उसे शॉल डालते -ऐसा कहते हैं। यह डॉक्टर है न?

**मुमुक्षु :** इन्होंने तो सैकड़ों को बचा लिया है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** किसी को धूल को भी बचाया नहीं। ये चारों डॉक्टर रहे। चार डॉक्टर राजकोट के, बड़े डॉक्टर हैं। आहा...हा...! डॉक्टर भी मर जाते हैं या नहीं? यहाँ भावनगर में एक डॉक्टर नहीं था? बड़ा डॉक्टर, सर्जन, बड़ा हॉस्पीटल है, यहाँ आया था, दो-तीन बार आया था। यहाँ तो बड़े-बड़े सब सुनने तो आ गये। वह किसी का ऑपरेशन करता था, उसमें (कहा), अरे! मुझे कुछ होता है। कुर्सी पर बैठा, वहाँ देह छूट गयी। आहा...हा...! क्या करे? भाई! देह की स्थिति जिस क्षण में, जिस क्षेत्र में पड़नी है, वह पड़ेगी ही। उसमें एक समय का फेरफार तीन काल में नहीं होता। इन्द्र उतरे तो भी वह पर्याय को एक समय की बढ़ा सके (-ऐसा) तीन काल-तीन लोक में नहीं है। जिस समय में भगवान ने देखा है कि इस समय, इस क्षेत्र में देह छूटेगी, वह छूटेगी। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** ....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो इसकी अन्दर योग्यता की बात है। यह तो (दूसरे

एक मुमुक्षु को) नहीं हुआ था ? ये तो अपने वढ़वाणवाले छह भाई, एक-एक के पास एक करोड़ (ऐसे) छह करोड़ हैं। (इनके पिताजी) यहाँ रहते हैं न ? तुम्हारे समधी हैं न, खबर है। यहाँ रहते हैं। यहाँ मकान है, आते हैं, प्रेम है। छहों लड़कों को प्रेम है। एक-एक लड़के को एक-एक करोड़ रुपये, छह करोड़ हैं। (उनका एक लड़का) बीमार पड़ा था। इतना बीमार पड़ा था, ऐसा बीमार पड़ा कि मौके पर उसमें मुम्बई। (कहा) महाराज के दर्शन करना है। मैं गया। महाराज! ऐसा सपना आता है कि काट डालते हैं, छेद डालते हैं, ऐसा होता है। बुरे सपने बहुत आते हैं। सहज ही जहाँ यह हुआ वहाँ सुल्टा हो गया। यह तो पुण्य के उदय के कारण, इसके कारण नहीं।

**मुमुक्षु :** निमित्त तो कोई हो न ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह निमित्त कहलाये परन्तु वहाँ कोई निमित्त से होता है ? बिल्कुल नहीं। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं, भाई !

**नित्य ज्ञानी हो, वास्तव में उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना,....** लो ! साधु है, उसे मोक्षतत्त्व जानना। अरे... भाई ! साधु किसे कहते हैं ? भाई ! अभी तो हिन्दुस्तान में साधुपना नजर में पड़ना मुश्किल है। उसे अभी समकिती किसे कहना, इसका पता नहीं। आहा...हा... ! ऐसा जो अन्दर आत्मज्ञानी और आत्म-अनुभवी तथा स्वरूप में लीन-मंथर हो गया... आहा...हा... ! जैसे ब्राह्मण चार चूरमा के लड्डू उड़ावे और जैसे लठ्ठ (होकर) चले; वैसे अन्दर में लस-पस चले। लीन, लीन, लीनता, आहा...हा... ! बाहर निकलना जिसे आलस लगे। आया था न अपने वहाँ ? आहा...हा... ! वह मार्ग यह है। इसका पहले ज्ञान तो करना पड़ेगा न ? आहा...हा... !

**सम्पूर्ण श्रामण्यवाले....** वह साधु जो हो उसे बाह्य वस्त्र-पात्र नहीं होते। वस्त्र-पात्र हो, वह साधु ही नहीं, वह तो द्रव्यलिंग भी नहीं। वस्त्र-पात्र (सहित) साधु माने, वह तो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। उसे जैन की श्रद्धा की खबर नहीं। समझ में आया ? तीन लोक के नाथ परमात्मा का यह महाविदेह में पुकार है कि वस्त्र का टुकड़ा रखकर भी साधुपना माने, मनावे (तो) निगोद में जायेगा। है ? सूत्रपाहुड़ की १८ वीं गाथा। सूत्रपाहुड़ में है। छोटा दोष नहीं। वह अपने कहते हैं न ? ककड़ी का चोर.. भाषा हमारे (गुजराती में) 'चिभड़ा नो चोर।' 'चिभड़ा ना चोर ने फाँसी।'

ककड़ी का चोर नहीं। मूल में चोर है। डाका डालता है अन्दर, आत्मा का विरोध है। आहा...हा...! जिसे अन्दर नव तत्त्व की भूल है, जिसे जड़ की खबर नहीं कि कितना मुनि(पना) हो और संयोग कितना हो, वियोग कितना हो, उसे राग कितने प्रकार का हो, उसे वीतरागदशा कैसी हो? एक भी तत्त्व की खबर नहीं, इसलिए वह नव तत्त्व का विरोधी है। आहा...हा...! 'निगोदं गच्छई' ऐसा पाठ है। यह काई, प्याज, लहसुन में जानेवाला है। निश्चिंत (रहेगा) अनन्त काल में फिर मनुष्यपना नहीं मिलेगा, बापू! यह तो वीतरागमार्ग है, वहाँ पक्ष और सिफारिश काम आवे ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? कठिन बातें कहना और फिर (पूछना) समझ में आया?!

यहाँ तो हमारे तो (संवत्) १९७४ के साल से यह चलता है। ६१ वर्ष से। ७० में दीक्षा और ७४ से तो हजारों लोगों में व्याख्यान देते हैं। सम्प्रदाय में 'बोटाद' में तो उपाश्रय में लोग समाते नहीं, ७६ की साल, ७७ के साल, ८० के साल। 'बोटाद', बहुत लोग, उपाश्रय में समाते नहीं, (इसलिए) गली में भरते, इतने लोग। ७७ के साल, ७९ के साल, यह तो सम्प्रदाय में थे तब। परन्तु मार्ग दूसरा, बापू! आहा...हा...! यहाँ तो श्रमण साधु को साक्षात् **मोक्षतत्त्व जानना...** बारहवाँ या तेरहवाँ - ऐसा यहाँ नहीं लिया। सम्पूर्ण साधुपना अन्दर लीन हुआ है। आहा...हा...! मुनि को बाह्य में तो नग्नदशा ही होती है; तीन काल-तीन लोक में दूसरी दशा नहीं होती। समझ में आया? ऐसा तीन लोक के नाथ का हुकम है। सीमन्धर भगवान यह कहते हैं कि साक्षात् **मोक्षतत्त्व जानना,...** आहा...हा...! **क्योंकि....** मोक्षतत्त्व क्यों कहा? कि **पहले के सकल कर्मों के फल उसने लीलामात्र से नष्ट कर दिये हैं....** अब क्या कहते हैं? ऐसा कि बहुत परीषह सहन किया, इसलिए कर्म (नष्ट हुए) - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! आनन्द में रमते-रमते कर्म का क्षय हो गया, कहते हैं। लीला करते हुए, है न? **कर्मों के फल उसने लीलामात्र से....** खेलमात्र से नाश किया है। अतीन्द्रिय आनन्द में रमते... रमते... रमते... कर्म नाश हो गये हैं। उसे दुःख सहन करना पड़ता है और परीषह (सहन करना पड़ते हैं), यह है नहीं। आहा...हा...! दुःख सहन करना पड़े तो (वह) तो आर्तध्यान और राग है, विकार है। आहा...हा...!

कहते हैं कि उसे मोक्षतत्त्व क्यों कहना? कि जिसने लीला... आनन्द में

रमते-रमते, जिसे कर्म का नाश हो गया है। **पहले के सकल कर्मों के फल....** क्रीड़ामात्र से **नष्ट कर दिये हैं....** आहा...हा...! 'निजपद रमे सो राम कहिये' सर्वज्ञ का वचन है कि निजपद जो आत्मा का नाथ प्रभु, स्वयं उसमें-आनन्द में रमे, अतीन्द्रिय आनन्द में रमे, उसे आत्मा कहते हैं। आहा...हा..! राग में रमे, उसे हराम कहते हैं। आहा...हा...! अरे रे! अब ऐसी बातें! बापू! मार्ग तो यह है, भाई! भले लोगों ने चाहे जिस प्रकार उल्टे चढ़ा दिया, परन्तु मार्ग तो यह है। 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ' एक बात कही।

पूर्व के कर्म तो आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द में रमते, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेते... आहा...हा...! साधुपना अर्थात् प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद। अतीन्द्रिय आनन्द का समुद्र भगवान सागर है आत्मा, उसकी पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद (की) बाढ़ आयी है। जैसे समुद्र के किनारे पानी का ज्वार आवे; वैसे सन्त की दशा में अतीन्द्रिय आनन्द का पर्याय में ज्वार आता है। अब पर्याय क्या और ज्वार क्या? समझे नहीं कुछ बेचारे। उनकी वर्तमान पर्याय जो दशा है, वह किनारा है, वह अतीन्द्रिय आनन्द का सागर अन्दर उछला, (तो) पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द आता है। इसलिए उसे हम मोक्षतत्त्व कहते हैं - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! एक बात।

**वह नूतन कर्मफलों को उत्पन्न नहीं करता....** पुराने कर्म को लीलामात्र से नाश किया है और नये कर्म बाँधता नहीं। आहा...हा...! है? **नूतन कर्मफलों को उत्पन्न नहीं करता इसलिए पुनः प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त न होता हुआ...** आहा...हा...! शरीर धारण करना वह तो दीनता, भिखारीपन है, कलंक है। यह मिट्टी, माँस, हड्डियों के चमड़े में अवतार लेना...! आहा...हा...! सड़े हुए गधे के चमड़े में मैसूर को लपेटना; इसी प्रकार यह प्रभु अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ (है)। उसे यह भव है, वह तो दीनता का भव है। आहा...हा...! वह दीनता नहीं पाता हुआ। आहा..हा...! कर्मफल में अब उसे दीनता नहीं रही। कर्मफल तो नाश किया है। आहा...हा...! ऐसा किस प्रकार का उपदेश यह! यह वीतराग का-जैन का उपदेश होगा? बापू! वीतराग का मार्ग यह है, भाई! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव अनन्त तीर्थंकरों का यह कथन है। दुनिया ने न सुना हो और दूसरे रास्ते चढ़ गये हों, इससे कहीं सत्य आ जाये? आहा...हा...!

**दीनता को प्राप्त न होता हुआ....** अब क्या कहते हैं ? **द्वितीय भावरूप परावर्तन के अभाव के कारण....** द्वितीय अर्थात् शुद्ध के अतिरिक्त दूसरा भाव अब है नहीं। शुद्ध की लीनता में रमते हुए अब शुभ और अशुभभाव है नहीं। आहा...हा... ! उसमें आया था ? दूसरे भाव में परावर्तन। भावान्तर में परावर्तन। जो शुभ से भावान्तर-अन्य भाव, पुण्य-पाप में अनादि से मिथ्यादृष्टि भटकता है। भले जैन का साधु हुआ हो, दिगम्बर मुनि हुआ हो, हजारों रानियाँ छोड़ी हों परन्तु उस राग को धर्म माने और पुण्य को धर्म माने, शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ—ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ चार गति में नरक और निगोद में भटकेगा। आहा...हा... ! शुभाशुभभाव के परावर्तन को अनन्त बार पायेगा - ऐसा आया था।

यहाँ कहते हैं **द्वितीय भावरूप परावर्तन के अभाव के कारण...** आहा...हा... ! **शुद्धस्वभाव में अवस्थित वृत्तिवाला रहता है।** (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट दिया है)। (अवस्थित अर्थात्) स्थिर। आहा...हा... ! आनन्द में जम गया है। ***इस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले जीव को अन्यभावरूप परावर्तन ( पलटन ) नहीं होता,....*** इसे शुभभाव नहीं होता। ***वह सदा एक ही भावरूप रहता है....*** आहा...हा... ! अतीन्द्रिय आनन्द के-शुद्ध के परिणमन में ही रहता है। ***शुद्ध स्वभाव में स्थिर परिणतिरूप से रहता है;....***

वह शुद्ध उपयोग, भाई ! आया जरा। संवर अधिकार में भी... संवर अधिकार, है न ? वहाँ टीका में लिया है। शुद्ध उपयोग परन्तु अब उसे चौथे गुणस्थान को उड़ाना है कि नहीं। यह जरा... टीका है न ? संवर अधिकार में टीका है। पहले गाथा हो जाय फिर टीका है, टीका। शुद्ध उपयोग है। यहाँ है न ? लाओ। यह संवर है लो ! टीका है। पहले एक कलश है, तीन गाथा का, फिर कलश है, कलश के बाद भावार्थ है, फिर वापस टीका है ***इस प्रकार यह भेदविज्ञान जब ज्ञान को अणुमात्र भी ( रागादि विकाररूप ) विपरीतता नहीं प्राप्त कराता हुआ अविचलरूप से रहता है, तब शुद्ध-उपयोगात्मकपने द्वारा ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ....*** वहाँ शुद्ध उपयोग (शब्द) प्रयोग किया है। यहाँ उस शुद्धोपयोग को आगे मुनि को लिया। बाकी तो सम्यग्दर्शन होने पर वह शुद्ध उपयोग में ही होता है। यहाँ तो ऊँची दशा ली है। अन्दर ***शुद्ध-उपयोगात्मकपने द्वारा ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ....*** अकेला ज्ञान। ज्ञातादृष्टारूप परिणमता

हुआ। आहा...हा... ! उसे संवर कहा जाता है। यहाँ हाथ जोड़कर (कहे)... कराओ। धूल में भी नहीं। मिथ्यात्व है, वहाँ आस्रव का त्याग कहाँ से आया ?

यहाँ कहते हैं **द्वितीय भावरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित वृत्तिवाला रहता है।** स्थिर है। इसलिए वह जीव, मोक्षतत्त्व है। उस जीव को मोक्षतत्त्व कहा गया है। भले अभी मोक्ष हुआ नहीं, परन्तु मोक्ष के सन्मुख हो गया है; इसलिए उस ऐसे आत्मा को मोक्षतत्त्व कहने में आता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

## प्रतिकूलता में भी सन्तों को दु:ख नहीं

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दु:ख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्श स्वभावी है, वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अत: उसे संयोगों का दु:ख नहीं है।

**धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगटी है, उसमें परम आनन्द की लहरें बढ़ गई हैं।**

भगवान वन में अकेले रहते थे, इसलिए दु:खी थे — ऐसा नहीं है। वे तो अन्तर के चैतन्यवन में आत्मा के आनन्द की मस्ती में रहते थे। वास्तव में भगवान वन में रहे ही नहीं, वे तो शरीर में भी नहीं रहते थे, पञ्च—महाव्रत के शुभराग में भी नहीं रहते थे; वे तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे।

सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके भगवान ने दीक्षा ली। इसके पश्चात् आत्मध्यान में लीन होते ही उन्हें मन:पर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है।

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, राजकोट : वीर सं. २४७६, फाल्गुन शुक्ल दशमी, दीक्षाकल्याणक दिवस*

## गाथा - २७३

**अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमुद्घाटयति-**

**सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।**
**विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा।।२७३।।**

**सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहिस्थमध्यस्थम्।**
**विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टाः।।२७३।।**

**अनेकान्तकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्त्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्त-बहिरङ्गान्तरङ्गतिपरित्यागविविक्तान्तश्चकचकायमानानन्तशक्तिचैतन्यभास्वरात्मतत्त्वस्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्तकल्पान्तस्तत्त्ववृत्तितया विषयेषु मनागप्यासंसक्तिमनासादयन्तः समस्तानुभाववन्तो भगवन्तः शुद्धा एवासंसारघटितविकटकर्मकवाटविघटनपटीयसाध्यवसायेन प्रकटीक्रियमाणावदाना मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमवबुध्यताम्।।२७३।।**

---

अथ मोक्षकारणमाख्याति-**सम्मं विदिदपदत्था** संशयविपर्ययानध्यवसायरहितानन्त-ज्ञानादिस्वभावनिजपरमात्मपदार्थप्रभृतिसमस्तवस्तुविचारचतुरचित्तचातुर्यप्रकाशमानसातिशयपरम-विवेकज्योतिषा सम्यग्विदितपदार्थाः। पुनरपि किंरूपाः। **विसयेषु णावसत्ता** पञ्चेन्द्रिय-विषयाधीनरहितत्वेन निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधिसंजातपरमानन्दैकलक्षणसुखसुधारसास्वा-दानुभवबलेन विषयेषु मनागप्यनासक्ताः। किं कृत्वा। पूर्वं स्वस्वरूपपरिग्रहं स्वीकारं कृत्वा, **चत्ता** त्यक्त्वा। कम्। **उवहिं** उपधिं परिग्रहम्। किंविशिष्टम्। **बहित्थमज्झत्थं** बहिस्थंक्षेत्रवास्त्वाद्यनेकविधं मध्यस्थं मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्नम्। **जे** एवंगुणविशिष्टाः ये महात्मानः **ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा** ते शुद्धाः शुद्धोपयोगिनः इति निर्दिष्टाः कथिताः। अनेन व्याख्यानेन किमुक्तं भवति-इत्थंभूताः परमयोगिन एवाभेदेन मोक्षमार्ग इत्यवबोद्धव्यम्।।२७३।।

---

अब, मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व प्रगट करते हैं:—

**अन्तर्बाह्य ऊपधिरहित, सम्यक् जाने पदार्थ को।**
**नहीं विषयों में आसक्त है, कहा शूद्ध उस ही श्रमण को॥२७३॥**

**अन्वयार्थ - [ सम्यग्विदितपदार्थाः ]** सम्यक् (यथार्थतया) पदार्थों को

जानते हुए [ **ये** ] जो [ **बहिस्थमध्यस्थम्** ] बहिरंग तथा अन्तरंग [ **उपधिं** ] परिग्रह को [ **त्यक्त्वा** ] छोड़कर [ **विषयेषु न अवसक्ताः** ] विषयों में आसक्त नहीं हैं, [ **ते** ] वे [ **शुद्धाः इति निर्दिष्टाः** ] 'शुद्ध' कहे गये हैं।

**टीका** - अनेकान्त के द्वारा ज्ञात सकल ज्ञातृतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व के यथास्थित स्वरूप में जो प्रवीण हैं, अन्तरंग में चकचकित होते हुए अनन्त शक्तिवाले चैतन्य से भास्वर (तेजस्वी) आत्मतत्त्व के स्वरूप को जिनने समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग संगति के परित्याग से विविरक्त (भिन्न) किया है, और (इसलिए) अन्तःतत्त्व की वृत्ति (आत्मा की परिणति) स्वरूप गुप्त तथा सुषुप्त (जैसे कि सो गया हो) समान (-प्रशान्त) रहने से जो विषयों में किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होते—ऐसे जो सकल-महिमावान् भगवन्त 'शुद्ध' (शुद्धोपयोगी) हैं उन्हें ही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व जानना। (अर्थात् वे शुद्धोपयोगी ही मोक्षमार्गरूप हैं), क्योंकि वे अनादि संसार से रचित—बन्द रहे हुए विकट कर्मकपाट को तोड़ने-खोलने के अति उग्र प्रयत्न से पराक्रम प्रगट कर रहे हैं ॥२७३॥

---

**प्रवचन नं. २५२, गाथा-२७३**

**आसोज कृष्ण १५, शनिवार, २० अक्टूबर १९७९**

---

प्रवचनसार, २७३ गाथा। **अब, मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व...** देखा? दोनों (जगह) 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग किया है। मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व। मोक्ष स्वभाव है, उसका साधन स्वभाव। तत्त्वार्थसूत्र में आता है न? 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।' उसकी व्याख्या क्या की है टीका में, देखी है? अर्थ अर्थात् द्रव्य-गुण और पर्याय तथा तत्त्व अर्थात् उसका भाव। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। अर्थ अर्थात् द्रव्य-गुण और पर्याय और तत्त्व अर्थात् उसका स्वभाव—द्रव्य का स्वभाव, गुण का स्वभाव, पर्याय का स्वभाव—यह तत्त्वार्थश्रद्धानं। वह यहाँ कहते हैं।

**अन्तर्बाह्य ऊपधिरहित, सम्यक् जाने पदार्थ को।**
**नहीं विषयों में आसक्त है, कहा शूद्ध उस ही श्रमण को॥२७३॥**

यह 'शुद्ध' शब्द से शुद्ध उपयोग है। टीका - **अनेकान्त के द्वारा ज्ञात सकल ज्ञातृतत्त्व...** पूरा ज्ञायकतत्त्व भगवान स्व से है, पर से नहीं; द्रव्यरूप से है,

पर्यायरूप से नहीं; पर्यायरूप से है, द्रव्यरूप से नहीं—ऐसे सकल ज्ञातृतत्त्व—पूरा ज्ञायकतत्त्व, ज्ञायक का जो भाव-स्वभाव, उसका **यथास्थित स्वरूप... और ज्ञेयतत्त्व के यथास्थित स्वरूप...** दोनों लिये। ज्ञायकतत्त्व, उसका यथास्थित (अर्थात्) जिस प्रकार है, वैसे उसके स्वरूप का निश्चय और ज्ञेयतत्त्व, उसका भी यथास्थित (अर्थात्) जिस प्रकार से है, उस प्रकार से। **स्वरूप में जो प्रवीण हैं,...** भाषा देखो!

जो द्रव्यस्वभाव ज्ञायकतत्त्व और ज्ञेयस्वभाव पर, दोनों का यथास्थित जिसे ज्ञान है, उसे यहाँ पण्डित कहा है। आहा...हा...! **स्वरूप में जो प्रवीण हैं,...** आहा...हा...! प्रत्येक द्रव्य की पर्याय प्रति समय निश्चय से होती है, ऐसा ज्ञातृतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व का स्वरूप है तथा ज्ञायकतत्त्व, वह जाननस्वभाव, अनादि-अनन्त स्वभाव का पिण्ड प्रभु है, उसका यथास्थित—जैसा है, वैसा अन्तर निश्चय होना और ज्ञेयतत्त्व का जैसा है, वैसा यथास्थित निश्चय होना, इसके **स्वरूप में जो प्रवीण हैं,...** आहा...हा...!

२७२ गाथा में आया था न? आगम और पदार्थ का—ऐसा आया था। आगम-पद, उसका भाव क्या है, वैसा यथार्थ निश्चय और आगम में कहे हुए पदार्थों का यथास्थित निश्चय, ऐसे दो आये थे—पद और पदार्थ। यहाँ एक ही लिया, क्योंकि टीका में एक लिया।

आगम-जिस प्रकार से सर्वज्ञ की वाणी है, परमात्मा त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि, 'ॐध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रची आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे' उस भगवान की दिव्यध्वनि में जो ॐ में आया, उसे गणधर—चार ज्ञान के धारी गणधर सन्त अथवा गण अर्थात् साधु के धारक, उसका अर्थ विचारे। सूत्र तो भगवान ने कहा, (उसका) अर्थ विचारे, उसका भाव विचारकर जो आगम की रचना करे, उस आगम में कहे हुए पदार्थ और आगम के भाव। आहा...हा...! यथास्थित जैसा है, वैसा निर्णय करे।

भगवान आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है। दया, दान के परिणाम, वह राग, विकार और पुण्यतत्त्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना पापतत्त्व है, दोनों होकर आस्रवतत्त्व है और उनमें अटकना, वह बन्धतत्त्व है। आहा...हा..! तथा राग से भिन्न पड़कर भेदज्ञान हुआ, वह संवरतत्त्व है और संवरतत्त्वपूर्वक अन्तर में एकाग्रता

होने से जो शुद्धि की वृद्धि होती है, वह निर्जरातत्त्व है। निर्जरा के तीन प्रकार हैं। एक—जड़कर्म की निर्जरा। एक—अशुद्ध की निर्जरा—यह अपने उपयोग की; और एक—शुद्धि की वृद्धि—इन तीनों को निर्जरा कहा जाता है। समझ में आया? इन्हें जिस प्रकार से है, उस प्रकार से इन्हें समझे। आहा...हा...! और मोक्षतत्त्व। सब आ गया न? मोक्ष, जो पूर्ण परमात्मदशा है, उसे भी जिस प्रकार है, उस प्रकार (जाने।) **जो जाणदि अरहंतं** आता है न? **दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहिं** अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वह आत्मा अपने आत्मा के साथ मिलान कर आत्मा को जानता है। आहा...हा...!

ऐसे यथास्थित **स्वरूप में जो प्रवीण हैं,...** एक बात। **अन्तरंग में चकचकित होते हुए....** आहा...हा...! चैतन्य का प्रकाश चकचकाट करता अन्दर में भरा है। आहा...हा...! वह जिसे दृष्टि में और जिसकी पर्याय में प्रगट हुआ है। **अन्तरंग में चकचकित अनन्त शक्तिवाले चैतन्य से भास्वर (तेजस्वी)...** आहा...हा...! जिसका ज्ञानचेतन प्रकाश अनन्त है। स्वभाव है, उसे अन्त नहीं होता। आहा...हा...! ऐसा जो अनन्त चैतन्य का स्वभाव, उसके प्रकाश में प्रवीण है।

**(तेजस्वी) आत्मतत्त्व के स्वरूप को...** आहा...हा...! जिसने ऐसा जो चैतन्यतत्त्व है, उसके—**आत्मतत्त्व के स्वरूप को जिनने....** पहले निर्णय, अनुभव तो हुआ। अब विशेष करते हैं। साधुपद लेना है न? शुद्धोपयोग लेना है न? ज्ञायकतत्त्व अनन्त ज्ञान के चकचकाहट प्रकाश से भरपूर भगवान, उसके पाण्डित्य में प्रवीण। शास्त्र में प्रवीण या यह बात यहाँ नहीं ली है। आहा...हा...! अन्दर जो वस्तु भगवान चैतन्य-चमत्कार प्रभु है, उसके पाण्डित्य में प्रवीण और **अन्तरंग में चकचकित होते हुए अनन्त शक्तिवाले.... आत्मतत्त्व के स्वरूप को जिनने...** अब, आगे बढ़ते हैं। **समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग संगति के परित्याग से...** अब मुनिपना कहते हैं। आहा...हा...! पहले वहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान कहा। आहा...!

**बहिरंग...** दस प्रकार का बहिरंग परिग्रह, चौदह प्रकार का अन्तरंग परिग्रह। है न चौबीस प्रकार? दस प्रकार का बाह्य परिग्रह। क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, सुवर्ण आदि और अन्तरंग में चौदह प्रकार का परिग्रह—मिथ्यात्व, अव्रत, रागादि, हास्य आदि। आहा...हा...! ये बहिरंग दस, अन्तरंग चौदह। ऐसे संगति अर्थात् परिग्रह के **परित्याग द्वारा...** आहा...हा...! उनका संग ही छोड़ा है अब, कहते हैं। असंग

भगवान आत्मा की रमणता में रमते हुए। आहा...हा...! इन चौबीस प्रकार के परिग्रह की संगति / सम्बन्ध ही छोड़ा है। आहा...हा...! मुनिपने का वर्णन करना है न? शुद्धोपयोग लेना है न! आहा...हा...!

**बहिरंग तथा अन्तरंग संगति के परित्याग से....** संगति अर्थात् सम्बन्ध। उसके संग के सम्बन्ध से त्याग द्वारा। अकेला त्याग नहीं, परित्याग द्वारा-समस्त प्रकार के पर के त्याग द्वारा, आहा...हा...! अन्तरंग में स्वरूप की पकड़ द्वारा-ऐसा कहते हैं। देखो! है इसमें? टीका में है? जयसेनाचार्य की टीका में (ऐसा है)। **'संशयविपर्यायानध्यवसायरहितानन्तज्ञानादिस्वभावनिजपरमात्म-पदार्थप्रभृति'** आदि **प्रभृति** अर्थात् आदि। **'समस्तवस्तुविचारचतुरचित्तचातुर्य'** आहा...हा...! समस्त पदार्थ में विचार में चतुर चित्त चातुर्य। तीन शब्द प्रयोग किये हैं। चित्त, चतुर, चातुर्य। आहा! प्रत्येक पदार्थ में चतुर है, कहते हैं। आहा...हा...! प्रत्येक-नवतत्त्व है, ज्ञायक आदि नौ पदार्थ, ज्ञायकतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व में जिसका चतुर चित्त है। उसकी जो वास्तविकता है, उसे पकड़ सकता है। आहा...हा...! संस्कृत में है। **'प्रकाशमानसातिशयपरमविवेकज्योतिषा सम्यग्विदित-पदार्थाः।'** वहाँ तक तो सम्यक् प्रकार से जाने हैं पदार्थ जिसने। आहा...हा...!

अब, **'विसयेषु णावसत्ता'** है न? **'पञ्चेन्द्रियविषयाधीनरहितत्वेन निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधिसंजातपरमानन्दैकलक्षणसुखसुधा-रसास्वादानुभवबलेन'** आहा...हा...! कहते हैं कि इस विषय के संग का त्याग किया है। किस प्रकार? अन्तर के सुखाभिमुख अमृत के स्वाद के बल द्वारा पर का त्याग हुआ है। आहा...हा...! जिसे दूधपाक का स्वाद आया, उसे सफेद ज्वार के छिलके की रोटियाँ, उसे त्याग ही है। सफेद ज्वार समझते हैं? सफेद ज्वार में मिठास कम होती है। उसके छिलके साधारण होते हैं। यह जिसे आत्मा के अतीनिद्रय आनन्द के स्वाद के बल से... आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के बल से, जिसे विषय का अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर का त्याग हो गया है। आहा...हा...! अस्ति से बात की है। **'निजात्मतत्त्वभावनारूप'** इस भावना शब्द से वे कहते हैं न? भावना अर्थात् भावना, ऐसा नहीं। निजात्म तत्त्व की भावना (अर्थात्) आनन्द की एकाग्रता, वह यहाँ भावना के अर्थ में है।

जयसेनाचार्य की टीका में श्रावक को सामायिक में 'शुद्धोपयोग की भावना'—

ऐसा शब्द है। उसका अर्थ कितने ही ऐसा करते हैं कि यह भावना अर्थात् शुद्धोपयोग की विचारणा करता है। (परन्तु) ऐसा नहीं है। टीका में है। सामायिक के काल में उसे शुद्धोपयोग आता है। यह भावना क्या कही? अरे रे! दुनिया कहाँ की कहाँ कल्पना करे? यहाँ क्या कहा? '**निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधि**' भावनारूप परम समाधि। आहा...हा...! बात यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना सामायिक माननी है और सामायिकवाले को शुद्धोपयोग होता है, यह उन्हें मानना नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही नहीं है, वहाँ शुद्धोपयोग कहाँ से होगा? आहा...हा...!

जिस सम्यग्दर्शन में आत्मपदार्थ, ज्ञान और ज्ञेय का जिसे यथार्थ भान हुआ है, अनुभव (हुआ है), वह जब सामायिक में बैठता है, तब स्वरूप में शुद्ध उपयोग हो जाता है। आहा...हा...! उसे यहाँ शुद्धोपयोग की भावना शब्द प्रयोग किया है। जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका है। उसका अर्थ कितने ही (ऐसा) करते हैं कि भावना वह तो मात्र, शुद्धोपयोग नहीं, उसकी भावना है। परन्तु भावना अर्थात् क्या? यह क्या कही भावना? '**निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधिसंजात।**'

**मुमुक्षु :** आतमभावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह यह। 'आतमभावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान' वह यह भावना। अन्तर आनन्द का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द का—जागृत स्वभाव का जिसे अनुभव हुआ है; अब उसका उपयोग जहाँ अन्दर जुड़ जाता है, भावना अर्थात् निजात्मतत्त्व में उपयोग जोड़कर **संजात** (अर्थात्) उससे उत्पन्न होता; भावना से उत्पन्न होता '**परमसमाधिसंजातपरमानन्द**' आहा...हा...! अन्तर में परमानन्द की दशा प्रगट होती है। श्रावक को, सच्चा श्रावक। यह कहाँ श्रावक है कोई? ये तो सब बाड़ा के सावज हैं। जिसे आत्मदर्शन है, जिसे देह की क्रिया का—एक भी परमाणु की पर्याय का मैं कर्ता नहीं; दया, दान के परिणाम का भी कर्तव्य मेरा नहीं; मैं तो ज्ञायकतत्त्व हूँ। राग का भाव आवे, उसका भी स्व में रहकर, उसे भिन्न रखकर (उसका) जाननेवाला हूँ... आहा...हा...! ऐसा जिसे अन्दर सम्यग्दर्शन हुआ है, वह जब सामायिक में बैठता है... सामायिक उसे (कहा जाता है।) अभी तो सामायिक आठ वर्ष की लड़की को दो-पाँच सामायिक जोड़ दी है। सामायिक हो गयी और फिर रुपये-दो रुपये सेठ इकट्ठे होकर दे। भाई! सर्वत्र ऐसा ही अभी तो बाड़ा में वर्तते हैं। आहा...हा...!

भाई! भावना का अर्थ क्या है? यहाँ अपने आया है, इसलिए कहा। भावना अर्थात् शुद्धभाव की, शुद्धोपयोग की भावना अर्थात् कल्पना करना—ऐसा नहीं। अन्दर शुद्धोपयोग का परिणमन है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात, भाई! आहा...हा...! शास्त्रों का अर्थ करने में भी उसके आगम के अर्थ से (समझे)। २७२ में आ गया है। आगम को कहना है, तदनुसार आगम के भाव को समझे और फिर आगम में कहे गये पदार्थ-वाच्य, वाचक को और वाच्य को, दोनों को जैसा है, वैसा समझे। आहा...हा...! समझ में आया? यहाँ अकेले पदार्थ की बात ली है, आगम उसमें आ गया। आहा...हा...!

जैसा भगवान का कहा हुआ ज्ञायकतत्त्व प्रभु; ये दया, दान और व्रत का विकल्प राग है, उससे भी प्रभु चैतन्य तो भिन्न है। ऐसे ज्ञायकतत्त्व का जिसे अनुभव हुआ है, वह जीव अपने निजात्मा की भावना से उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के बल से परिग्रह को और राग को छोड़ता है। छोड़ता है-यह भी कथन है। आहा...हा...! समझाना है न? वरना तो ३४ गाथा में ऐसा ही कहा है न? कि राग का त्याग भी नाममात्र है। समयसार! पर का त्याग-ग्रहण तो आत्मा में है ही नहीं, क्योंकि आत्मा त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति (स्वरूप) है। पर के त्याग और ग्रहण से तो शून्य है। कभी परमाणु गया नहीं—इसकी पर्याय में परद्रव्य कभी आया नहीं। आया नहीं, इसलिए छोड़ना नहीं। आहा...हा...! ग्रहण-त्याग नहीं।

एक ग्रहण-त्याग (गाथा) १८९ में राग का लिया है। प्रवचनसार, १८९ गाथा। राग का ग्रहण-त्याग है। वहाँ आगे इसकी पर्याय सिद्ध करना है न? ज्ञेय अधिकार है न? १८९, प्रवचनसार। ज्ञेय अधिकार है, इसलिए वहाँ आगे यह लिया है। २०० गाथा के पहले हैं। २०० गाथा तक ज्ञेय अधिकार है, इसलिए वहाँ ऐसा लिया कि राग-विकार के ग्रहण-त्याग से रहित है। विकार के ग्रहण-त्याग से रहित है। ग्रहण और त्याग करता था, उससे रहित है। है? १८९ में आ गया है। यह प्रवचनसार है न? १८९, देखो! १८९ गाथा।

**रागपरिणाम ही आत्मा का कर्म है,....** १८९। विकार परिणाम, वही आत्मा का कार्य है। **वही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है,...** ज्ञेय सिद्ध करना है न? टीका है, टीका। **आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है,...** पर से भिन्न ज्ञेय सिद्ध करना है न? और **उसी का ग्रहण करनेवाला**

**है और उसी का त्याग करनेवाला है....** है ? आया ? **उसी का ग्रहण करनेवाला है और उसी का त्याग करनेवाला है....** किसका ? विकार का। पर का नहीं। कर्म का ग्रहण और कर्म का त्याग। परद्रव्य का ग्रहण-त्याग, वह तो यहाँ वस्तु में है ही नहीं। मात्र ज्ञेयस्वरूप है। इसकी पर्याय में राग का ग्रहण होता है और राग का त्याग इतना व्यवहार अशुद्धनय है। यद्यपि यहाँ तो उसे शुद्धद्रव्य कहा है। है ?

**ग्रहण करनेवाला है और उसी का त्याग करनेवाला है - यह शुद्धद्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चयनय है।** आहा...हा...! क्यों कहा यह ? कि इसके द्रव्य की अपनी पर्याय है, उसे शुद्धद्रव्यरूप से कहा और पर के कारण होता है- ऐसा कहना, वह अशुद्धनय है। आहा...हा...! है ? **शुद्धद्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चयनय है।** विकार को जीव ग्रहण करे और विकार को छोड़े—यह निश्चयनय है। यह शुद्धद्रव्य की वस्तु है। ले! ज्ञेय सिद्ध करना है न ? पर से भिन्न, पर के साथ क्या सम्बन्ध है ? परद्रव्य का तो अन्तर अभाव है। अब इसके भाव में जो राग है, उसका ग्रहण-त्याग है, यह शुद्धद्रव्य के निरूपण का कथन है, निश्चयनय का यह कथन है।

**मुमुक्षु :** कभी आप ऐसा कहते हो, कभी वैसा कहते हो।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अभी क्या बात चलती है ? अभी द्रव्य, जो वस्तु है, उसमें राग का ग्रहण और त्याग, यह शुद्धद्रव्य का कथन है। इसमें पर की अपेक्षा नहीं है; इसलिए इसे शुद्धद्रव्य कहने में आया है। आहा...हा...! निश्चयनय से विकार का ग्रहण-त्याग है, यह शुद्धद्रव्य का कथन है। यहाँ ज्ञेय को ज्ञानप्रधान कथन में, उसकी दशा में होते विकार को ग्रहता है और उसे छोड़ता है—ऐसा ज्ञेय का सिद्धपना करना है। जबकि दृष्टिप्रधान कथन आवे, तब तो ज्ञायकभाव है, वह राग को ग्रहण करता नहीं और छोड़ता नहीं, वह तो ज्ञायक है (—ऐसा आता है)। सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है, बारीक है, अपूर्व है। आहा...हा...! इसलिए कहा न ?

**पुद्गलपरिणाम, आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है; आत्मा, पुद्गलपरिणाम का कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला है - ऐसा जो नय, वह अशुद्धद्रव्य के....** कथन है। अशुद्धनय का कथन है। निमित्त का ग्रहण-त्याग कहना, यह अशुद्धद्रव्य का कथन है और अपने

में ग्रहण-त्याग करना (कहना), वह शुद्धद्रव्य का कथन है। आहा...हा...! अरे...! भगवान की शैली तो देखो!

**मुमुक्षु :** दोपहर के व्याख्यान में आत्मा, राग का ग्रहण-त्याग करे, सबेरे में नहीं करे।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह हमारे एक (भाई) कहते थे। बुद्धि स्थूल, बेचारे साधारण। बहुत सादी बुद्धि। अभी लड़का करोड़पति हो गया है, परन्तु उस समय सब बहुत साधारण था। बिना वजह नुकसान हुआ था तो पैसा (दूसरे भाई ने) दिया था। सट्टा में गया था न? सोलह हजार दिये थे। तब उसमें—सट्टा में से निकले कि भई! तेरे कारण हम आये हैं और तेरा नाम निकल जाए। भाई ने सोलह हजार रुपये दिये थे। यह तो बहुत वर्ष पहले की बात है। अभी तो करोड़पति हो गया। अभी अकस्मात हुआ है। नहीं? अकस्मात हो गया। सुना है। कुछ लग गया है। रुपया-धूल वहाँ क्या करे? वे इसके पिता थे। वे आवे, हमारे सगे-सम्बन्धी थे न सब? आवे अवश्य। वहाँ पालेज में शामिल रहते। सुनने आवे। सबेरे महाराज कुछ कहे, दोपहर को कुछ कहे, हमारे निर्णय क्या करना? भाई!

सबेरे ऐसा कहे—समयसार पढ़े, तब ऐसा कहे कि आत्मा शुद्ध त्रिकाल आनन्द का नाथ है। जिसमें राग का ग्रहण, राग का त्याग वस्तु में है ही नहीं। यह तो द्रव्य की दृष्टि कराने को, दृष्टि का विषय ध्रुव है, उस ध्रुव की दृष्टि से राग की पर्याय का ग्रहण और छोड़ना उसमें है नहीं और वह फिर ३४ वीं गाथा में कहा कि राग का त्याग आत्मा करता है, स्वरूप में स्थिर होने से राग का त्याग करता है—यह नाममात्र कथन है। परमार्थ से राग के त्याग का कर्ता आत्मा नहीं। यहाँ कहते हैं—ग्रहण-त्याग करनेवाला आत्मा है।

**मुमुक्षु :** शुद्धनय का कथन है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** शुद्धनय का कथन है, निश्चयनय का कथन है। यहाँ स्वद्रव्य को निश्चय कहना है। उसकी पर्याय उसकी है, यह निश्चय कहना है। पर की पर्याय कहना, यह व्यवहारनय और अशुद्धनय है। आहा...हा...! (वे) भाई ऐसा कहते थे। बुद्धि बहुत स्थूल थी और उसकी बुद्धि भी समझने जैसी, परन्तु पुण्य के कारण पैसा हो। यह धूल ऐसी मिली है। पूर्व का पुण्य हो तो पैसा इकट्ठा

हो जाए, फिर लोग माने कि यह बुद्धिवाला हुआ। यह तो सब समझने जैसा है। यहाँ तो सब देखा है न! पूरी दुनिया (देखी है)। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि कर्म को छोड़े और ग्रहे, यह अशुद्ध द्रव्य का कथन है, व्यवहारनय है तथा राग को ग्रहे और छोड़े, यह शुद्धद्रव्य का निश्चयनय का कथन है। यहाँ बापू! यह ज्ञेय अधिकार है; और छह द्रव्य के ज्ञेय में आत्मा ज्ञेय है, वह पर से अत्यन्त भिन्न है—ऐसा बतलाकर, राग को ग्रहे और छोड़े-यह कहते हैं, परन्तु जब परमार्थ की दृष्टि से देखा जाए, तब राग का त्यागकर्ता भी नाममात्र है; परमार्थ से राग का कर्ता है ही नहीं। यह ज्ञानस्वरूप में स्थिर होता है, अन्दर में-आनन्द में स्थिर होता है; राग उत्पन्न नहीं होता, उसे नाममात्र कथन से राग का त्याग किया—ऐसा कहने में आता है। आहा...! गजब बात है, बापू! वीतरागमार्ग....

**मुमुक्षु :** वह परमार्थकथन और यह १८९ में....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह परमार्थ, स्वज्ञेय का परमार्थ कथन। वह द्रव्य का—ध्रुव का परमार्थ कथन (है)। आहा...हा...! कहो, भाई! ऐसी है प्रवीणता। क्षण में ऐसा और क्षण में ऐसा। बापू! आहा...हा...!

यहाँ लोक में भी नहीं कहा जाता? साला को साला भी कहा जाता है और उसे बहनोई भी कहा जाता है। दोनों को दी हो तो वह बहनोई कहलाता है और फिर उसकी बहिन ली हो तो साला कहलाता है। (ऐसा) है या नहीं? आहा...हा...! अभी (भाई को) ऐसा है। साला की बहिन है और इसकी स्वयं की साला को बहिन दी है, इसलिए बहनोई कहलाता है। आहा...हा...! किस अपेक्षा से?

यहाँ कहते हैं प्रभु! पदार्थ का जैसा वास्तविक स्वरूप है, उस प्रकार से उसका निर्णय होना चाहिए। आगम में जिस अपेक्षा से कहा है, उस अपेक्षा का इसे यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। एकान्त खींचा ही करे कि यहाँ राग का ग्रहण-त्याग कहा है और अन्यत्र राग का त्याग कहना, वह तो नाममात्र कहा है क्योंकि ज्ञायक, रागरूप हुआ नहीं। वहाँ ऐसा कहा है। ज्ञायकस्वरूप है, वह रागरूप नहीं हुआ; नहीं हुआ तो राग को छोड़े कैसे? आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात, बापू! बनियों को (यह) मिला परन्तु बनियों को निर्णय करने का समय नहीं मिलता। जिस बाड़ा में पड़े हैं, उस बाड़े की बात सुनकर बेचारे जिन्दगी व्यतीत करते हैं, हो गया! वीतराग सच्चा तत्त्व क्या कहते हैं? (उसका कुछ पता नहीं) आहा!

यहाँ इसका (-राग का) ग्रहण-त्याग कहा और (समयसार गाथा) ३४ में प्रत्याख्यान के अधिकार में ऐसा कहा कि जहाँ स्वरूप में स्थिर होता है, वहाँ राग की उत्पत्ति नहीं होती, उसे व्यय किया, नाश किया—ऐसा नाममात्र कथन है। आहा...हा...! दूसरी अपेक्षा से लें तो प्रवचनसार की १०१ गाथा में तो ऐसा कहा कि जो उत्पाद होता है, उसे व्यय की और ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। क्या कहा? आत्मा में राग की उत्पत्ति हो या सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो, उस उत्पत्ति को पर की अपेक्षा तो नहीं परन्तु व्यय की अपेक्षा नहीं, ध्रुव की अपेक्षा नहीं। स्वतन्त्र षट्कारकरूप से परिणमता है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं, भाई! बहुत सूक्ष्म।

**प्रश्न :** यह किस प्रकार बने?

**समाधान :** सत् है न? उत्पाद भी सत् है न? उस समय का सत् है न? सत् है, उसे हेतु नहीं हो सकता। उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीनों सत् हैं। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। यह सत्—द्रव्य सत्, गुण सत्, और पर्याय सत्, यह सत् का विस्तार है। पर्याय भी सत् है और है, उसका हेतु नहीं हो सकता। दरबार! सूक्ष्म बात, बापू!

**मुमुक्षु :** सत् का विस्तार है इसलिए.....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह विस्तार तो तीन होकर कहा, परन्तु उत्पाद सत् को ध्रुव की अपेक्षा है नहीं। यही बड़ी चर्चा चली थी न? (संवत्) २०१३ के साल, २२ वर्ष हुए। विकार, कर्म के कारण होता है; नहीं तो यदि विकार अपना हो जाये तो स्वभाव हो जायेगा। कहा, कर्म के कारक की विकार होने में अपेक्षा नहीं है। यह ६२ वीं गाथा देखो। पंचास्तिकाय की ६२ गाथा तब कही थी। २२ वर्ष पहले (संवत्) २०१३ के साल चर्चा हुई थी। सब पण्डित बैठे थे। आत्मा में विकार हो, वह विकार की पर्याय कर्ता, विकार की पर्याय कार्य, विकार की पर्याय साधन, विकार की पर्याय से विकार हुआ, विकार के आधार से विकार हुआ, विकार होकर विकार रहा। यह विकार की एक समय की पर्याय के षट्कारक का स्वतन्त्र परिणमन है; जिसे व्यय और ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। (ऐसा कहा) तो रुचा नहीं (क्योंकि) नयी बात लगी। ऐसा? तब तो विकार स्वभाव हो जायेगा। पर्याय का स्वभाव है। विरुद्ध पड़े। आहा...हा...! फिर तो कलकत्ता पत्र भी आया। ये लोग मूल में भूले हैं, मूल में भूले हैं ये लोग। कर्म के बिना विकार होता है? कर्म के बिना

विकार होता है ? कर्म से होता है—ऐसा निमित्त से कथन हो, परन्तु विकार उससे होता है-ऐसा नहीं है। जिसे परद्रव्य स्पर्श नहीं करता, परद्रव्य और स्वद्रव्य की पर्याय के बीच अत्यन्त अभाव है, उसके अभाव में अन्दर उसके कारण भाव होता है, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है। कहो, समझ में आया ?

**मुमुक्षु :** उस समय ऐसी सिंहगर्जना करते थे ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कहा था न, कहा था। वहाँ सब बैठे थे, और कहा था। (एक विद्वान बोले), मध्यस्थ व्यक्ति (थे)-स्वामीजी कहते हैं कि विकार होने में पर कारक की अपेक्षा निश्चय से नहीं है। दूसरे सब थे। अब तो (दूसरे एक विद्वान) भी कहते हैं कि सोनगढ़वाले निमित्त को नहीं मानते—ऐसा नहीं है, परन्तु निमित्त से होता है-ऐसा नहीं मानते। यह लेख आ गया है। अरे... प्रभु!

वास्तव में तो ऐसी बात है, प्रभु! सत्—उत्पाद भी सत्, व्यय भी सत्, ध्रुव भी सत्। पर के नाश की अपेक्षा में आत्मा की तो अपेक्षा नहीं, परन्तु अपने में राग का नाश हो, उसमें उत्पत्ति की अपेक्षा नहीं और राग उत्पन्न हो, उसे व्यय की अपेक्षा नहीं और राग उत्पन्न हो, उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं। ध्रुव तो शुद्ध है। पर्याय में विकार हो तो ध्रुव का आश्रय हो तो विकार नहीं हो। आहा...हा... ! सूक्ष्म बातें बहुत।

प्रवचनसार में दसवीं गाथा में वापस कहा है, हों! कि विकार का आश्रय द्रव्य है। (ऐसा) पाठ है। भाई! पाठ है। विकार का आश्रय द्रव्य है, इसका अर्थ यह कि वह पर्याय इसकी है, उसमें होता है, ऐसा। आहा...हा... ! है न इसमें ? गाथा है या नहीं ? देखो न! प्रवचनसार है न यह ? १० वीं गाथा, इसमें १६ पृष्ठ है। **क्योंकि वस्तुस्वरूप आश्रय बिना परिणाम किसके आधार से रहें ?** है (भावार्थ) में ? टीका में देखो तो **क्योंकि स्वाश्रयभूत वस्तु के अभाव में निराश्रय परिणाम को शून्यता का प्रसंग आता है।** टीका के (पहले पैराग्राफ की) अन्तिम (लाईन) स्व आश्रय बिना... है ? **स्वाश्रयभूत वस्तु के अभाव में ( अपने आश्रयरूप जो वस्तु है वह न हो तो ) निराश्रय परिणाम को शून्यता का प्रसंग आता है।** इसलिए विकार परिणाम का आश्रय द्रव्य है-ऐसा यहाँ कहना है। द्रव्य (आश्रय) है, इसका अर्थ कि उसकी पर्याय में होता है। यह तो बहुत बार पढ़ा गया है, बहुत बार कहा गया है। आहा...हा... !

जैसे, जिस प्रकार से जहाँ कहा, उस प्रकार से उसे समझना चाहिए। अपनी कल्पना से उल्टा-सीधा खींचकर मानना, वह वस्तु का स्वरूप नहीं है। सन्तों की पुकार यह है और यहाँ विकार के परिणाम की अपेक्षा है। विकार का परिणाम द्रव्य के आश्रय बिना नहीं होता, ऐसा यहाँ है। द्रव्य है तो पर्याय में विकार होता है, ऐसा। यहाँ कहते हैं कि उत्पाद को द्रव्य का आश्रय नहीं-आधार नहीं। आहा...हा...! तीसरे प्रकार से कहे कि जो राग होता है, वह आत्मा के स्वभाव में नहीं; वह तो कर्म का कार्य है। कर्म व्यापक और राग उसका व्याप्य है। स्वभावदृष्टि है, उसे स्वभाव का कार्य हुआ, वह स्वभाव का कार्य व्याप्य है, स्वभाव व्यापक है। ऐसा सब अब कहाँ याद रखना? यहाँ तो यह आया है न इसलिए जरा (लिया है)। बहुत गड़बड़ चलती है न!

(यहाँ कहते हैं) **समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग संगति के परित्याग....** यहाँ तो यह 'परित्याग' शब्द आया न? इस पर से (लिया)। एक ओर यहाँ तो कहते हैं कि अन्तरंग राग के परित्याग द्वारा; और एक ओर कहते हैं कि राग का त्याग कथनमात्र है। परन्तु इसे समझाना है तो क्या समझाये? समझ में आया? परित्याग (शब्द) प्रयोग किया है। एक ओर राग का त्याग नाममात्र है (-ऐसा कहा है) क्योंकि जहाँ ज्ञान में स्थिर हुआ, वहाँ ज्ञानस्वरूप में राग था ही कहाँ? इसलिए राग उत्पन्न नहीं हुआ; अतः राग का नाशकर्ता (नाममात्र है।) कर्ता तो नहीं, परन्तु नाशकर्ता भी आत्मा नहीं। ऐसी बातें हैं। कहो, भाई! अब इसमें कहाँ लोहे के कारण निवृत्ति (मिलती है)?

**मुमुक्षु :** लेनी पड़ती है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** लेनी पड़े? आहा...हा...! अरे... भाई! वीतरागमार्ग है। यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर का कहा हुआ है। यह कहीं कोई ऐरे-गैरे की बात नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि बहिरंग और अन्तरंग संगति... संगति अर्थात् सम्बन्ध, उसके **परित्याग से विविक्त (भिन्न) किया है,...** आत्मा को। आहा...हा...! पहले तो आत्मा यथार्थ जैसा ज्ञान आनन्दस्वरूप है, राग भिन्न है-ऐसा जाना / ज्ञान किया है। अब कहते हैं कि राग के त्याग से आत्मा को भिन्न किया है। पहले राग से भेदज्ञान किया था परन्तु राग था। अब राग के त्याग से-**परित्याग से विविक्त**

**( भिन्न ) किया है,...** आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसी बातें करना और समझ में आया ( पूछना ) ! आहा... ! अरे रे ! इसने वास्तविक तत्त्व परमेश्वर सर्वज्ञदेव कहते हैं, उस प्रकार कही जानने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसी की ऐसी जिन्दगी मजदूरी कर-करके ( व्यतीत की है )। मजदूरी... मजदूरी सब ( की है )। व्रत और अपवास, दया और दान के परिणाम सब मजदूर हैं, मजदूरी है, विकार है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि पहले विकार से भिन्न ( है )—ऐसा भेदज्ञान किया; पश्चात् विकार से-त्याग से विविक्त-आत्मा को भिन्न किया। आहा..हा... ! है ? **और ( इसलिए ) अन्तःतत्त्व की वृत्ति ( आत्मा की परिणति ) स्वरूपगुप्त....** आहा...हा... ! जिस स्वरूप को-आत्मा आनन्द, ज्ञानस्वरूप प्रभु को पुण्य-पाप के राग से तो भिन्न किया, जाना, उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् अस्थिरता का जो राग था, उसे त्याग करके, छोड़कर विविक्त आत्मा को भिन्न किया। इसका नाम चारित्र हुआ। यह अन्तरस्वरूप में वृत्ति स्थिर हुई। आहा...हा... !

इसमें ( लौकिक ) बहियों में कहीं आता नहीं। दो भाई पढ़ने बैठे, उसमें यह आता है ? वह छोटा वहाँ लाखों रुपये पैदा करता है हांगकांग ! लाख रुपये दिये थे न इसमें ? भावनगर, लाख इसमें दिये हैं। इस पंचम को मुहूर्त होता है न ? उसमें लाख दिये हैं। पैसा बहुत पैदा होता है, लाखों पैदा करता है परन्तु यह तो पुण्य की बातें हैं-धूल की बातें हैं।

**मुमुक्षु :** आवक तो चाहिए।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आवक की ( बात में ) जरा भी दम नहीं होता। ( यह भाई ) होशियार थे, इसलिए वहाँ वकालात चलती थी, इसमें कुछ दम नहीं होता।

**मुमुक्षु :** आता नहीं तो कुछ नहीं, परन्तु आपकी लकड़ी फिरे....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** लोग ऐसा मानते हैं। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं, जिसने आत्मस्वभाव भगवान आत्मा और विकल्प का-दया, दान के राग से जिसने भेदज्ञान किया, जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया और फिर अभी अस्थिरता का जो राग है, उसे छोड़कर स्थिरता ( की है )। विविक्त अर्थात् भिन्न किया है, राग से भिन्न करके स्वरूप में स्थिर हुआ है। आहा...हा... ! मोक्षसाधन कहना है न ? यह मोक्ष का साधन है। दया, दान, और व्रत यह साधन-फाधन नहीं। आहा...हा... !

**अन्तःतत्त्व की वृत्ति...** अन्तःतत्त्व जो ज्ञायकस्वरूप, उसकी वृत्ति अर्थात् परिणति, स्वरूपगुप्त हुई। जो राग में अस्थिरता थी, उसके त्याग से स्वरूप में स्थिर हुआ, **स्वरूपगुप्त तथा सुषुप्त ( जैसे कि सो गया हो ) समान....** आहा...हा...! (सुषुप्त अर्थात्) मानो परिणति सो गयी हो। जिसे अब बाहर निकलना नहीं। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द में स्थिर हो गया, इसका नाम चारित्र है। आहा...हा...! अन्तरवृत्ति को अन्दर स्थिर करके स्वरूपगुप्त हो गया। आहा...! **स्वरूपगुप्त तथा सुषुप्त ( जैसे कि सो गया हो ) समान....** मानों कि परिणति सो गयी हो अर्थात् राग में आवे नहीं। ऐसी वीतराग परिणति सन्तों को प्रगट होती है, वह मोक्ष का साधन है। आहा...हा...! वह मोक्ष का उपाय है, वह मोक्ष का कारण है। आहा...हा...! अब इसमें निवृत्ति कहाँ? धन्धे के पाप के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। वह साथ में था, तब फिर निवृत्त होते, अब दोनों अलग हुए, उस लड़के की मदद में रहना... अरे... अरे...! दुनिया कहीं न कहीं फँसती है। यह देह छोड़कर कहाँ जायेगा? और मैं तो अनन्त काल रहनेवाला हूँ तो अनन्त काल कहाँ रहूँगा? आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** व्यापार।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** व्यापार, व्यापार की जगह हो परन्तु इस स्थान में यह विचार इसे हो या नहीं? अरे! यह सब पाप है। मेरी चीज़ अन्दर से भिन्न है, इससे-राग से तो मैं परिभ्रमण करता हूँ।

**मुमुक्षु :** बड़ा सेठ है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सेठ है, हेठ है। कहा था न एक बार? 'चूड़ा' में (एक भाई) थे। वीसाश्रीमाली थे न? बहुत वृद्ध थे। एक बार उनके उपाश्रय में (कोई) आया। वह व्यक्ति कड़क था। आया तो कोई खड़ा नहीं होता। चूड़ावाले कितने माननेवाले कठोर थे। खड़े न हों तो कहे कि खड़े होओ। ए..ई! (इस) खम्बे के (पास) बैठते थे। व्याख्यान की चौकी है न? पहला खम्बा वहाँ बैठते। हम वहाँ बहुत बार जाते, इसलिए कहे-खड़े होओ, फिर यह कहे जेठी, बैठ न हेठी! कड़क व्यक्ति था। खड़ा करे तो कहे, बैठ न हेठ! चूड़ा के उपाश्रय में (हुआ था)। इसी प्रकार यह सब सेठ हैं, वे सब हेठ हैं। आहा...हा...! हेठे तलिये बैठे हैं। आहा...हा...! श्रेष्ठ तो आत्मज्ञान और आत्मा में स्थिरता हो, वह बड़ा सेठ है। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **सुषुप्त ( जैसे कि सो गया हो ) समान ( -प्रशान्त )**

**रहने से...** ऐसा। अर्थात् कारण देते हैं कि अन्त:तत्त्व जो आनन्द प्रभु, उसे राग से भिन्न करके तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान में जाना है, अब तदुपरान्त राग का त्याग होकर स्वरूप में अन्तरवृत्ति में स्थिर हुआ है, उसमें से निकलने में अब आलसी हो गया है। स्वरूप में स्थिर होने में से निकलने का आलसी हुआ। आहा...हा...! यह आता है, समयसार में आता है न? उस ब्राह्मण का दृष्टान्त। लड्डू खाये और चले तो ऐसा मानो अलमस्त! इसी तरह अज्ञानी राग में अलमस्त हो गया है। अलमस्त हो गया, उसमें से निकलना उसे रुचता नहीं। यहाँ स्वरूप में अलमस्त हो गया, उसमें से निकलना रुचता नहीं। आहा...हा...! अरे!

इसके कारण **जो विषयों में किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होते...** ऐसा कहना है। स्वरूप आनन्दस्वरूप प्रभु की जिसे सम्यग्दर्शन दशा हुई है, उसे अन्दर में स्थिर होने से राग का त्याग होकर स्थिर होता है; इसलिए उसके बल द्वारा (वे) विषय में आसक्ति को प्राप्त नहीं होते। चाहे तो इन्द्र की इन्द्राणी ऊपर से उतरे तो भी उन्हें आसक्ति नहीं होती। आहा...हा...! आहा...हा...! समझ में आया?

एक बार नाटक देखा था। (संवत्) १९६८ के साल की बात होगी। १९६६ के साल की (बात होगी)। भावनगर में ध्रुव का नाटक होता है। ध्रुव अन्यमत में आता है न? ध्रुव और प्रहलाद, बड़ा नाटक था। उसकी माँ मर गयी थी। उसके पिता ने नया विवाह किया। राजा था और यह राजकुमार था, अन्यमति की दीक्षा ली थी। पावड़ी होती है न पावड़ी काली? जंगल में बैठा था। सब पर्दे तोड़े हों, ऐसा जंगल लगता, गहरे जंगल में बैठा। उसमें इन्द्राणियाँ डिगाने को आती हैं। दोनों ओर से (आकर कहती हैं) देखो! हमारा शरीर, देखो यह पैर, देखो हमारा गाल, देखो यह शरीर-ऐसे बहुत ललचाती हैं। परन्तु उसने जवाब दिया। यह तो उसकी दृष्टि की अपेक्षा से (बात है)। उस दिन की बात है, यह तो (संवत्) १९६९ के साल की बात है, दीक्षा के पहले की बात है, नाटक देखने गये थे। (वह कहता है) माता! मुझे दूसरा अवतार लेना हो तो माता तेरे गर्भ में आऊँगा, बाकी दूसरी बात रहने थे। ध्रुव ऐसा कहता है। ऐसे इस ध्रुव का जिसे ध्यान हो गया है। आहा...हा...! वह ध्रुव का नाटक था। जननी! माता! तेरा शरीर सुन्दर, बहुत रूपवान, कदली के गर्भ जैसा शरीर। माता! एकाध अवतार-भव लेना पड़े तो तेरे गर्भ में आऊँगा, माता! दूसरी बात रहने दे।

इसी प्रकार यहाँ जिसे ध्रुव में लीनता जमी है, वह ध्रुव तो बाहर की बात है। आहा...हा...! यह इसे कोई ललचाने आवे, आहा...हा...! आवे कोई, ललचाने आता है। रामचन्द्रजी को और सीताजी ललचाने आये। रामचन्द्रजी! जो सीताजी को वैराग्य होकर दीक्षा लेकर छोड़ा है, (वे सीताजी) स्वर्ग में गयीं। (यहाँ रामचन्द्रजी) ध्यान में थे। सीता का रूप धरकर ललचाने आयी। हे रामचन्द्रजी! तुम आओ। हम साथ में रहेंगे, ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे। अर र! वे भी समकिती हैं, इन्द्र हैं। रामचन्द्रजी ध्यान में थे, चलित नहीं हुए, स्थिर होकर केवलज्ञान ले लिया। अन्दर स्थिर हो गये। रामचन्द्रजी महा पुरुषोत्तम पुरुष अपने ध्यान में थे और सीताजी का वेष धरकर डिगाने-विचलित करने आया। आहा...हा...! अपने यहाँ से साथ जायेंगे, स्वर्ग में जायेंगे, ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे, अमुक (करेंगे)। सुने कौन? आतमराम निजपद में रमते-रमते राम बाहर निकले नहीं, स्वरूप में स्थिर होते केवल (ज्ञान) लेकर मोक्ष पधारे। आहा...हा...!

यह यहाँ कहते हैं, **विषयों में किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होते—ऐसे जो सकल-महिमावान् भगवन्त...** आहा...हा...! वे शुद्ध उपयोगी। यह शुद्ध उपयोगी मुनि! जिन्हें राग का व्यापार नहीं, उसे शुद्ध आनन्द के नाथ का व्यापार अन्दर है—ऐसे शुद्ध उपयोगी। आहा...हा...! **सकल-महिमावान् भगवन्त 'शुद्ध' (शुद्धोपयोगी) हैं उन्हें ही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व जानना।...** लो! उसे मोक्षतत्त्व का उपाय / साधनतत्त्व जानना, दूसरा मोक्षतत्त्व का साधन है नहीं।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## मानो परमात्मा का ही वन-विहार

अहो! मोक्षमार्गी निर्ग्रन्थ मुनिराज, काया के प्रति उदासीन वर्तते हुए स्वरूप में लीन होकर आनन्द में झूलते हैं। **जैसे वन में वनराज सिंह विचरण करता है, वैसे मुनिराज विचरण करते है; मानो परमात्मा ही वन-विहार कर रहे हों —** ऐसे मुनि भगवन्त, भव का अन्त करके सिद्धदशा प्राप्त कर लें — इसमें क्या आश्चर्य है?

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ५, पृष्ठ ५५*

**प्रवचन नं. २५३, गाथा २७३**

**आसोज कृष्ण १५, रविवार, २१ अक्टूबर १९७९**

प्रवचनसार २७३ (गाथा)। यहाँ तक आया है, देखो! जो **विषयों में किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होते...** क्योंकि जहाँ आत्मा परमानन्दस्वरूप का अन्दर अतीन्द्रिय प्रचुर स्वाद आया... यहाँ मुनि की मुख्यता से (बात है न)? सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द प्रचुर नहीं है। मुनि को प्रचुर स्वसंवेदन है। (समयसार) पाँचवीं गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—मैं मेरे निज वैभव से कहूँगा। यह ज्ञानवैभव। दो आता है न? निर्जरा (अधिकार) में आता है न? ज्ञानवैभव और वैराग्य बल। श्लोक में आता है। ज्ञानवैभव, वैराग्य बल। निर्जरा अधिकार में कलश (आता है) ऐसा ज्ञानवैभव अन्तर में ज्ञानस्वरूप का आनन्द आया, वह ज्ञानवैभव है परन्तु सम्यग्दर्शन में उस आनन्द का वेदन अल्प है। मुनि को प्रचुर स्वसंवेदन है; इसलिए पाँचवीं गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य ने यह शब्द प्रयोग किया - प्रचुर स्वसंवेदन। (स्वयं) मुनि है न? इसलिए बहुत ही स्वसंवेदन-अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन है। आहा...हा...! यह उनका निज वैभव है। यह तुम्हारे पैसा-वैसा का वैभव और धूल नहीं। ये सब पैसेवाले बैठे हैं। धूल... धूलवाले!

**मुमुक्षु :** .....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के बिना अनादि काल से चलता है। वरना पर के अभावस्वरूप नहीं रह सकेगा। यह क्या कहा? एक अंगुली है, अपने भावस्वरूप है और इससे अभावस्वरूप है, तब वह टिक रही है। ऐसे जो स्वतत्त्व है, वह स्वभाव से है और पर अनन्त से नहीं, इस प्रकार ही वह टिक रहा है। पर के कारण टिक रहा है-ऐसा नहीं है। आहा...हा...! सिद्धान्त तो देखो! स्ववस्तु चैतन्यस्वरूप परमानन्दस्वरूप स्व से है और पर से नहीं। पर से नहीं, तब उसका स्व से अस्तित्व टिक रहा है। आहा...हा...! इसलिए पर के बिना नहीं चलता—ऐसा कहना, यह एकदम विपरीत है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि जिसे **सकल-महिमावान् भगवन्त 'शुद्ध' (शुद्धोपयोगी)....** देखा? आहा...हा...! मुनिपने की बात है न मूल? मोक्ष का साधन-सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र यह साधन। इसीलिए कहते हैं कि **सकल-महिमावान् भगवन्त 'शुद्ध' (शुद्धोपयोगी)...** शुद्ध की व्याख्या शुद्ध उपयोगी की है। आहा...हा...! शुद्ध उपयोग सम्यग्दर्शन होने पर भी होता है। पंचम गुणस्थान की दशा प्रगट होने पर भी होता है परन्तु मुनिपने की दशा सप्तम गुणस्थान का शुद्ध उपयोग वह उत्कृष्ट है; निचले (गुणस्थान की) अपेक्षा से। वैसे तो चारित्र की अपेक्षा से वास्तविक पूरा शुद्ध उपयोग तो बारहवें में होता है। आत्म-चारित्र की अपेक्षा से चौदहवें के अन्तिम समय में पूर्ण चारित्र होता है। आहा...हा...!

यहाँ तो मुनिपने की बात है। (जो) **विषयों में किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होते...** क्यों? ऊपर आ गया है। **स्वरूपगुप्त तथा सुषुप्त (जैसे कि सो गया हो) समान (-प्रशान्त) रहने से....** ऊपर यह कारण आ गया है। आनन्दस्वरूप भगवान में गुप्त हैं और सुगुप्त हैं, वहाँ से निकलने को आलसी हैं। आहा..हा...! मुनिपने की उत्कृष्ट बात है। चैतन्यस्वरूप, वह अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसका जहाँ अनुभव हुआ, तब उसे अतीन्द्रिय आनन्द का अंश आया। वह तो आया, परन्तु अनन्त गुण का-व्यक्त का अंश प्रगट हुआ। सम्यग्दर्शन में, सम्यक् अर्थात् सत्य दर्शन के अनुभव में जितने गुणों की संख्या से द्रव्य है, उन अनन्त गुणों की संख्या शक्तिरूप से है, इसकी पर्याय में अनन्त गुणों का एक अंश व्यक्तरूप प्रगट होता है, तब उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। आहा...हा...! 'सर्व गुणांश ते समकित'। श्रीमद् का वाक्य है। 'सर्व गुणांश ते समकित'। श्रीमद् का वाक्य है। अपने रहस्यपूर्ण चिट्ठी का यह वाक्य है कि 'ज्ञानादि एकदेश व्यक्त।' रहस्यपूर्ण चिट्ठी है न? परन्तु यह तो वह का वही हुआ। सर्व गुणांश ते समकित कहो या ज्ञानादि अनन्त गुणों का एक अंश व्यक्तरूप है, वह समकित है (ऐसा कहो दोनों एकार्थ हैं)। आहा...हा...!

यहाँ तो उससे आगे बढ़कर स्वरूप में इतने अधिक लीन हैं, स्वरूपगुप्त हैं। आहा...हा...! यह तो स्वयं टीकाकार ने पीछे कहा है न? कि हम तो स्वरूपगुप्त हैं, यह टीका हमने नहीं की। अन्तिम श्लोक है, अन्तिम। स्व-शक्ति से, परमाणु की स्व-शक्ति से टीका हो गयी है। मैं तो स्वरूपगुप्त हूँ; मैं कहीं राग में नहीं आता तथा

उसके प्रति जो विकल्प उठा, उसमें मैं नहीं आता। आहा...हा...! ज्ञानानन्दस्वरूप में... यहाँ यह आया न? यहाँ कहा न? स्वरूपगुप्त... यह अन्तिम शब्द अन्तिम कलश में है। प्रत्येक में है—समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, प्रत्येक में है। है न अन्तिम? अन्तिम कलश है न? है? नहीं इसमें? इसमें नहीं। दूसरे में लिखा है। स्व-शक्ति से किया है, ऐसा कहा है। स्व-शक्ति से यह हुआ है, मैंने कुछ (किया नहीं है)। मैं तो स्वरूपगुप्त हूँ।

**मुमुक्षु :** यह समयसार में है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** समयसार में। नियमसार में भी है न? नहीं, अन्त में? पंचास्तिकाय में है।

यहाँ तो वह 'स्वरूपगुप्त' शब्द आया है न? राग से रहित स्वरूप में मैं तो ज्ञानानन्द में गुप्त हूँ। आहा...हा...! देखो! यह मुनिपना! यह मोक्ष का साधन, मोक्ष का कारण और उपाय। **स्वरूपगुप्त तथा सुषुप्त ( जैसे कि सो गया हो ) समान ( -प्रशान्त ) रहने से....** आनन्द में इतना लीन हूँ। भले लिखते हुए विकल्प है। समझ में आया? परन्तु फिर भी मेरा उपयोग अन्दर, -शुद्ध उपयोग में जाने में तत्परता है। विकल्प आया, तथापि मैं शुद्ध उपयोग में जाने को तत्पर हूँ। उत्सर्गमार्ग में जाने को (तत्पर हूँ)। विकल्प आया है, वह तो अपवाद आया है। है न उत्सर्ग और अपवाद? प्रवचनसार। आहा...हा...! विकल्प आया, वह तो अपवाद है परन्तु मेरा उत्सर्ग तो शुद्ध उपयोग में अन्दर रहना, वह मेरी चीज़ है। आहा! उसे यहाँ **सुषुप्त ( जैसे कि सो गया हो ) समान ( -प्रशान्त ) रहने से....** आहा...हा...! मानो सो गया हो। अतीन्द्रिय आनन्द में पोड़ गया हो! आहा...हा...! चद्दर तानकर सोवे, वैसे इस अतीन्द्रिय आनन्द की चद्दर तानकर अन्दर सोता है!! आहा...हा...! देखो! यह मोक्ष का साधन! यह मोक्ष का उपाय! आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** ....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सो गया है न? परन्तु किसमें? आनन्द में। अतीन्द्रिय आनन्द में लीन हो गया हूँ। वह सुषुप्त है। आहा...हा...!

ऐसा जो विषयों में भी आसक्ति नहीं पाता। क्यों? कि अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में जहाँ लीन है, वहाँ विषय की आसक्ति नहीं होती - ऐसी अस्ति-नास्ति

की है। **ऐसे जो सकल-महिमावान् भगवन्त 'शुद्ध' (शुद्धोपयोगी)...** आहा...हा...! देखो! ऐसे जो भगवन्त सन्त शुद्धोपयोगी, **उन्हें ही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व जानना।** उन्हें ही मोक्षतत्त्व का उपायतत्त्व उन्हें जानना। आहा...हा...! अकेले सम्यग्दृष्टि को नहीं। तीनों शामिल होकर चारित्र हुआ है-दर्शन, ज्ञान, चारित्र और जिसमें अन्दर लीनता वर्तती है—ऐसा शुद्धोपयोगी, उसे मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व जानना।

**(अर्थात् वे शुद्धोपयोगी ही मोक्षमार्गरूप हैं),....** कहो, अब ऐसी तो यहाँ व्याख्या है! अब अभी तो ऐसा कहते हैं कि अभी तो शुभयोग ही होता है। ऐसा कहे, प्रभु! क्या करे? (एक मुनि) है न? वह ऐसा कहता है, समाचार-पत्र में लिखा है कि अभी तो शुभयोग ही होता है। समाचार-पत्र में आया है। अरे...! प्रभु! तू यह क्या करता है? यहाँ तो कहते हैं कि शुद्ध उपयोगी, वह मोक्ष का साधन है।

**मुमुक्षु :** कहते हैं कि कपड़ेवाले को नहीं होता।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कपड़ेवाले को नहीं होता। शुद्ध उपयोग नहीं होता, यह तो बराबर है। कपड़े छोड़ दिये, इसलिए हो गया - ऐसा नहीं है।

**मुमुक्षु :** नग्न को हो जाये।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** नग्न हो जाये, वह अन्दर में नग्न हो जाये, यह बाहर का नग्न तो अनन्त बार हुआ। यह तो नहीं चला? सबेरे बहुत चला था। नौवें ग्रैवेयक गया तो नग्न मुनि (होकर) हजारों रानियाँ त्यागीं, पंच महाव्रत (पालन किये), चमड़ा उतारकर नमक छिड़के तो भी क्रोध न करे—ऐसी तो क्षमा (पालन की) परन्तु यह सब कृत्रिम है। सम्यग्दर्शन नहीं। आत्मज्ञान के बिना ये सभी क्रियायें संसार खाते है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई!

यहाँ कहते हैं कि मोक्षतत्त्व का साधन जानना। **(अर्थात् वे शुद्धोपयोगी ही मोक्षमार्गरूप हैं),....** है? **उन्हें ही...** ऐसा शब्द पड़ा है। चौथे, पाँचवें को नहीं - ऐसा कहते हैं। मुनि जो शुद्ध उपयोगी हैं... आहा...हा...! **उन्हें ही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व जानना।** आहा...हा...! **(अर्थात् वे शुद्धोपयोगी ही मोक्षमार्गरूप हैं), क्योंकि वे अनादि संसार से रचित....** आहा...हा...! अनादि संसार से रचित कर्मबन्धन। ऐसे **बन्द रहे हुए विकट कर्मकपाट को तोड़ने-**

**खोलने के अति उग्र प्रयत्न से....** आहा...हा...! कर्म के कपाट का द्वार जिन ने खोल डाला है और आत्मा का कपाट जिन ने खोल डाला है, अन्दर से खिल गये हैं। आहा...!

शुद्धस्वभाव का उपयोग, वही मोक्ष का साधन है क्योंकि अनादि कर्म से बन्धन है, उसे उन्होंने **बन्द रहे हुए विकट कर्मकपाट....** भाषा है? कठिन कर्म का कपाट है। उसे **तोड़ने-खोलने के अति उग्र प्रयत्न से**... निमित्त से कथन है। बाकी तो अशुद्धता का नाश करने पर वह कपाट निमित्त है, असद्भूत व्यवहारनय से खुल जाता है, वह कहीं कर्म को तोड़ने का, परद्रव्य को तोड़ने का प्रयत्न आत्मा में अधिकार नहीं परन्तु यहाँ अशुद्धता का नाश हो जाता है, वह भावकर्म टूट जाता है, तब उस द्रव्यकर्म में टूटने-छूटने की उसकी योग्यता से वह छूट जाता है। उसे स्वयं ने तोड़ डाला-ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! समझ में आया? कर्म जड़ है, वह तो परपदार्थ है। परपदार्थ को बाँधे, वह आत्मा नहीं, उसे छोड़े यह अधिकार (आत्मा का) नहीं परन्तु शुद्ध उपयोग की रचना में रमा, तब अशुद्ध उपयोग टूट गया; इसलिए वहाँ जड़कर्म भी उसके कारण टूट गया, उसकी योग्यता से (टूट गया), उसे इसने तोड़ा - ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? आहा...हा...!

कर्मकपाट को तोड़ना (मूल ग्रन्थ के फुटनोट में) लिखा है। (कर्मकपाट अर्थात्) कर्मरूपी दरवाजा, कर्मरूपी कपाट। (उसे) **तोड़ने-खोलने के अति उग्र प्रयत्न से....** आहा...हा...! और कहते हैं कि क्रम से मोक्ष होता है और यह अति उग्र प्रयत्न द्वारा होता है, इन दोनों का मेल कैसे खायेगा? क्रम में अति उग्र प्रयत्न आया है। समझ में आया? और शास्त्र में ऐसा भी आता है 'अचिरम' (अर्थात्) अल्प काल में मोक्ष होगा। अर्थात् वह क्रम टूट जाता है—ऐसा नहीं परन्तु जिसका शुद्ध उपयोग इसमें जम गया है, उसे अल्प काल में ही केवलज्ञान होने का क्रम है - ऐसी बात है। आहा...हा...! शास्त्र में ऐसी गाथायें बहुत आती हैं। 'अचिरम' अल्प काल में मोक्ष होगा। अल्प काल में मोक्ष होगा तो वह क्रमबद्ध कहाँ गया? उस क्रमबद्ध में ही अल्प काल आया। उसके क्रम में जिसे आत्मा के ओर की शुद्धोपयोग की जमावट जम गयी है, उसे अल्प काल में ही क्रमबद्ध में केवलज्ञान होने का काल है-ऐसा कहते हैं। इस उग्र पुरुषार्थ का जो काल आया,

यही इसे क्रमबद्ध में केवलज्ञान होने का काल है। आहा...हा...! सूक्ष्म बातें बहुत आयी। आहा...हा...!

**कर्मकपाट को तोड़ने-खोलने के अति उग्र प्रयत्न से....** शब्द देखो तो! कर्मरूपी कपाट को खोलने का अति उग्र प्रयत्न-शब्द ऐसा है। तो कर्म तो जड़ है। जड़ को तोड़ने का अति उग्र प्रयत्न है? उग्र प्रयत्न तो स्वभावसन्मुख हुआ है, इससे अशुद्ध परिणमन का नाश होता है और उस समय कर्म का नाश होने की योग्यता के क्रम में उस क्रमबद्ध में कर्म का अभाव होने का ही वहाँ प्रसंग था। वह भी क्रमबद्ध में था। यह बात... आहा...हा...! समझ में आया?

**अति उग्र प्रयत्न से....** अकेला (प्रयत्न) नहीं, **अति उग्र प्रयत्न से....** (ऐसा है) उसमें क्रम कहाँ रहा? परन्तु यही क्रम आया इसमें कि क्रम में जिसने शुद्ध उपयोग को अन्तर में लिया है, उसने अति उग्र प्रयत्न किया है। वह क्रमबद्ध में पर्याय प्रगट हुई है। आहा...हा...! अरे रे! समझ में आया? **पराक्रम प्रगट कर रहे हैं। अति उग्र प्रयत्न से पराक्रम प्रगट कर रहे हैं।** पुरुषार्थ प्रगट कर रहे हैं। आहा...हा...! उसके क्रम में ही अन्तर्मुख में प्रयत्न करने का पुरुषार्थ है। आहा...हा..! समझ में आया? बड़ा विवाद, क्रमबद्ध का इतना विवाद (निकाले) कि क्रमबद्ध में जाओ तो नियत हो जायेगा, एकान्त हो जायेगा। अरे...! यह सब जैसा है, वैसा है। आहा...हा...!

**पराक्रम प्रगट कर रहे हैं।** यह मोक्ष के साधन की व्याख्या की। मोक्ष के साधन में यह भाषा ली है। शुद्ध उपयोग में अति उग्र प्रयत्न से पराक्रम प्रगट कर रहे हैं। स्वभाव सन्मुख का एकदम उग्र प्रयत्न कर रहे हैं। उस क्रम में यही आया है। समझ में आया? क्योंकि क्रमबद्ध का अर्थ कि पर का कर्ता तो नहीं परन्तु राग के नाश का भी कर्ता नहीं, तथा पर्याय को उत्पन्न करने का भी कर्ता नहीं। ऐसे द्रव्य पर दृष्टि है, इसलिए क्रमबद्ध में उसे ऐसा ही पुरुषार्थ आता है। आहा...हा...! बहुत कठिन काम, भाई! वीतरागमार्ग की शैली बहुत कठिन। परन्तु उसका फल भी कैसा! आहा...हा...! वीतरागी पुरुषार्थ स्वसन्मुखता का ढला हुआ है, उस क्रम में उसी प्रकार आया है और इससे वह शुद्ध उपयोगी ही मोक्ष का साधन है, वही मोक्ष का कारण है। आहा...हा...! जिस काल में मोक्ष होगा, ऐसा तो यहाँ कहा नहीं और सैंतालीस नय में तो ऐसा लिया है कि काल में भी मोक्ष होता है और अकाल में भी

मोक्ष होता है - ऐसा लिया है। इसके बाद (आयेगा)।

यह प्रश्न बहुत वर्ष पहले श्वेताम्बर के (एक मुनि) थे, फिर दिगम्बर हुए थे। कौन सा गाँव कहा? गजपंथा। नासिक... नासिक? वहाँ थे? यहाँ का वाँचन करके फिर श्वेताम्बर पंथ छोड़ दिया। क्षयोपशमवाले थे परन्तु फिर यहाँ का वाँचन करके (छोड़ दिया)। फिर हम गये तब आये, पैर लगे, उठ-बैठ करके पैर लगे, परन्तु बातचीत नहीं। हम शाम को गये और वे रात्रि को आये तथा सबेरे दर्शन करने जल्दी आये परन्तु बातचीत नहीं हुई और बहुत लोग उनके पास सुनने बैठते थे। दोपहर को उठना था, कहा, इसके साथ बातचीत कुछ हुई नहीं। इसका हृदय नहीं लिया, इसलिए वे अन्दर बैठे थे। दोपहर को देखते हैं तो दरवाजा बन्द था, खोला (स्वयं) नीचे उतर गये, चौकी पर (हमें) बैठाया और पैर लगे। देखो! शास्त्र में तो ऐसा कहा है कि काल में भी मोक्ष होता है और अकाल में भी मोक्ष होता है, तो इसमें क्रमबद्ध कहाँ रहा तुम्हारा? काल में मोक्ष हो और अकाल में मोक्ष हो, यह सैंतालीस नय में है। तब वह समझ गया कि कहीं मुझे पकड़ेंगे, इसलिए (कहा) मैंने विचार नहीं किया। ऐसा कहकर छूट गये।

काल में तो, मोक्ष तो काल में ही है परन्तु अकाल का अर्थ (यह है कि) स्वभाव और पुरुषार्थ को जो साथ में है, उन्हें अकाल कहने में आया है। काल के अतिरिक्त पुरुषार्थ, स्वभाव (आदि) जो चार समवाय शामिल हैं, उन्हें अकाल कहने में आया है। है तो समय वही; उसे अकाल कहने में आया है; अकेला काल नहीं, ऐसा। आहा...हा...! फिर बेचारे ने सुना कब था, भाई! यह तो बातचीत करते हुए सबसे बात करते हैं (तो लाओ, इनका हृदय तो लूँ)।

**मुमुक्षु :** ऐसा अर्थ तो आप ही निकाल सकते हो?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वस्तुस्थिति ही यह है। इसलिए यह बात वहाँ हुई थी। भाई थे न? अन्दर थे? तब कौन, से साल? (संवत्) २०१४ के साल? २०१३ के साल। देखो... देखो! निकालो, भाई! इसमें ही है। कितने में आया? ३१ आहा...हा...! **अकालनय से जिसकी सिद्धि...** है। देखो? ३० वें में ऐसा आया कि **आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति।[ कालनय**

**से आत्मद्रव्य की सिद्धि समय पर आधार रखती है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम की भाँति। ] आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि...** है, लो!

**मुमुक्षु :** कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम की भाँति?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह भी उसका पकने का काल ही था।

**समय पर आधार नहीं रखती...** अर्थात् अकेले काल पर आधार नहीं रखती, ऐसा कहना है। साथ ही पुरुषार्थ, स्वभाव, भवितव्य, काललब्धि और निमित्त का अभाव ये सब पाँचों एक समय में है। इसलिए अकेला काल नहीं, परन्तु पाँचों हैं, उसे अकाल कहने में आता है। समय तो वही है आहा...हा...! बहुत कठिन बातें। ये चर्चा हो गयी थी, बड़ी चर्चा थी। **अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है। कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति।** परन्तु उस कृत्रिम गर्मी से पकने का उसका काल ही वह था। उस गर्मी का निमित्त गिनकर उसे पकी, ऐसा कहने में आया है। बाकी तो काल में ही है, जिस समय में-काल में मोक्ष, उसी काल में है परन्तु उसका पुरुषार्थ, स्वभाव, भवितव्यता, काललब्धि आदि पाँचों ही हैं। उन्हें अकाल में गिनकर, अकाल में मुक्ति होती है-ऐसा कहा है। भाई!

**मुमुक्षु :** अकाल मृत्यु में भी इसी प्रकार.....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अकाल यही है। मृत्यु अकाल में, यह व्यवहार है।

**मुमुक्षु :** बाकी के चार समवाय में अकाल मृत्यु कैसे....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अकाल मृत्यु उस समय में होने थी परन्तु कर्म के परमाणु पूर्व में ऐसे बँधे थे कि उस समय एकदम एक साथ खिर गये, उसे अकाल मृत्यु कहने में आया, यह व्यवहार है; वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। पद्मनन्दिपंचविंशतिका में अधिकार है। अनित्य पंचाशत अधिकार है। पद्मनन्दिपंचविंशतिका। जिस समय उसके आयुष्य की (स्थिति) पूर्ण होनी है, उसी समय होगी, आगे-पीछे एक समय नहीं। क्या हो परन्तु अब? वस्तु की स्थिति है, उसे उस प्रकार न समझे।

यहाँ तो अकाल में लिया, देखो! उससे पूछा था, अकाल कहा है न? यहाँ का पढ़-पढ़कर सब बातें करते। पढ़कर करते हैं परन्तु यह समझता है या नहीं?

कहा, अकाल मोक्ष कहा है (उसका क्या?) तब समझ गया कि यह चाहे जो कहूँगा तो उसमें से मेरी भूल निकलेगी। (कहा) मैंने विचार नहीं किया। आहा...! भाई! यह तो तत्त्वार्थराजवार्तिक में है न? यह बोल निकालते हैं कि किसी जीव का एक ही काल ही है ऐसा नहीं—ऐसा शब्द तत्त्वार्थ राजवार्तिक में है परन्तु वह एक जीव के लिये नहीं, समस्त जीवों के लिये है। कोई जीव का काल एक ही है, ऐसा नहीं। किसी का काल अमुक कि असंख्य काल में मोक्ष जायेगा, कोई अनन्त काल में जायेगा, कोई संख्यात काल में जायेगा-ऐसी बात है।

**मुमुक्षु :** अनेक जीवों की अपेक्षा...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अनेक जीवों की अपेक्षा से (बात है)। एक ही जीव को इस काल में हो, इस काल में हो-ऐसा नहीं। यह बड़ी चर्चा हो गयी। तत्त्वार्थराजवार्तिक में है। आहा...हा...! यहाँ तो अपने यह लेना है कि **अति उग्र प्रयत्न से पराक्रम प्रगट कर रहे हैं।** तथापि वह समय तो वही है। आहा...! उसे पुरुषार्थ की प्रधानता से कथन किया है। आहा...हा...! समझ में आया? भाई! ऐसी बातें सूक्ष्म! अरे! लोगों को निवृत्ति नहीं मिलती, फुर्सत नहीं मिलती। आहा! नहीं तो, भगवान केवली ने जो देखा होगा, वीतराग ने देखा, वह होगा - उसका अर्थ क्या? देखा इसलिए होगा—ऐसा नहीं परन्तु होने के काल में होता है—ऐसा भगवान ने देखा है। आहा...हा...! परन्तु उसका निर्णय करनेवाले की दृष्टि कहाँ होती है? उसे पर के राग का कर्तापना छूटे, पर का कर्तापना छूटे और पर्याय की दृष्टि छूटकर पर्याय का कर्तापना छूटे, तब अकर्ता द्रव्य है-ऐसा अनुभव हो। आहा...हा...! इतनी अधिक लम्बी बात। बनियों को फुर्सत नहीं और बातें सूक्ष्म।

यहाँ तो (कहते हैं) **अति उग्र प्रयत्न से....** तुम ऐसा कहते हो कि उसी काल में मोक्ष जाये तो यहाँ तो अति उग्र पुरुषार्थ से मोक्ष होता है - ऐसा कहा है। समझ में आया? परन्तु यह तो अति पुरुषार्थ उस समय में ही है। जिस समय में मोक्ष होना है, उस काल में ही उसका अति पुरुषार्थ है। यह काल फेर नहीं है। आहा...हा...! क्या हो?

**मुमुक्षु :** भगवान के ज्ञान में ऐसी नौंध है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** नौंध है, ज्ञान में ऐसा है। कलश-टीका में है। केवलज्ञानी ने देखा, उसे वह होगा—ऐसी केवलज्ञान में नौंध है। आहा...! उसमें भी कहा जाता

है, श्रीमद् में आता है 'करुणा हम पावत है तुमकी यह बात रही गुरुगम की' हे प्रभु! आपकी करुणा है। करुणा का अर्थ कि आपके ज्ञान में मैं आया कि मैं समकिती हूँ और अल्प काल में मोक्ष जानेवाला हूँ—ऐसा तुम्हारे ज्ञान में आया, यही मेरे ऊपर आपकी कृपा है। श्रीमद् ने कहा है, 'करुणा हम पावत है तुमकी' आहा...हा...! केवलज्ञान में यह भासित हुआ कि यह जीव इस काल में मोक्ष प्राप्त करेगा, यही केवलज्ञानी की करुणा है। बस! आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। अकषाय करुणा।

**प्रश्न :** करुणा का चाहे जो अर्थ हो जाये?

**समाधान :** चाहे जैसे नहीं, जैसा हो वैसा होता है। जैसे वस्तु की-पदार्थ की स्थिति हो, वैसा अर्थ होगा या नहीं?

यहाँ यही कहते हैं, कर्म के कपाट को खोल डाला। तब (कोई कहे कि) कर्म का कपाट खुलना नहीं था और खोल डाला? समझ में आया? यह कर्म तो उस काल में छूटने का उसकी पर्याय का उसका धर्म ही था परन्तु इसने इस ओर पुरुषार्थ किया, इसलिए कर्म का कपाट खोला-ऐसा कहने में आता है, ऐसा है। यह २७३ गाथा पूरी हुई। २७४ (गाथा)।

## मुनि बनने की भावना

सम्यग्दृष्टि की भावना तो मुनि बनने की ही होती है। वह विचारता है कि अहो! मैं कब चैतन्य में लीन होकर सर्वसङ्ग का परित्यागी होकर मुनिमार्ग में विचरण करूँ। मुनि बनकर चैतन्य के जिस मार्ग पर तीर्थङ्कर विचरे, मैं भी उसी मार्ग पर विचरण करूँ - ऐसा धन्य स्वकाल कब आयेगा? धर्मीजीव आत्मा के भानपूर्वक इस प्रकार मुनि बनने की भावना भाते हैं। ऐसी भावना होते हुए भी निज पुरुषार्थ की मन्दता और निमित्तरूप में चारित्रमोह की तीव्रता से कुटुम्बीजनों के आग्रहवश स्वयं ऐसा मुनिपद नहीं ले सके तो उस धर्मात्मा को गृहस्थपने में रहकर देवपूजा आदि षटकर्मों का पालन अवश्य करना चाहिए।

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, श्रावकधर्मप्रकाश*

## गाथा - २७४

**अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वं सर्वमनोरथस्थानत्वेनाभिनन्दयति-**

**सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।**
**सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स।।२७४।।**

**शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम्।**
**शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै।।२७४।।**

**यत्तावत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यप्रवृत्तैकाग्र्यलक्षणं साक्षान्मोक्षमार्गभूतं श्रामण्यं तच्च शुद्धस्यैव। यच्च समस्तभऊतभवद्भाविव्यतिरेकरम्बितानन्तवस्त्वन्वयात्मकविश्वसामान्य-विशेषप्रत्यक्षप्रतिभासात्मकं दर्शनं ज्ञानं च तत् शुद्धस्यैव। यच्च निःप्रतिघविजृम्भितसहजज्ञानानन्दमुद्रितदिव्यस्वभावं निर्वाणं तत् शुद्धस्यैव। यश्च टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दावस्थासुस्थितात्मस्वभावोपलम्भगम्भीरो भगवान् सिद्धः स शुद्ध एव। अलं वाग्विस्तरेण, सर्वमनोरथस्थानस्य मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वस्य शुद्धस्य परस्परमङ्गाङ्गाभिव-परिणतभाव्यभावकभावत्वात्प्रत्यस्तमित-स्वपरविभागो भावनमस्कारोऽस्तु।।२७४।।**

---

अथ शुद्धोपयोगलक्षणमोक्षमार्गं सर्वमनोरथस्यानत्वेन प्रदर्शयति-**भणियं** भणितम्। किम्। **सामण्णं** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणं शत्रुमित्रादिसमभावपरिणतिरूपं साक्षान्मोक्षकारणं यच्छ्रामण्यम्। तत्तावत्कस्य। **सुद्धस्स य** शुद्धस्य च शुद्धोपयोगिन एव। **सुद्धस्स दंसणं णाणं** त्रैलोक्योदर-विवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तवस्तुगतानन्तधर्मैकसमयसामान्यविशेषपरिच्छित्तिसमर्थं यद्दर्शनज्ञानद्वयं तच्छुद्धस्यैव। **सुद्धस्स य णिव्वाणं** अव्याबाधानन्तसुखादिगुणाधारभूतं पराधीनरहितत्वेन स्वायत्तं यन्निर्वाणं तच्छुद्धस्यैव। **सो च्चिय सिद्धो** यो लौकिकमायाञ्जन-रसदिग्विजयमन्त्रयन्त्रादिसिद्धविलक्षणः स्वशुद्धात्मोपलम्भलक्षणः टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मरहितत्वेन सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहितः सिद्धो भगवान् स चैव शुद्धः एव। **णमो तस्स** निर्दोषिनिजपरमात्मन्याध्याराधकसंबन्धलक्षणो भावनमस्कारोऽस्तु तस्यैव। अत्रैतदुक्तं भवति-अस्य मोक्षकारणभूतशुद्धोपयोगस्य मध्ये सर्वेष्टमनोरथा लभ्यन्त इति मत्वा शेषमनोरथपरिहारेण तत्रैव भावना कर्तव्येति।।२७४।।

अब, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का (अर्थात् शुद्धोपयोगी का) सर्व मनोरथों के स्थान के रूप में अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं:—

**रे! शुद्ध ही श्रामण्य है, रु ज्ञान-दर्शन शुद्ध के।**
**हो शुद्ध के निर्वाण, शुद्ध ही सिद्ध, वन्दन है उन्हें॥२७४॥**

**अन्वयार्थ** - [ **शुद्धस्य च** ] शुद्ध (शुद्धोपयोगी) को [ **श्रामण्यं भणितं** ] श्रामण्य कहा है, [ **शुद्धस्य च** ] और शुद्ध को [ **दर्शनं ज्ञानं** ] दर्शन तथा ज्ञान कहा है, [ **शुद्धस्य च** ] शुद्ध के [ **निर्वाणं** ] निर्वाण होता है; [ **सः एव** ] वही (शुद्ध ही) [ **सिद्धः** ] सिद्ध होता है; [ **तस्मै नमः** ] उसे नमस्कार हो।

**टीका** - प्रथम तो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के युगपद्पनेरूप से प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है ऐसा जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य, 'शुद्ध' के ही होता है; समस्त भूत-वर्तमान-भावी व्यतिरेकों के साथ मिलित (मिश्रित), अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक जो विश्व उसके (१) सामान्य और (२) विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभास-स्वरूप जो (१) दर्शन और (२) ज्ञान वे 'शुद्ध' के ही होते हैं; निर्विघ्न-खिले हुए सहज ज्ञानानन्द की मुद्रावाला (स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द की छापवाला) दिव्य जिसका स्वभाव है ऐसा जो निर्वाण, वह 'शुद्ध' के ही होता है; और टंकोत्कीर्ण परमानन्द-अवस्थारूप से सुस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से गम्भीर ऐसे जो भगवान सिद्ध, वे 'शुद्ध' ही होते हैं (अर्थात् शुद्धोपयोगी ही सिद्ध होते हैं), वचनविस्तार से बस हो! सर्व मनोरथों के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वरूप, 'शुद्ध' को, जिसमें परस्पर अंगअंगीरूप से परिणमित [१]भावक-भाव्यता के कारण स्व-पर का विभाग अस्त हुआ है ऐसा भावनमस्कार है॥२७४॥

**प्रवचन नं. २५३ का शेष, गाथा-२७४**

**आसोज कृष्ण १५, रविवार, २१ अक्टूबर १९७९**

**अब, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का (अर्थात् शुद्धोपयोगी का) सर्व**

१. भावक (भावनमस्कार करनेवाला) वह अंग (अंश) है और भाव्य (भावनमस्कार करने योग्य पदार्थ) वह अंगी (अंशी) है, इसलिए इस भावनमस्कार में भावक तथा भाव्य स्वयं ही है। ऐसा नहीं है कि भावक स्वयं हो और भाव्य पर हो।

**मनोरथों के स्थान के रूप में अभिनन्दन ( प्रशंसा ) करते हैं:—** आहा! शुद्ध उपयोगी को ही सर्व मनोरथ सिद्ध होते हैं। शुद्ध उपयोगी को मोक्ष, शुद्ध उपयोगी को दर्शन, शुद्ध उपयोगी को ज्ञान, शुद्ध उपयोगी को चारित्र। आहा...हा...! यह यहाँ सिद्ध करना है। थोड़ा सूक्ष्म है। अभी चर्चा बन्द है, नहीं तो रात्रि को तो प्रश्न हों। उसमें थोड़ा विशेष समझ लेना।

**मोक्षतत्त्व के...** उपाय तत्त्व को **( अर्थात् शुद्धोपयोगी का )....** शुद्ध उपयोगी में सर्व मनोरथ का स्थान है, शुद्ध उपयोगी को सब प्रगट होता है। आहा! उसका अभिनन्दन करते हैं, प्रशंसा करते हैं। शुद्ध उपयोगी का अभिनन्दन करते हैं! आहा...हा...! देखो, भाषा शुद्ध है, परन्तु शुद्ध का अर्थ यहाँ शुद्ध उपयोग है। शुद्ध का अर्थ यहाँ शुद्ध द्रव्य - ऐसा नहीं है। **सुद्धस्स य सामण्णं भणियं** भगवान ने कहा, भगवान ने ऐसा कहा।

**सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।**
**सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स।।२७४।।**

**रे! शुद्ध ही श्रामण्य है, रु ज्ञान-दर्शन शुद्ध के।**
**हो शुद्ध के निर्वाण, शुद्ध ही सिद्ध, वन्दन है उन्हें॥२७४॥**

**शुद्ध ही श्रामण्य है,....** आहा...हा...! अब यहाँ (अभी तो) तो कहते हैं कि शुभ उपयोग हो, वह साधु है, बस। यहाँ तो कहते हैं कि शुद्ध उपयोगी को साधुपना भगवान ने कहा है। जैसी चीज़ शुद्ध है, उसका जो उपयोग, जो शुद्ध उपयोग, उसे भगवान ने निर्वाण कहा है। आहा..! **ज्ञान-दर्शन शुद्ध के...** लो! ज्ञान, दर्शन शुद्ध उपयोगी को (है ऐसा कहा)?

टीका : **तावत्** शब्द है न? **यत्तावत्** ऐसा संस्कृत शब्द है। **प्रथम तो... तावत्** अर्थात् मुख्य तो यह है कि **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के युगपद्पनेरूप से प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है—ऐसा जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य,....** वह **'शुद्ध' के ही होता है;....** आहा...हा...! सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का युगपद्पना (अर्थात्) तीनों की एक साथ में प्रवर्तती ऐसी जो एकाग्रता। ऐसी जो आत्मा में शुद्ध उपयोग की एकाग्रता। आहा...हा...! **जिसका लक्षण है.... युगपद्पनेरूप से प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है....** आहा...हा...!

**ऐसा जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत...** निश्चय, साक्षात्। **श्रामण्य,....** साधुपना वह **'शुद्ध' के ही होता है;....** इस शुद्ध उपयोगी को साधुपना होता है। आहा...हा...! महाव्रत पालनेवाले को और पाँच समिति, गुप्ति पालनेवाले को साधु (पना) होता है, यह बात यहाँ नहीं की है। आहा...हा...! साधु ऐसे होते हैं। शुद्ध, वस्तु शुद्ध है, पूर्णानन्द प्रभु है, उसका जिसे शुद्ध उपयोग—दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता का शुद्ध उपयोग हुआ है, युगपद् तीनों की एकता का उपयोग हुआ है। प्रथम सम्यक् और पश्चात् दर्शन-ज्ञान ऐसा नहीं। यहाँ तो एक साथ दर्शन-ज्ञान और चारित्र की युगपद् की प्रवृत्ति हुई है। आहा...हा...! ऐसी **एकाग्रता जिसका लक्षण है, ऐसा जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य,...** यह साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य का लक्षण, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की युगपद्पनेरूप प्रवृत्ति एकाग्रता, वह उसका लक्षण है। आहा...हा...! पंच महाव्रत पाले और पाँच समिति रखे और गुप्ति करे; इसलिए वह श्रामण्य का लक्षण है - ऐसा नहीं। कठिन बात, भाई! आहा...हा...! साधुपद अर्थात् ओहो...हो...! गजब! आहा...हा...! श्रामण्यपना अर्थात् भाई! बाह्य में तो वस्त्र का धागा भी न हो परन्तु अन्दर में शुभराग का भाव हो। आहा...हा...!

शुद्ध उपयोग की एकाग्रता। दर्शन-ज्ञान और चारित्र की युगपद् एकाग्रता जिसका लक्षण। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकाग्रता, ऐसी प्रवृत्ति की एकाग्रता। है? **युगपद्पनेरूप से प्रवर्तमान....** (अर्थात्) एक साथ तीनों का परिणमन, ऐसा। ऐसी **एकाग्रता जिसका लक्षण है...** जिसका लक्षण है। **ऐसा जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य,...** साक्षात् मोक्ष के कारणभूत साधुपना, वह शुद्धोपयोगी को होता है। आहा...हा...! और कोई ऐसा कहे कि देखो! सातवें में शुद्ध उपयोग होता है परन्तु इस सातवें में शुद्ध उपयोग हो, वह आगे तो जा नहीं सकता। अभी यह काल ऐसा है; इसलिए यह शुद्धोपयोग है, वह (वहाँ से बाहर आकर) फिर नीचे छठवें में तो आवे, नीचे छठवें में आवे तो उसे विकल्प होते हैं। उसमें (सातवें में) निर्विकल्प शुद्धोपयोग होता है। इसलिए शुद्ध उपयोग है, उसे यहाँ विकल्पवाला छठवाँ गुणस्थान आता है परन्तु जिसे शुद्ध उपयोग ही नहीं, उसे छठा गुणस्थान विकल्पवाला नहीं आता। क्या कहा समझ में आया?

कोई अभी ऐसा सिद्ध करना चाहता है कि भाई! शुद्ध उपयोगरूपी चारित्र तो सातवें में होता है। ठीक है। परन्तु सातवाँ हो, वह सातवें में रहे कितने काल?

सातवें से श्रेणी माँडे, वह तो अभी काल है नहीं। क्षपकश्रेणी या उपशमश्रेणी माँड़े वह तो है नहीं। तब अब सातवें शुद्धोपयोग है भले ऐसा सिद्ध करो, तथापि उसे वहाँ से हटकर छठवें में तुरन्त विकल्प आता है और छठवें में विकल्प न आवे तो वह शुद्धोपयोग ही उसे नहीं होता। आहा...हा...! और शुद्धोपयोग सातवें में गिनो तो उसकी स्थिति ही अल्प काल की है। वह शुद्ध उपयोग आगे जाये, ऐसा तो काल अभी है नहीं। क्षपकश्रेणी माँड़े, वह काल तो है नहीं। तब शुद्धोपयोगी मुनि है, ऐसा यदि तुम सिद्ध करना चाहो तो उसका अर्थ कि शुद्ध उपयोग में रहनेवाला तुरन्त ही अल्प काल में उसे विकल्प आये बिना रहे नहीं। तो जिसे शुद्ध उपयोग ही नहीं, उसे छठवें गुणस्थान का विकल्प भी नहीं आता; इसलिए उसे छठा-सातवाँ गुणस्थान है ही नहीं।

**प्रश्न :** उसे छठवाँ भी नहीं?

**समाधान :** छठा भी नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? आहा!

**मुमुक्षु :** पाँचवाँ तो है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पाँचवाँ भी कहाँ है? वह उसे मुनिपना मानता है न? और प्ररूपणा तो यह करता है कि यह व्रत, तप, भक्ति और पूजा मोक्ष का मार्ग है। प्ररूपणा तो यह करता है। वह तो मिथ्यात्व की प्ररूपणा है। आहा...हा...! यह प्रवचनसार का अन्तिम श्लोक (गाथा) है। फिर २७५ में तो अन्तिम साराँश कहेंगे। आहा...हा...!

वह **'शुद्ध' के ही होता है;....** ऐसी भाषा है। शुद्ध उपयोगी को ही श्रामण्यपना-मोक्ष का साधन होता है। तब जो शुद्धोपयोगी हुआ तो उसे सातवाँ होता ही है और सातवाँ हो, वह यह काल है। इसलिए आगे नहीं जा सकता। इसलिए वह नीचे उतरकर छठवें में आता ही है। तब छठवें में आवे, वह क्षण में रहकर फिर क्षण में सातवें में जाता है, तो जो सातवें शुद्धोपयोग में नहीं जाता उसे छठवाँ भी नहीं है। आहा...हा...! भाई! वस्तु ऐसी है परन्तु अब क्या हो? यह तो वस्तु का स्वरूप है, भाई!

यहाँ तो अपाय-विचय में कहा है न कि वस्तु का ऐसा स्वरूप है, प्रभु! तू भी पा तू भी पा, पाकर तू भी मुक्ति पा! बापू! भावना भी यही है। परन्तु वस्तुस्थिति

यह है। आहा...हा...! अपाय-विचय में कहा न? द्रव्यसंग्रह में अपाय-विचय। हम और तुम सब शुद्ध उपयोग में आकर मोक्ष को पाओ! आहा...हा...! चाहे जैसी तुम्हारी श्रद्धा विपरीत हो परन्तु प्रभु! उसे छोड़ दे। आहा...हा...! तुझे भी मोक्ष होओ! ऐसी समकिती की अपाय-विचय में भावना होती है। आहा...हा...! तू मरकर नरक में जा और निगोद में जा (-ऐसी भावना नहीं होती)। आहा...हा...! क्योंकि स्वयं को भी अल्प काल में मोक्ष है, यह निश्चित है। सिद्धपद होने में थोड़ा काल बाकी है; इसलिए सिद्धपद ही होनेवाला है। तो इस प्रकार सब सिद्धपद को पाओ। प्रभु! आहा...हा...!

(समयसार की) ३८ वीं गाथा में ऐसा कहा है न? ३८ गाथा में कलश लिया है। समस्त जीव निमग्न हो जाये। सम्पूर्ण लोक, स्वरूप में निमग्न हो जाओ। ३८ में है। जीव का अधिकार जहाँ पूरा किया वहाँ पूर्ण जीव का स्वरूप है, वह सबको प्राप्त हो जाओ। आहा...हा...! पंचम काल के सन्त, स्वयं को मोक्ष नहीं, ऐसा पता है, तथापि कहते हैं कि हमें भी मोक्ष और तेरा भी मोक्ष हो जाओ, भाई! आहा...हा...! तू चाहे जितनी विपरीतता कर, उस पर हमारी नजर नहीं है, कहते हैं। आहा...हा...! क्योंकि विपरीतता, वह वस्तु का स्वरूप ही नहीं। इसलिए वस्तु के स्वरूप की दृष्टि और उसका साधक जीव अपने को भी अल्प काल में मुक्ति होओ, सभी जीव-लोग (भी मुक्ति को पाओ)। ३८ में आता है न? भाई! समस्त लोक मग्न हो जाओ। यह प्रवचनसार है, समयसार में आता है। मग्न हो जाओ। आहा...हा...! अरे! पंचम काल के सन्त, तुम एक ओर कहो कि अभी केवलज्ञान नहीं और एक ओर ऐसी भावना करो! बापू! भावना तो यही है। आहा...हा...! हमारा भी अल्प काल में मोक्ष होओ और तेरा भी अल्प काल में मोक्ष होओ! (आता) है न यह? वह (लेखन) द्रव्यसंग्रह में ब्रह्मदेव का है और यह अमृतचन्द्राचार्य का है, है? यह निकला, लो! ३२ वाँ कलश।

**मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका**
**आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।**
**आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण**
**प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः॥३२॥**

**'एषः भगवान् अवबोधसिन्धुः' यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा**

**विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डुबोकर ( दूर करके ) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; इसलिए अब समस्त लोक....** आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्य सन्त कहते हैं। **समस्त लोक...** आहा...हा...! **उसके शान्तरस में.... 'समम् एव' एक साथ ही....** समस्त लोक पूरा **अत्यन्त मग्न हो जाओ।** श्लोक है।

**मुमुक्षु :** संसार में कोई न रहो।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** संसार, यहाँ संसार रहने का नहीं फिर दूसरे को संसार रहे—ऐसा भाव किसलिए आवे? यहाँ अल्प काल में परमात्मा होना है। आहा...हा...! सभी परमात्मा होओ! आहा...हा...! यह अमृतचन्द्राचार्य का (लेख है)। वह धर्म की भावना, अपाय भावना, फिर ब्रह्मदेव का (लेख है)।

(यहाँ ३२ वें कलश में) है न यह? **समस्त लोक में रहनेवाले पदार्थ एक ही समय ज्ञान में झलकते हैं, उसे समस्त लोक देखो।** आहा...हा...! यहाँ तो शिथिल बात ही नहीं। गिर जायेगा और पड़ जायेगा, यह बात ही यहाँ नहीं है। ३८ वीं गाथा में तो यहाँ तक कहा, इसमें यह आया। वहाँ टीका में (कहते हैं कि) गुरु ने बारम्बार अप्रतिबुद्ध को समझाया। अप्रतिबुद्ध समझा और वह बोलता है, कहता है हम जो यह पाये हैं, उसमें से गिरनेवाले नहीं हैं। हम पंचम काल के समकिती, परन्तु हम गिरनेवाले नहीं हैं! है? ३८।

**मुमुक्षु :** द्रव्य गिरे तो पर्याय गिरे।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** द्रव्य गिरे तो पर्याय गिरे। दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य समझा जा सकता है। श्रीमद् ने कहा है न? तीव्र वचन। दिगम्बर सन्तों की वाणी... आहा...हा...! वहाँ ऐसा कहा, साक्षात् शान्तरस में (निमग्न होओ)। अर्थ में कहा है न कि देखनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं और दिखानेवाले समकिती हैं। अर्थ में है, नाटकरूप से (लिया है)। देखनेवाले हैं, वे देखनेवाले को दिखानेवाले कहते हैं कि तुम भी मुक्ति को पाओ, शान्तरस को पा जाओ! आहा...हा...! और वह भी-श्रोता भी वापस ऐसा कहता है कि हमने जो यह पाया, फिरनेवाले नहीं, हमें मिथ्यात्व का अंकुर फिर से उत्पन्न होनेवाला नहीं। आहा...हा...! है या नहीं इसमें? पंचम काल के साधु और समकिती ऐसा कहते हैं। काल-फाल कहाँ था अन्दर? आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** श्रोतारूप से....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यहाँ ऐसे ही श्रोता लिये हैं। भले कोई व्यक्त कम (कर सके) परन्तु श्रोता यहाँ ऐसे ही लिये हैं। पाँचवीं गाथा में नहीं कहा। '**जदि दाएज्ज पमाणं**' एकत्व निश्चय की बात मेरे स्वभाव से करूँगा तो प्रमाण करना। '**जदि दाएज्ज पमाणं**' यदि तुझे यथार्थ दिखाऊँ तो अनुभव करके प्रमाण करना। ऐसा नहीं कहा कि तू बात को धारणा में रखना। गाथा है या नहीं? मूल पाठ है न? '**तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।**' मेरे (वैभव से) स्व से एकत्व और पर से विभक्त ये बात कहूँगा, परन्तु जो कही, फिर से लिया '**जदि दाएज्ज**' जो बात चली आयी और तुझे कान में पड़ी (तो) प्रमाण करना, अनुभव करके प्रमाण करना। आहा...हा...! ऐसी गाथा है।

यह यहाँ कहा (मोक्षमार्गभूत) **श्रामण्य, 'शुद्ध' के ही होता है;....** शुद्ध उपयोगी को ऐसा साधुपना होता है। आहा...हा...! अब यहाँ तो कहते हैं कि हमारे शुभउपयोग है और वह हमारा साधन है, उस साधन से निश्चय साध्य होगा। आहा...हा...! श्रीमद् कहते हैं, वस्तु को वस्तुरूप से रखना, वस्तु को वस्तुरूप से रखना। फेरफार नहीं करना। आहा...हा...! यह यहाँ कहते हैं, ऐसा जो साधुपना वह **'शुद्ध' के ही होता है;....** अमृतचन्द्राचार्य की पुकार यह है।

**समस्त भूत-वर्तमान-भावी....** तीन काल **व्यतिरेकों...** अर्थात् पर्यायों **के साथ मिलित (मिश्रित), अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक....** सम्बन्धवाला विश्व पूरा, **उसके (१) सामान्य और (२) विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप....** आहा...हा...! सामान्य और विशेष के। **प्रतिभासस्वरूप जो (१) दर्शन और (२) ज्ञान....** आहा...हा...! **वे 'शुद्ध' के ही होते हैं;....** वह शुद्ध उपयोगी को होता है। तीन काल-तीन लोक को जानने का उपयोग... आहा...! सामान्य और विशेष शुद्ध उपयोगी को ही होता है। आहा...हा...! कहो, भाई! इसमें ढीले-फीले की बातें, बनियावाद यहाँ नहीं कहते हैं। सब तीर्थंकर क्षत्रिय थे।

यह दर्शन और ज्ञान, सामान्य और विशेष उपयोग, तीन काल-तीन लोक के पदार्थ को एक समय में देखे और जाने—ऐसा जो सामान्य दर्शन और विशेष उपयोग, वह शुद्ध को ही होता है। शुद्ध उपयोगी जीव को यह शुद्ध होता है। शुभ उपयोगी को सामान्य, विशेष दर्शन होता नहीं। आहा...हा...!

विशेष कहेंगे....　　(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

**प्रवचन नं. २५४, गाथा २७१ वीर संवत २४९५**
**कार्तिक शुक्ल १, सोमवार, २२ अक्टूबर १९७९**

प्रवचनसार, गाथा २७१। इसका पहला कलश है। पहली शुरुआत तो यह की थी कि 'द्रव्य की शुद्धि प्रमाण चरण की शुद्धि और चरण की शुद्धि प्रमाण द्रव्य की शुद्धि - अर्थात् क्या? कि जो द्रव्य है—चैतन्य वस्तु' उसका आश्रय लेकर जो शुद्धपरिणति जितने प्रमाण में प्रगट हुई, उतने प्रमाण में उसे कषाय की मन्दता होती है।

'द्रव्यस्य शुद्धि चरणस्य शुद्धि' अर्थात् द्रव्य शब्द से यहाँ परिणति है। वस्तु जो है चैतन्य ज्ञायकस्वरूप, उसका आश्रय लेकर जो शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, जितने प्रमाण में शुद्धपरिणति प्रगट हुई, उतने प्रमाण में कषाय की मन्दता का शुभभाव वहाँ होता है। जैसे कि, छठे गुणस्थान में तीन कषाय (चौकड़ी) के अभाव की शुद्धपरिणति है तो उसे कषाय की मन्दता का, पंच महाव्रतादि का भाव ही होता है। उन दोनों को मेल है। समझ में आया? तीन कषाय के अभाव की शुद्धपरिणति प्रगट हुई हो और वस्त्र-पात्र को लेने का भाव रहे, इस भाव का मेल नहीं है-ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! जितनी द्रव्य की शुद्धि प्रगट हुई है, उसके प्रमाण में उसे कषाय की मन्दता का भाव उस भूमिका के योग्य होता है। पश्चात् चरण का ज्ञान करके अर्थात् कषाय की मन्दता का ज्ञान करो या शुद्धपरिणति का ज्ञान करो, परन्तु दोनों को यथार्थरूप से जानना। आहा...हा...!

जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान की शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, उसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा का राग और मिथ्यात्व (हो), यह मेल नहीं है-यह चरण की शुद्धि का मेल नहीं है। आहा...! समझ में आया? जिसे द्रव्य की शुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, वह शुद्धि; उसके प्रमाण में उसे कुदेव-कुगुरु और कुशास्त्र की श्रद्धा का भाव हो-ऐसा नहीं होता। इस द्रव्य की शुद्धि के प्रमाण में उसे चारित्र के प्रमाण की—व्यवहार की शुद्धि होती है। आहा...हा...! समझ में आया? कोई

ऐसा कहे कि हमें सम्यग्दर्शन हुआ है, परन्तु व्यवहार में हम अभी कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानते हैं तो उसके साथ शुद्धि के प्रमाण में जो कषाय की मन्दता का भाव चाहिए, वह नहीं; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! समझ में आया? वहाँ से शुरु किया। अन्तिम श्लोक भी वहाँ से शुरु किया है। ज्ञेय अधिकार का अन्तिम श्लोक भी यह है और शुरुआत का श्लोक भी यह है। आहा...! अब यह तो इसका सारांश लेते हैं। १८ वाँ कलश है।

**तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतो-**
**ऽद्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः संक्षेपतः शासनम्।**
**व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं**
**जीयात्सम्प्रति पञ्चरत्नमनघं सूत्रैरिमैः पञ्चभिः।।१८।।**

**( श्लोक द्वारा उन पाँच गाथाओं की महिमा कहते हैं: )** पाँच रत्न जैसी गाथायें हैं। **अब इस शास्त्र के कलगी के अलंकार जैसे...** मुकुट होता है न मुकुट? (उसकी) कलगी। **अब इस शास्त्र के कलगी के अलंकार जैसे ( चूड़ामणि-मुकुटमणि समान ) यह पाँच सूत्ररूप निर्मल पंच-रत्न—जो कि संक्षेप से अरहन्त भगवान के समग्र अद्वितीय शासन...** सारे बारह अंग के शास्त्र के शासन को। आहा...हा...! **अरहन्त भगवान के समग्र अद्वितीय शासन....** आगम और परमागम। आगम और अध्यात्म, यह समग्र शासन। आहा...हा...! यह आगे कहेंगे, हों!

**संक्षेप से अरहन्त भगवान के समग्र अद्वितीय शासन को....** वीतराग का अजोड़ शासन। सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्व—निश्चय-व्यवहार, द्रव्य-पर्याय, भेद-अभेद, यह अद्वितीय शासन है। आहा...हा...! यह सर्वत: प्रकाशित करते हैं। जैन शासन में सर्वत्र सत्य प्रकाशित करते हैं। बारह अंग में सत्य को (प्रकाशित करते हैं)। बारह अंग अर्थात्, परन्तु अमुक बात है-स्थूल कथन है। क्या कहा, समझ में आया? बारह अंग में, तीसरे भाग में पूर्व आते हैं। चौदह पूर्व उपरान्त दो भाग आते हैं, तथापि वह अभी स्थूल कथन है। आहा...हा...! क्योंकि वाणी है, वह जड़ है। वस्तु चैतन्यमूर्ति भिन्न है। आहा...हा...! चैतन्य में स्व-परप्रकाश का स्वभाव है और वाणी में स्व-पर कथन कहने का स्वभाव है। आहा...हा...! उसमें जैसा उसका स्वरूप है, वैसा ही जानता है और वैसा ही वाणी द्वारा कहा जाता है।

आहा...हा...! यह सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। आहा...हा...! क्योंकि धर्म का मूल सर्वज्ञ है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्मानुप्रेक्षा ली है। धर्म का मूल सर्वज्ञ है। आहा...हा...! और सर्वज्ञ ने जो देखा और कहा, उसी अनुसार वस्तु का स्वभाव है। उस प्रकार से जिस प्रकार से है.... आहा...हा...! बारह अंग की व्याख्या सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आयी न? क्रम, क्रम, क्रमसर-क्या कहा? क्रमनियमित। यह पूरे जैनदर्शन का अकर्तापने का शासन है। अकर्ता! आहा...हा...! क्रमनियमित— जिस समय जो पर्याय क्रम में होनी है, वह नियमित निश्चय है। इसमें अकर्तापना सिद्ध करना है। क्रमनियमित सिद्ध नहीं करना। क्रमनियमित तो अकर्तापने में उसका सिद्धान्त आ जाता है। आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! यह अकर्तापना वहाँ तक (है कि यह) जैनशासन का कलगी -पूरा तत्त्व है। आहा...हा...! पर का तो कर्ता नहीं; व्यवहाररत्नत्रय के राग का भी आत्मा कर्ता नहीं, परन्तु इसकी निर्मलपर्याय का भी द्रव्य कर्ता नहीं। वहाँ तक क्रमबद्ध में— क्रमनियमित में अकर्तापने का सिद्धान्त यहाँ तक ले गये हैं। आहा...हा...! यह कहेंगे। शुद्ध ही समकित होता है, शुद्ध को ही ज्ञान होता है, शुद्ध को ही चारित्र होता है, शुद्ध को निर्वाण (होता है)। अन्तिम गाथा है। यह तो पहले इसकी शुरुआत है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! आज धनतेरस है, कल दीपावली गिनते हैं। अपने दीपावली कल गिनी है, वे लोग रविवार को (गिनते हैं)। सोमवार को नूतन वर्ष गिनते हैं न? आहा...हा...! धनतेरस का अर्थ-धन जो आत्मा का स्वरूप। आहा...हा...! ज्ञानलक्ष्मी और आनन्द की प्राप्ति (हो), उसका नाम धनतेरस है। धूल के धन की प्राप्ति यहाँ नहीं। धनतेरस के दिन पैसे की पूजा करते हैं न? आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** तिलक करते हैं?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** तिलक इसे करे।

सच्चिदानन्द प्रभु त्रिकाल... अर्थ में है। उस आगम के अन्दर में है। २३२ गाथा है न? 'मोक्षमार्ग प्रज्ञापन' की शुरुआत हुई है न? २३२ (गाथा से) मोक्षमार्ग प्रज्ञापन की शुरुआत की है, वहाँ आगम और परमागम दो लिखे हैं। **आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा** भगवान द्वारा कथित आगम और भगवान द्वारा कथित परमागम, सिद्धान्त,

अध्यात्म, इनकी चेष्टा, उसका सर्व जेष्ठा। २३२ (गाथा है)। मोक्षमार्ग (प्रज्ञापन) वहाँ से शुरु होता है। है ? हाथ नहीं आया ? २३२ है।

**एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।**
**णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा॥२३२॥**

है ? इसमें आगम के दो प्रकार डाले हैं। एक, आगम, जीव और कर्म आदि की व्याख्या करे, वह आगम और एक—आत्मा को ही मुख्य करे, वह परमागम—अध्यात्म। यह सब टीका में है, हों! अन्दर संस्कृत टीका में है। समझ में आया ? आहा...हा...! उस ओर है। '**जीवभेदकर्मभेदप्रतिपादकागमाभ्यासाद्भवति**' 'जयसेनाचार्य' की टीका में संस्कृत में है। '**न केवलमागमाभ्यासात्तथैवागम-पदसारभूताच्चिदानन्दैकपरमात्म-तत्त्वप्रकाशकादध्यात्माभिधानात्पर-मागसाच्च पदार्थपरिच्छित्तिर्भवति॥**' अकेला आगम नहीं, परन्तु आगम उपरान्त (अध्यात्म।)

भाई ने मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है न ? जहाँ पहली जीव-अजीव की भूल बतायी (वहाँ कहा कि) आगम में कहा परन्तु अध्यात्म में जो कहा है, उसे वह नहीं समझता। आगम में कर्म और जीव के भेद की व्याख्या को जानता है परन्तु परमानन्द का नाथ प्रभु, सच्चिदानन्द प्रभु-ऐसा जो अध्यात्मतत्त्व कहा है, उसे नहीं जानता और उसे जाने तो अजीव का एक अंश जीव में मिलाये नहीं और जीव का एक अंश अजीव में मिलाये नहीं। उसमें है ? है न, पता है। आहा...हा...! वहाँ दो बातें ली हैं। आगम का अभ्यास, परन्तु तदुपरान्त इस अध्यात्म का अभ्यास। उसमें कहा है और इसमें संस्कृत में भी दो लिये हैं—आगम और अध्यात्म दो। '**आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा**' आगम और परमागम का जो यथार्थ ज्ञान है, चेष्ठा वह ज्ञान, वह श्रेष्ठ है, वह सर्वोत्कृष्ट है। आहा...! समझ में आया ? ऐसी बातें हैं। आहा...हा...! आगमचक्षु कहा है न ? आगमचक्षु, मुनि आगमचक्षु हैं; अवधिज्ञान चक्षु देव हैं; सिद्ध हैं वे सर्व चक्षु हैं। सर्व चक्षु हैं।

अब यहाँ कहना है कि आगम अर्थात्... आहा...हा...! **सूत्ररूप निर्मल पंच-रत्न...** है ? **अरहन्त भगवान के समग्र अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशित करते हैं वे—विलक्षण पन्थवाली....** आहा...हा...! (विलक्षण अर्थात्) भिन्न-भिन्न **( संसार की स्थिति और मोक्ष की स्थिति भिन्न-भिन्न पन्थवाली है... )**

आहा...हा... ! राग और दया, दान के, व्रत के परिणाम (होते हैं), वह संसार-स्थिति है। आहा...हा... ! और भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप, उसकी शुद्धपरिणति (होती है), वह मोक्षतत्त्व है। राग की एकताबुद्धि और राग से मुझे लाभ होगा - ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, यहाँ कहेंगे, वह संसारतत्त्व है। संसारतत्त्व आत्मा की पर्याय से भिन्न नहीं हो सकता।

**प्रश्न :** सात तत्त्व आये, उसमें संसारतत्त्व आठवाँ (तत्त्व) ?

**समाधान :** संसारतत्त्व अर्थात् इसकी विकारी पर्याय, वह अजीव तत्त्व है, वह पुण्यतत्त्व है, वह पापतत्त्व है, वह आस्रवतत्त्व है, वह बन्धतत्त्व है, वह संसारतत्त्व है। आहा...हा... !

यहाँ यह कहते हैं, इस गाथा में संसारतत्त्व की व्याख्या है। आहा... ! संसार अर्थात् क्या ? कोई स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, स्त्री, पुत्र (है) वह संसार है ? वह संसार नहीं। आहा...हा... ! स्वरूप में से संसरण कर-हटकर राग और दया, दान और व्रतादि के परिणाम की एकताबुद्धि करना, वह मिथ्यात्व, वह संसार है। आहा...हा... ! संसार, वह आत्मा की पर्याय से भिन्न नहीं होता है। जो भिन्न हो वह संसार नहीं। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, वह संसार नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसी सब कठिन बातें हैं। आहा... ! पूरे दिन उसमें रचे-पचे रहें और कहे कि वे कोई तेरे नहीं। आहा...हा... ! तू उनका नहीं, ऐसी जैनशासन की पुकार है और जिसने इस प्रकार से नहीं माना तथा उन रागादि तत्त्व को अपना माना, वह संसारतत्त्व चार गति में भटकने का साधन है। आहा...हा... ! संसारतत्त्व वह आत्मा की पर्याय में रहता है, मोक्षतत्त्व भी आत्मा की पर्याय में होता है। क्या कहा ?

संसारतत्त्व कहो या मोक्षमार्ग की पर्याय का तत्त्व कहो या मोक्षतत्त्व कहो, वह पर्याय में है। परवस्तु पर्याय में नहीं। क्या कहा यह ? परवस्तु, जो शरीर-कर्म, वह आत्मा की पर्याय में नहीं। आहा...हा... ! इसकी पर्याय में तो यह मैं हूँ और ये मेरे हैं - ऐसी मान्यता इसकी पर्याय में है। आहा... ! इसलिए १८९ गाथा में कहा न कि उनका ग्रहण-त्याग है, वह जीवतत्त्व है, इसकी पर्याय में। उत्पाद-व्यय-मिथ्यात्व का उपाद होना और मिथ्यात्व का नाश होना-व्यय होना। व्यय होना अर्थात् वापस दूसरा उत्पन्न हो परन्तु उस मिथ्यात्व का ग्रहण-त्याग वह संसारतत्त्व है, वह जीव की पर्याय है। यह शुद्धद्रव्य के निरूपण में निश्चयनय, यह मिथ्यात्व

वह जीव है और जीव के परिणाम हैं, जीव का कार्य है (ऐसा कहने में आता है)। आहा...हा...! १८९ (गाथा) समझ में आया? सूक्ष्म बात है, बापू! आहा...हा...!

कहते हैं कि **अद्वितीय शासन.... अरहन्त भगवान के समग्र अद्वितीय...** अजोड़ शासन। उनका कोई भी कथन... आहा...हा...! अजोड़ है। अद्वितीय चक्षु। समयसार को अद्वितीय चक्षु कहा है न? यहाँ अद्वितीय शासन (कहा है)। **सर्वतः प्रकाशित करते हैं...** वीतरागी की वाणी सर्वतः यथार्थपने को प्रकाशित करती है। आहा...हा...! द्रव्य-गुण-पर्याय, विकार, पर आदि जैसे हैं, वैसे, जिस प्रकार (हैं, उस प्रकार) प्रकाशित करती है। इसलिए **विलक्षण पन्थवाली संसार-मोक्ष की स्थिति को जगत के समक्ष प्रकट करते हुए....** संसार की स्थिति भी प्रगट करते हुए और मोक्ष की स्थिति भी प्रगट करते हुए। इस **जगत के समक्ष प्रकट करते हुए जयवन्त वर्तो।** यह जैनशासन की वाणी और अद्वितीय जैनशासन आगम, वह जयवन्त वर्तो। आहा...हा...!

**अब, संसारतत्त्व को प्रकट करते हैं:....** संसारतत्त्व प्रगट करते हैं। २७१ (गाथा)

**जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।**
**अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।।२७१।।**

**समयस्थ होकर अयथा ही, जो समझते तत्त्व को।**
**ऽ अनन्त फलसमृद्ध भावी, काल में वे मुनि भ्रमें॥२७१॥**

**समयस्थ होकर...** कहते हैं कि भले जैन सम्प्रदाय में जन्मा हो और जैन का दिगम्बर साधु हुआ हो... आहा...हा...! पंच महाव्रत को पालता हो, ऐसा समयस्थ / जैन में रहा हुआ होने पर भी '**अयथा ही, जो समझते तत्त्व को...**' परन्तु भ्रम सेवन करके '**अयथा ही, जो समझते तत्त्व को...**' पुण्य, वह धर्म है और धर्म, वह पुण्य से होता है, व्यवहार करते-करते धर्म होता है; इस प्रकार जो भ्रम, जैनशासन में सम्प्रदाय में रहकर भी, जैन का साधु होकर भी (सेवन करता है)। आहा...हा...! **अनन्त फलसमृद्ध भावी, काल में...** वर्तमान तो है परन्तु भावी काल में। '**वे मुनि भ्रमें**' भविष्य में अनन्त काल वह भ्रमण करेगा। आहा...हा...!

टीका : **जो स्वयं अविवेक से पदार्थों को अन्यथा ही अंगीकृत करके...**

अपने आप कल्पना से, वीतराग को जो कहना है, उससे विरुद्ध। आहा...हा...! अभी क्रमबद्ध का सिद्धान्त तोड़ने के लिये तो केवलज्ञान को भी तोड़ डालते हैं...! क्योंकि केवलज्ञानी जानते हैं, वह होता है (-ऐसा स्वीकार करेंगे तो) क्रमबद्ध सिद्ध हो जायेगा। (इसलिए ऐसा कहते हैं कि) केवलज्ञानी ने तो भूत का जाना है, भविष्य का तो होगा, तब जानेंगे। यहाँ ऐसा नहीं, भाई! आहा...हा...!

भगवान तो सर्वज्ञ की पर्याय में भूत-भविष्य-वर्तमान प्रत्यक्ष (जानते हैं)। वर्तमान भविष्य की पर्याय नहीं, तथापि उन्हें प्रत्यक्ष है-ऐसा भासता है। अब इस ज्ञान में कैसा? ज्ञान का ऐसा कोई स्वभाव है कि भविष्य की अनन्त पर्यायें द्रव्य में वर्तमान हुई नहीं, तथापि केवलज्ञान (में) तो ऐसा प्रत्यक्ष भासित होता है। यह पर्याय यह रही, ऐसा जो केवलज्ञान, उनके द्वारा कथित तत्त्वों को न मानकर **स्वयं अविवेक से....** अपने अविवेक से। आहा...हा...!

कोई ऐसा कहे कि क्या करें? हमको उपदेशक मिले, वैसा हमने माना। (एक सेठ) ऐसा कहता है। यहाँ कहते हैं, **स्वयं अविवेक से...** तूने तेरे अविवेक से माना है, तूने कहनेवाले को माना नहीं। समझ में आया? हमें सिर पर मिले वैसा माना, परन्तु माना है किसने? वह यहाँ पहले सिद्ध करते हैं।

**जो स्वयं अविवेक से....** एक बात। दूसरी बात कि कर्म के जोर के कारण भी मिथ्यात्व है - ऐसा नहीं लिया। अविवेक से पदार्थ को यथार्थ नहीं मानता। समझ में आया? आहा...हा...! दर्शनमोह तो जड़कर्म है, वह तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं, पर्याय से बाहर है। कर्म और आत्मा की पर्याय के बीच तो अत्यन्त-अत्यन्त अभाव है, अत्यन्त-अत्यन्त अभाव है। समझ में आया? इसलिए कर्म के कारण अविवेक है—ऐसा सिद्ध न करके, **स्वयं अविवेक से...** ऐसा कहा है। आहा...! स्वयं ही अन्दर में भगवान त्रिलोकनाथ सच्चिदानन्द प्रकाश की मूर्ति प्रभु को ऐसा न मानकर, यह राग और अन्धकार जो अज्ञान, यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, यह अज्ञान अन्धकार है, (उसे अपना मानता है)।

संवर अधिकार में आ गया है। संवर अधिकार में। आधार-आधेय नहीं, अत्यन्त स्वरूप विपरीत है तथा अज्ञान और ज्ञान में भेद है। रागादि अज्ञान है और भगवान ज्ञानस्वरूप है। अन्तिम शब्द है। संवर का अन्तिम (शब्द है)। यह तो प्रवचनसार है। समझ में आया? आहा...हा...! यह राग जो अज्ञान, जो अजीव और

जड़; भगवान चैतन्यस्वरूप, वह जीव / आत्मा, इन दोनों को एक मानता है। इससे मुझे लाभ होता है, भले वह जैन सम्प्रदाय में दिगम्बर जैन साधु हो, पंच महाव्रत पालता हो... आहा...हा...! परन्तु **स्वयं अविवेक से....** अपने ही अज्ञान के कारण। आहा...हा...! **पदार्थों को अन्यथा ही अंगीकृत करके....** जैसा है, वैसा न मानकर, अन्यथा अंगीकार करके। **( अन्य प्रकार से ही समझकर )...** आहा...हा...!

भगवान का स्याद्वादमार्ग है; इसलिए राग से ही लाभ होता है। यहाँ तो कहते हैं कि राग से लाभ होता है, यह मान्यता मिथ्यात्व और संसारतत्त्व है। भले जैनशासन में रहा हुआ हो और साधुपना पालन करता हो, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण (पालन करता हो) श्रावक मिथ्यादृष्टि हो और बारह व्रत पालता हो। आहा...हा...! परन्तु यह राग की क्रिया, विकार है, दुःख है। यह आत्मा के कल्याण का कारण है—ऐसा जो **स्वयं अविवेक से पदार्थों को....** यहाँ नौ पदार्थ लिये हैं। उसमें सात तत्त्व हैं न? **अन्यथा ही अंगीकृत करके...** पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ-ऐसा शास्त्र में है। उन नौ पदार्थों में... आहा...हा...! पुण्य को धर्म माने, धर्म को पुण्य के कारण माने, अजीव की क्रिया उस समय उसकी उससे होती है, उसे मुझसे होती है - ऐसा माने। आहा...हा...! ऐसे **स्वयं अविवेक से पदार्थों को अन्यथा ही....** अन्यथा 'ही' (कहा है।)

**अंगीकार करके ( अन्य प्रकार से ही समझकर ) 'ऐसा ही तत्त्व ( वस्तुस्वरूप ) है' ऐसा निश्चय करते हुए,....** आहा...हा...! ऐसा ही है, व्यवहार भी धर्म का कारण है, राग भी धर्म का कारण है। शास्त्र में कहा है, हस्तावलम्ब कहा है। ग्यारहवीं गाथा में नहीं कहा? राग-व्यवहार रत्नत्रय हस्तावलम्ब है। शास्त्र में निमित्त के कथन हैं। हस्तावलम्ब जानकर कहा है, परन्तु उसका फल संसार है। है उसमें? ग्यारहवीं गाथा। आहा...हा...! वीतराग ने कहा व्यवहार जो दया, दान, व्रतादि, उसका निमित्त देखकर, हस्तावलम्ब देखकर बात की है परन्तु उसका फल तो संसार है। आहा....हा....! बहुत कठिन काम, भाई! जन्म-मरण रहित होने की बातें (अलौकिक है) बापू! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, **'ऐसा ही तत्त्व ( वस्तुस्वरूप ) है' ऐसा निश्चय करते हुए,...** आहा...हा...! निश्चय और व्यवहार दोनों हैं; तो व्यवहार से भी होता है और

निश्चय से भी होता है। आहा...हा...! तथा जगत के पदार्थों की प्रतिक्षण पर्याय होती है, वह स्वतन्त्र है—ऐसा नहीं, वह निमित्त हो तो होती है, निमित्त न हो तो नहीं होती। ऐसी पदार्थ की अविवेकरूप से स्थिति को ग्रहण करके... **ऐसा निश्चय करते हुए, सतत एकत्रित किये जानेवाले....** आहा...हा...! (एकत्रित अर्थात्) इकट्ठा, शामिल। क्या?

**महा मोहमल....** आहा...हा...! मिथ्यात्व। कठिन काम है, भाई! महा मोहमल। उसमें आता है न? भाई! आस्रव अधिकार में। धनुर्धर। उसमें बाणावली कहा, उसने योद्धा का अर्थ किया है। कलश-टीकाकार ने धनुर्धर का अर्थ योद्धा किया है और इसमें अर्थकार ने बाणावली अर्थात् एक के बाद एक बाण छूटे (-ऐसा अर्थ किया है।) 'बाणावली' ऐसा शब्द है। समयसार में आस्रव अधिकार का पहला श्लोक है न? उसमें है। बाणावली का अर्थ—बाण-आवली। बाण छूटे। ऐसा अर्थ है उसमें? कहा। यह कलश देखा, उसमें यह अर्थ नहीं। उन्होंने ज्ञानरूपी योद्धा लिया है, इतना। इन कलश टीकाकार ने। इसी प्रकार यह मिथ्यात्वरूपी बाणावली। महा-मोहमल। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई!

दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम राग है, दुःख है, आस्रव है। उन्हें धर्म का कारण मानना और ये करते-करते होगा, यह कहते हैं कि मिथ्यात्वरूपी महा-मोहमल जिसने एकत्रित किया है। चारों ओर से शास्त्र में से व्यवहार से होता है-ऐसी बात इकट्ठी की है। समझ में आया? शास्त्र में यह है। हस्तावलंब जानकर कहा है परन्तु उसका फल संसार है-ऐसा इसने नहीं जाना। आहा...हा...! कहा है या नहीं अन्दर? सूक्ष्म बात है, भाई!

आहा...हा...! अनादि काल से भटकता है, महादुःखी है। आहा...हा...! भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... (एक मुमुक्षु को) जब रोग था न? तब हम वहाँ थे? अन्दर गये तब ऐसा पीड़ित था। (वह कहे) ऐसी अन्दर चोट लगती है और ऐसा होता है, स्वप्न ऐसा आता है। चोट मारते हैं, टुकड़ा करे और ऐसा करे, ऐसे स्वप्न आते हैं। कुदरत ही ऐसा बना कि हम गये और एकदम अनुकूल हो गया। यह तो पुण्य के उदय के कारण, हों! बहुत कहते थे बेचारे, सब खड़े थे, रात्रि को ऐसा स्वप्न आता है, कौन जाने ऐसी चोट लगती है, प्रहार होता है, ऐसे टुकड़े करते हैं और ऐसे-ऐसे स्वप्न आते हैं। अरे रे! जवान व्यक्ति। फिर तो उसे बेचारे को एकदम

सुलटा हो गया। बहुत प्रेम है, रुचि बहुत है। आहा...हा...! अरे! बापू! यह तो जगत की चीज़ है। भ्रमणा में चढ़ जाये। आहा...! सिद्धान्त में तो वहाँ तक कहा है, मुनि प्रमत्तदशा में है, तीन कषाय का जिन्हें अभाव है... आहा...हा...! उन्हें भी बुरे स्वप्न आते हैं, द्रव्यसंग्रह में है, द्रव्यसंग्रह में है, बताया था। नहीं? दु:स्वप्न।

मुझे तो दूसरा कहना है कि तीन कषाय का अभाव... आहा....हा...! और जहाँ वीतरागता वर्तती है, परन्तु जरा प्रमाद में जब आते हैं... आहा...हा...! निद्रा में जरा थोड़े काल (आते हैं), उसमें स्वप्न-दु:स्वप्न आवें, ऐसा पाठ है। आहा...हा...! ऐ...ई! बताया था न भाई को? है न उसमें से, निकालकर! उस दिन बताया था। यहाँ तो सब कहीं तुरन्त हाथ आता है? छठे गुणस्थान की बात है न? उस ओर चौदह गुणस्थान (बात है) वहाँ है। यहाँ तो दूसरा कहना है। कठिन बात यहाँ कहते हैं न? छठवें गुणस्थान तक ऐसी दशा है। जिनकी निद्रा पौने सैकेण्ड के अन्दर है। आहा...हा...! जागता जीव... आहा...हा...! खड़ा है और उसे पकड़ा है न! और उस चारित्र से पकड़ा है वापस, (अकेली) दृष्टि से पकड़ा है (-ऐसा नहीं)। उन्हें भी सातवीं भूमिका में से नीचे उतर जाये, तुरन्त ही उतरे, वह तो छठा-सातवाँ, छठा-सातवाँ सैकड़ों बार अन्तर्मुहूर्त में आता है, उसमें किसी समय दु:स्वप्न आ जाता है। आहा..हा...! अर र! ऐसा आता है कि वह बाहर से नहीं कहा जाता। ए...ई! मुनि को भावलिंगी सन्त को छठे-गुणस्थान की दशा में! यह संसार ऐसा है बापू! आहा...हा...! है गुणस्थान की व्याख्या। इस ओर के पृष्ठ पर है, इस ओर के पृष्ठ पर। उस दिन बताया था। आहा...हा...!

कहते हैं कि यह तो मिथ्यात्व को इकट्ठा किया है। उसे तो (उपरोक्त पैराग्राफ में कथित को तो) तीन कषाय का अभाव है। वीतरागता की लहर में घूमते हैं परन्तु जरा प्रमादभाव जहाँ छठवें गुणस्थान में आवे... आहा...हा...! वहाँ किसी पूर्व के संस्कार के कारण बुरा स्वप्न आ जाता है कि ऐसा करता हूँ या ऐसा करता हूँ। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि वहाँ तक दशा ऐसी, तो यह तो मिथ्यात्व-राग की एकताबुद्धिवाले ने तो मोह को इकट्ठा किया है। समझ में आया? क्षण में और पल में राग से लाभ होता है, मैं जड़ का कर सकता हूँ, पर का कर सकता हूँ, पर की सहायता से मुझमें भी कुछ होता है (इस प्रकार मोह को इकट्ठा किया है।)

(द्रव्यसंग्रह में) है न यहाँ? इस ओर है, ख्याल है। आहा! निजशुद्धात्मा का

ज्ञान है, उससे उत्पन्न सुखामृत का अनुभव लक्षण के धारक, बाह्य विषयों में सम्पूर्णरूप से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह के त्यागरूप लक्षण के धारक, पंच महाव्रतों में प्रवर्तता है, तब बुरे सपने आदि प्रगट तथा अप्रगट प्रमादसहित होता हुआ... आहा...हा...! यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि छठवें गुणस्थान में प्रमाद में भी जहाँ ऐसी दशा हो, वहाँ मिथ्यात्व की क्या बात करना? समझ में आया? आहा...हा...! जिसके स्वप्न भी मिथ्यात्व के आवें, राग से मुझे लाभ हो, इससे ऐसा हो, इससे ऐसा हुआ, पुण्य करते-करते मुझे धर्म हो गया। आहा...हा...! ऐसा जो अविवेक। **एकत्रित किये जानेवाले महा मोहमल....** यह कहते हैं कि एक का एक अभिप्राय, बारम्बार उस अभिप्राय की पुष्टि करता हुआ। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** यह तो जागृत अवस्था में करता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह जागृत की बात है। वह तो एक बताया कि ऐसी दशा में भी प्रमत्तदशा ऐसी कोई चीज़ है कि उसमें ऐसा हो जाता है! आहा...हा...! किसी समय, हर समय नहीं, किसी समय। आहा...!

यह तो जागृत **सतत एकत्रित किये जानेवाले महा मोहमल...** महामोहमल-मिथ्यात्व। आहा...हा...! स्थूलरूप से असंख्य प्रकार हैं और सूक्ष्मरूप से मिथ्यात्व के, विपरीत अभिप्राय के अनन्त प्रकार हैं। आहा...हा...! 'बन्ध अधिकार' में लिया है कि इसे मैं जिलाता हूँ, इसे मारता हूँ, उसके अधिकार में लिया है कि यह मिथ्यात्व का एक भाग है। ऐसा लिया है। पूरे मिथ्यात्व के तो बहुत प्रकार हैं परन्तु यह एक मिथ्यात्व का एक भाग है, ऐसा लिया है। है, टीका में है, पता है न सब। आहा...हा...! मैं पर को जिला सकता हूँ, स्त्री, परिवार का पोषण कर सकता हूँ, लड़को को पढ़ाकर तैयार करूँ, आहा...हा...! अरे! कहते हैं कि महामोह को एकत्रित किया है। आहा! त्रिलोक के नाथ को भूलकर महामोह को इकट्ठा किया है। **महा मोहमल...** कितनी भाषा (की है), देखा! सब 'म मा' देखा। 'म मा' कितने (किये हैं), देखा? महा मोह मल मलिन मनवाला। म... म... आये सब, म... मा! महा (इसमें) म आया, मोह-म, मल-म, मलिन-म, मनवाला-म, पाँच 'म' आये। आहा...हा...! तीन लोक का नाथ चैतन्य भगवान ज्ञातादृष्टापने का स्वभाव, उसे भूलकर महामिथ्यात्व के मोहमल को एकत्रित करके घोंट रहा है,

कहते हैं। आहा...हा...! कारखाना चला दूँ, यह करा दूँ, दूसरों को ऐसे मदद दूँ, सहायता दूँ तो ऐसा हो, अमुक हो। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** प्रत्यक्ष होता है और आप इनकार करते हो।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** प्रत्यक्ष होता है, यह बात सच्ची। प्रत्यक्ष दिखता है, यह संयोग को देखता है। पानी, अग्नि से गर्म हुआ, यह संयोग से देखता है परन्तु पानी से देखे तो पानी गर्म हुआ है, कहीं अग्नि से नहीं हुआ, पानी गर्म हुआ है। भाई! समझ में आया? ऐसे देखे, ऐसे देखे तो यह अंगुली से ऊँचा हुआ, परन्तु इससे देखे तो यह स्वयं ऊँचा हुआ है। आहा...हा...! जगत को ऐसी बात में भ्रमणा है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** दीवाली के दिन हैं, हमारी भ्रमणा मिटे....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** कहा, क्या पढ़ना? (एक मुमुक्षु ने) आकर पूछा। (तब दूसरे भाई ने) कहा, ये पाँच गाथा ठीक हैं। आहा...हा...!

दि-वाली—इसने दिन को जलाया, काल को जलाया। आहा...हा...! परसन्मुख है, उसे स्वसन्मुख झुकावे, उसका नाम दीपावली कहा जाता है। ए...! आहा...हा...! दीवाली के दिन भगवान त्रिलोक के नाथ मोक्ष पधारे। आहा...हा...! 'सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में' 'सादि-अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जब' भगवान तो मोक्ष पधारे। अनादि-सान्त संसार कर दिया और सादि-अनन्त मोक्ष किया। आहा! अनन्त गुण की दशा है, भूतकाल से अनन्तगुनी पर्याय भविष्य की है। संसार की पर्याय जितनी संख्या में (हुई) उससे मोक्ष के मार्ग की-मोक्ष की पर्याय हुई, वह अनन्तगुनी पर्याय है। आहा...हा...! यहाँ महामोह को इकट्ठा किया, उसके सामने लेना है। आहा...हा...!

पूर्णानन्द के नाथ को इकट्ठा करके अनन्त आनन्द को प्राप्त करना चाहिए, उसके बदले कहते हैं कि भ्रमणा में। '**समयस्थ**' है, पाठ में है, हों! जैनदर्शन में रहा हुआ, बाड़ा में रहा हुआ, दिगम्बर नाम धरानेवाला, आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, हों! श्वेताम्बर को तो अन्यमत में डाला है। स्थानकवासी, श्वेताम्बर को तो मोक्षमार्गप्रकाशक में (अन्यमत में डाला है)। परन्तु यह तो दिगम्बर में रहे हुए। सातवें अध्याय में (बात) आयी है न? दिगम्बर में जन्में, उसे मिथ्यात्व का क्या शल्य रह जाता है? आहा...हा...! गहरे-गहरे...

एक सिद्धान्त ऐसा है कि मति और श्रुत का उपयोग सूक्ष्म करके जो पकड़ना चाहिए, वह पकड़ता नहीं, उसका अर्थ ही कि वहाँ स्थूल उपयोग है। आहा...हा...! (समयसार) १४४ गाथा। मति-श्रुत स्वसन्मुख में सूक्ष्म है। वहाँ सूक्ष्म उपयोग, बहुत बारीक / सूक्ष्म होकर अन्दर सन्मुख होता है और सन्मुख नहीं होता, उसका अर्थ कि वह स्थूल उपयोग है। आहा...हा...! यह क्यों अटका है? कि स्थूल में से सूक्ष्म नहीं करता। इस सूक्ष्म में से स्थूल में अटककर पड़ा है, कहते हैं। आहा...हा...! भाई! है न इसमें? गम्भीर है, समयसार की गाथायें, टीकायें, बहुत गम्भीर, बहुत गम्भीर! ओहो...हो...! जिसने मतिज्ञान को सन्मुख किया, श्रुतज्ञान को जिसने सन्मुख किया, जिसे श्रुतज्ञान में विकल्प थे, आहा...हा...! उसे सन्मुख किया है। ऐसा विमुख था, विमुख में मिथ्यात्व को एकत्रित किया था। आहा...हा...! सूक्ष्म प्रकार बहुत, भाई! स्थूल उपयोग है, वह सूक्ष्म को पकड़ नहीं सकता। स्थूल उपयोग में कुछ भी अन्दर शल्य है। आहा...हा...! उसमें इसने शल्य को इकट्ठा करके महा-मोहमल को पुष्टि दी है, कहते हैं। आहा...हा...! बहुत गजब बात है! आहा...हा...!

**सतत एकत्रित किये जानेवाले....** निरन्तर। आहा...हा...! जैसे समय-समय ज्ञानधारा प्रगट होती है, वैसे यह समय-समय मिथ्यात्व की धारा पुष्ट करता है - ऐसा कहते हैं। एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। एक जीवद्रव्य परमाणु को स्पर्श नहीं करता; एक जीवद्रव्य दूसरे जीव को स्पर्श नहीं करता। आहा...हा...! उसमें संयोग की दृष्टि से मिथ्यात्व की पुष्टि करता है। इसने यह किया और इसने यह किया, प्रत्यक्ष है न? ऐसा कहता है। प्रत्यक्ष है, परन्तु क्या प्रत्यक्ष है तुझे? तू तो संयोग को देखता है। उसकी पर्याय उससे हुई है, उसे तो तू देखता नहीं। आहा...हा...! उस संयोग से देखनेवाला समय-समय मिथ्यात्व के महा-मल को पुष्टि करता है। आहा...हा...!

**महा मोहमल से मलिन मनवाले होने से....** आहा...हा...! **नित्य अज्ञानी हैं,...** वह हमेशा अज्ञानी है, कहते हैं। आहा...हा...! निमित्त से आत्मा में कुछ होता है, निमित्त में—द्रव्य में भी मुझसे कुछ होता है। आहा...हा...! यह बाहर के निमित्त की अपेक्षा से, व्यवहार अन्तर निमित्त की अपेक्षा है, भाई! आहा...हा...! अभ्यन्तर में राग का व्यवहार, वह निमित्त है, उससे यहाँ होता है... आहा...हा...! ऐसे

मिथ्यात्व मोहमल को इकट्ठा किया होने से मलिन मनवाले **अज्ञानी हैं।** हमेशा अज्ञानी है। भले शास्त्र पढ़ता हो, पढ़ता हो, कहता हो परन्तु इस प्रकार मिथ्यात्व की पुष्टि में अज्ञानी है वह तो। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

**वे भले....** अब पाठ में है वह आया। पाठ में है न? **'समयस्थ'** भले वह समय में हो, ऐसा कहते हैं। है? **'समये'**? दूसरी लाईन का अन्तिम शब्द है। भले वे जैनसिद्धान्त में, शास्त्र में, जैन के सम्प्रदाय में हों, जैन बाड़ा में हों, दिगम्बर जैन बाड़ा, हों! श्वेताम्बर में तो यह थोड़ा कठोर पड़े, हों! उनका सबका... वस्तुस्थिति तो ऐसी है। आहा...हा...! अरेरे! कहते हैं कि दिगम्बर जैन कहलाये, वह **'समयस्थ'** वह **'समयस्थ'**। श्वेताम्बर है, वह तो समयस्थ नहीं।

**मुमुक्षु :** परसमय है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** परसमय में है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! किसी को नुकसान-लाभ ऐसा नहीं। भगवान है। सबेरे कहा था न? सबेरे यह कहा था, सबकी मुक्ति होओ, प्रभु! चाहे जितना विरोध करता हो। आहा...!

पद्मनन्दि आचार्य ने तो यहाँ तक कहा है, अधिकार २६ है, तथापि पच्चीसी नाम है। (उसमें) ब्रह्मचर्य का अधिकार बहुत वर्णन किया। वर्णन करके ऐसा कहा कि हे जवानों! तुम्हारे शरीर की पुष्ठि और स्त्री की जवानी, उसमें हम ऐसी ब्रह्मचर्य की बात करते हैं, प्रभु! तुम्हें न रुचे तो माफ करना। आहा...हा...! हमसे तुम क्या आशा रखोगे? आहा...हा...! पद्मनन्दि मुनि / आचार्य भावलिंगी सन्त! बापू! सत्य तो ऐसा है, भाई! ब्रह्म अर्थात् आत्मा के आनन्द में रमणता (होना), वह ब्रह्मचर्य है। शरीर से ब्रह्मचर्य है, वह तो शुभभाव है। आहा...हा...! और वह शरीर की विषय की क्रिया नहीं हुई, इसलिए मैंने उसे रोका, यह मिथ्याभाव है। आहा...हा...! और शरीर की क्रिया हुई, मुझसे हुई, यह मिथ्यात्वरूपी महामोह मलिन है, भाई! आहा...हा...! गजब बात है! जैन सम्प्रदाय में रहे हुये और शरीर से ब्रह्मचर्य पालनेवाले, तथापि इस शरीर की क्रिया मैंने नहीं की, इसलिए हुई-ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्म भाव है, भाई! आहा...हा...! वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव का पंचम काल में विरह पड़ा, केवलज्ञान का विरह पड़ा, यह वस्तु रह गयी। आहा...हा...!

कहते हैं, **वे भले ही समय में (द्रव्यलिंगीरूप से जिनमार्ग में) स्थित**

**हों...** है ? आहा...हा... ! भले द्रव्यलिंगी (हों)। द्रव्यलिंगी अर्थात् दिगम्बर लिंग, वह द्रव्यलिंग। श्वेताम्बर तो द्रव्यलिंग भी नहीं। अर..र.. ! कठिन लगे, प्रभु ! मार्ग तो यह है। आहा...हा... ! **( द्रव्यलिंगीरूप से जिनमार्ग में ) स्थित हों...** देखा ? आहा...हा... ! **तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त....** नहीं है। आहा...हा... ! तथापि वास्तविक श्रामण्य को प्राप्त नहीं होने से... आहा...हा... ! साधुपने को प्राप्त नहीं हुए। समकित ही नहीं पाये, वहाँ साधुपने को (कहाँ से प्राप्त हों) ? आहा...हा... ! दिगम्बर जैन साधु, पंच महाव्रत पाले, कहते हैं न यह सब छोड़ा और अब एक शरीर रह गया है परन्तु वह छोड़ा है, वह छूटा हुआ ही है, उसे छोड़ा है-ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है। पर के ग्रहण-त्याग से तो आत्मा शून्य है। मात्र अज्ञानभाव में अथवा ज्ञानभाव में राग का त्याग और ग्रहण व्यवहार से कहा जाता है। आहा...हा... ! पर का त्याग और ग्रहण तो आत्मा में है ही नहीं, क्योंकि वह तो परवस्तु कहाँ ग्रहण की है कि उसे छोड़े ?

इसलिए यहाँ कहते हैं कि **परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वास्तव में श्रमणाभास वर्तते हुए....**

विशेष कहेंगे ! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

## मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा

भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजन के समय रास्ते पर आकर किन्हीं मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा करते थे और मुनिराज के पधारने पर परमभक्ति से आहारदान देते थे। **अहा! मानों आँगन में कल्पवृक्ष फला हो, उससे भी विशेष आनन्द धर्मात्मा को मोक्षमार्गसाधक मुनिराज को अपने आँगन में देखकर होता है।**

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, गुरुदेवश्री के वचनामृत, २०, पृष्ठ १२*

**प्रवचन नं. २५५, गाथा २७१**

**कार्तिक शुक्ल २, मंगलवार, २३ अक्टूबर १९७९**

प्रवचनसार, २७१ गाथा। पहले थोड़ा लिया है, फिर से लेते हैं। संसारतत्त्व किसे कहना? बाकी तो ऐसा आता है न, मिथ्यात्व वह संसार है। बहुत जगह आता है। वास्तव में तो मिथ्यात्व, वह बहुत बारीक-सूक्ष्म चीज़ है। उसके त्याग बिना इसे सम्यग्दर्शन नहीं होता तो मुनिपना भी नहीं हो सकता। आहा...हा...!

**जो स्वयं अविवेक से...** अपने स्वभाव के भान बिना। निश्चय से... कहा न? यह प्रश्न तो किसी ने रखा था। कल रखा था न? सूक्ष्म उपयोग, प्रश्न किसी ने रखा था। तुम्हारा है? तुम्हारा पत्र है न? किसी का है। ऐसा कि यह सूक्ष्म उपयोग जो कहा है, वह क्या है? इसका अर्थ ऐसा है कि यह आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, इसकी वर्तमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रगट दशा है, वह मन और इन्द्रिय से उसका प्रवर्तन है। यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान; मतिज्ञान भले मन और इन्द्रिय तथा श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय के निमित्त से (होता है)। उसमें निमित्त की ओर का मति और श्रुत का झुकाव है, उसे... वहाँ है न? मति-श्रुतज्ञानतत्त्व को मर्यादा में लाकर। सूक्ष्म बात है, भाई! उलझने का नहीं, उलझन करने का नहीं कि यह कैसे प्रगटे? शान्ति का काम है। निभ्रत पुरुषों का काम, आता है न 'निभ्रत' शब्द आता है। उलझन का काम (नहीं)। उलझना नहीं कि अरे...! ऐसी बात? भाई! शान्ति से (समझ), बापू!

मति और श्रुतज्ञान की जो प्रगट-व्यक्त पर्याय है, वह इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तती है। वह स्थूल उपयोग है। उस उपयोग को-मति और श्रुतज्ञान की दशा को। पहले इसे जानना तो चाहिए न? वस्तु क्या है? उसका त्रिकाल गुण है, उसकी मति और श्रुतज्ञान की प्रगट पर्याय है। द्रव्य-गुण और पर्याय। अब उस पर्याय का झुकाव मन और इन्द्रिय द्वारा परसन्मुख के जानने में रुका हुआ है, उसे मर्यादा में लाकर। एक शब्द ऐसा है, अपने ऐसा लिया, हिन्दी में ऐसा लिया है, गौण करके। मूल

हिन्दी है न ? अर्थात् क्या ? कि जो मति और श्रुतज्ञान की पर्याय जो परसन्मुख झुकी है, उसे गौण कर दे और मति तथा श्रुतज्ञान की पर्याय को अन्तर में झुका। अरे! ऐसी बातें हैं। आहा! इसमें दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया ? जिसने चैतन्य की पर्याय में उसका विषय नहीं किया और वह पर्याय पर को विषय करती है। है इसकी पर्याय और विषय करे पर को। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहा...हा...!

दीवाली का दिन है। भगवान मोक्ष पधारे हैं। पावापुरी के क्षेत्र से ऊपर बिराजते हैं। जहाँ से मोक्ष होता है, वहाँ से सीधे क्षेत्र से जाते हैं न! यहाँ से भी अनन्त सिद्ध हुए हैं। यहाँ ऊपर समश्रेणी में अनन्त सिद्ध हैं। आहा...हा...! एक व्यक्ति कुछ समय पूर्व मुम्बई में ऐसा प्रश्न पूछता था। 'वरवाला' वाला था न ? यहाँ आता था। बेचारा सुनता था। उसने ऐसा प्रश्न किया कि इस यात्रा का अर्थ क्या ? बापू! यात्रा का अर्थ ऐसा है कि जिस स्थान से परमात्मा हुए, उस स्थान में जाकर उन्हें याद करना कि यहाँ परमात्मा है। समझ में आया ? मेरे सिर पर परमात्मा हैं। जहाँ मैं बैठा हूँ, उसे सिर पर परमात्मा, अनन्त सिद्ध हैं। ऐसे विकल्प के लिये यात्रा है। समझ में आया ? आहा...हा...! भाई! आहा...! उसने बेचारे ने हाँ किया था। वरवाला वाला था, नाम भूल गये... भाई! प्रेम था, वास्तव में सुनने आया, तब पूछा कि इस यात्रा का क्या ? मैंने कहा, बापू! मध्यस्थता से सुनना। यात्रा का अर्थ यह है कि उस स्थान से जो अनन्त सिद्ध हुए हैं, उनकी मुख्यता ख्याल में है, बाकी तो यहाँ सर्वत्र से सिद्ध हुए हैं परन्तु वहाँ आगे जो मुख्यता से वर्तमान में ख्याल में है कि यहाँ से पाण्डव (शत्रुंजय) से मोक्ष में गये। गिरनार से नेमिनाथ गये, पावापुरी से महावीर गये—ऐसे क्षेत्र से ताजा गये हुए को वहाँ जाकर याद करना कि ये परमात्मा सिर पर हैं। ए...ई...! आहा...हा...! इसके लिये यात्रा है। है तो विकल्प, परद्रव्य को याद करना, वह है तो विकल्प परन्तु इस यात्रा का हेतु यह है। आहा...!

बाकी परमार्थ यात्रा तो भगवान आत्मा... सिद्धस्वरूप। (भगवान) जैसे ऊपर बिराजते हैं, वैसे यह सिद्धस्वरूपी अन्दर बिराजता है। आहा...हा...! इसे वर्तमान में मति और श्रुतज्ञान की पर्याय को, वह पर्याय भी इसे जाननी पड़ेगी न ? प्रगट है, वह पर्याय है; शक्ति है, वह गुण है; शक्तिवान है, वह द्रव्य है। यह प्रगट पर्याय जिसकी है, वह पर्याय मन और इन्द्रिय द्वारा वर्तमान में प्रवर्तती है, उसे शान्ति

से पर की ओर के झुकाव को गौण करके अर्थात् पर की ओर के झुकाव को मर्यादा में लाकर, जहाँ स्वयं है, वहाँ लाकर। है न, १४४ (गाथा में) ? १४४ में है। किसी ने प्रश्न पूछा है। ऐसा कि यह तुमने क्या कहा ? स्थूल-सूक्ष्म, कल कहा था न ?

कहने का आशय तो ऐसा था कि जब अन्दर पकड़ में नहीं आता, तब इसका उपयोग किसी स्थूल में है। समझ में आया ? चाहे जिस प्रकार किसी बाह्य ज्ञान में, बाह्य राग में परन्तु कहीं यह अटका हुआ है। इसलिए उस स्थूल उपयोग को अन्दर में नहीं ले जा सकता और स्थूल उपयोग से वह पकड़ में आये ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह एकान्त नियम है। इसमें फिर अनेकान्त-ऐसा भी हो और ऐसा भी हो ऐसा नहीं। यह भी तथ्य है और व्यवहार क्रिया विकल्प है, वह तथ्य है। तथ्य है अर्थात् है ऐसा ठीक है, परन्तु इससे प्राप्त होता है, ऐसा एकान्त नहीं है। एकान्त से ऐसा है कि स्वसन्मुख के झुकाव से ही प्राप्त होता है। आहा...हा...! समझ में आया ? आहा...हा...! भाई! अपने (गुजराती में) मर्यादा में लिया है। मति-श्रुतज्ञान को मर्यादा में लाकर (ऐसा लिया है)। हिन्दी में उनने गौण करके, अर्थात् परसन्मुख का लक्ष्य है, उसे गौण करके, जो मुख्य लक्ष्य में था, उसे गौण करके, यहाँ मुख्य बनाना (ऐसा लिया है)। आहा...हा...!

इस मति और श्रुतज्ञान की पर्याय के उपयोग को अन्तर में झुकाना। आहा...हा...! वह यह कला-विधि यह है, बाकी तो क्या कहना ? कलश-टीका में कहा है कि यह कैसे क्या कहना ? ऐसा कहना कि ज्ञान, ज्ञानरूप से परिणमता है। इतना कहना, दूसरा क्या कहना ? यह कलश-टीका में है, बाकी तो क्या कहना ? अनुभव की बातें कैसे करना ? ऐसा कलश-टीका में है। आहा...हा...! भाई! यह तो अपूर्व बातें हैं, प्रभु! आहा...हा...!

यहाँ तो बाहर के... सबेरे एक आया था, और उसमें एक बात जरा रह गयी थी कि सबेरे था पराश्रित व्यवहार, वह असद्भूत व्यवहार का विषय है और पर्याय है, वह सद्भूत व्यवहार है परन्तु उसकी बात यहाँ नहीं करना है, भाई! यहाँ मति-श्रुत के साथ मेल क्या है। क्या कहा यह ? कि मति-श्रुतज्ञान की पर्याय को... आहा...हा...! है इसकी, उसे अन्तर में झुकाना। वह अन्तर में कब झुके ? प्रभु!

**मुमुक्षु :** पर्याय एक समय की, उपयोग बहुत समय में पकड़े।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो वह एक समय में हो, तब उपयोग में ख्याल में आता है बाकी होती है तो एक समय में ही वह। आहा...हा...! यह एकान्त है, हों! दूसरी विधि भी है, ऐसा भी होता है और ऐसा भी होता है - ऐसा इसमें नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? भाई! ऐसी बातें हैं। पर की भक्ति की ओर झुकाव तो राग है, वह तो छोड़ दे परन्तु परसन्मुख के झुकाव में मति-श्रुत, जिस मति द्वारा शास्त्र का ज्ञान करता है... आहा...हा...! उसे गौण कर दे अथवा उसे पर्याय में जानने का तो रहेगा परन्तु उसे गौण कर दे। उपयोग वहाँ चिपटा है, उसे गौण कर दे। पर्याय में पर का जानपना तो रहेगा। यहाँ झुकाव होने पर उपयोग भले इस ओर जाये परन्तु पर्याय में पर का जो जानपना है, वह कहीं चला नहीं जाता। उपयोग यहाँ लगा है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग! भाई!

**प्रश्न :** ध्यान उपाय है?

**समाधान :** यह कहा न, ध्यान अर्थात् यह ध्यान। ध्यान अर्थात् क्या? ध्यान में मति-श्रुत की पर्याय को अन्तर में झुकाना, वह (स्वभाव) ध्येय है और यह पर्याय है, वह स्वयं ध्यान।

**मुमुक्षु :** .... आर्तध्यान होता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अभी कहाँ (उसका काम है)।

यहाँ तो धर्मध्यान कैसे हो? आहा...हा...! मति और श्रुतज्ञान की पर्याय को मर्यादा में लाना, अर्थात् जो बाहर में प्रवृत्ति जाती है... आहा...हा...! उसे मर्यादा में लाना अर्थात् उसे पर की ओर के झुकाव के ज्ञान को मुख्यता न देकर, गौण करके... आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! परन्तु यह मूल बात है, बाकी सब बातें हैं। आहा...हा...! उस ज्ञान की पर्याय को मति-श्रुत में, मति को अन्दर झुकाना, फिर श्रुत के विकल्प हैं, ऐसा कहा है न? श्रुत के विकल्प हैं, वहाँ दुःख है, असमाधि है-ऐसा कहना है। वह श्रुतज्ञान की पर्याय जब ऐसे झुकती है, तब वहाँ सुख का वेदन होता है। आहा...हा...! श्रुतज्ञान में जहाँ तक राग के विकल्प हैं, वहाँ तक उस पर्याय में दुःख है, वह दुःखी है, भले वह अरबोंपति हो, राजा हो या इन्द्र हो परन्तु वह दुःखी है। आहा...हा...!

भाई का प्रश्न था न? भाई का प्रश्न था। आहा...हा...! 'सुखी जगत में संत

दुरिजन दुखिया' आहा...हा..! जिसने अपनी मति और श्रुत की पर्याय में अनादि का परतरफ का झुकाव है, उस झुकाव को जिसने अन्तरसन्मुख झुकाया, उस मति और श्रुत के उपयोग को... आहा...हा...! उसमें तो यह भी आता है, भाई! शुद्ध उपयोग। सब आता है परन्तु अब इसे भाषा शुद्ध उपयोग (का) पकड़ना नहीं मिलता। ऐसा कि सम्यग्दर्शन होने पर शुद्ध उपयोग कहाँ आया? बापू! प्रभु! तू न्याय से मध्यस्थ होकर पकड़ न! पकड़ी हुई बात को लक्ष्य में से छोड़ दे। सत्य कैसे है और सत्य किस प्रकार पकड़ में आये? उस प्रकार समझने की सरलता कर न प्रभु! आहा...हा...! यह उलझन का पन्थ नहीं कि ऐसा सब सूक्ष्म! बापू! यह तो उलझन मिटाने का पन्थ है। आहा...हा...! समझ में आया? इस मति और श्रुत को मर्यादा में अर्थात् गौण करके इस ओर झुका देना। अरे... प्रभु! यह तो कोई बात है?

दूसरे प्रकार से कहें तो पर्यायदृष्टि है, उसे छोड़कर द्रव्यदृष्टि करना। यह एक शब्द और शैली दूसरी की है। आहा...हा...! तब इसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। १४४ (गाथा में) कहा है न? व्यपदेश। तब वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का नाम पाता है। आहा...हा...! व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा और नौ तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, वे कोई समकित नहीं हैं। आहा...हा...! सम्यक् अर्थात् सत्यवस्तु जो पूर्णानन्द का नाथ, वह पर्याय में-विषय में आवे, ध्येय में आकर विकल्परहित निर्विकल्प दृष्टि हो, तब उसके विषय में ध्येय आया और तब उसे सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान नाम प्राप्त होता है। व्यपदेश शब्द है। आहा...हा...! यह तो मुद्दे की रकम की बात है, बापू! ए...ई! वह 'गायकवाड़' का हमारे 'दामनगर' में हुआ था। दामनगर है न? (एक के) घर में गाँव है। तब गाँव था, दस हजार के ऊपर का गाँव घर में (था)। 'मूलियापाठ', (गाँव) चालीस हजार की आमदनी उस समय, हों! पैसेवाला, तो अब तो सब हुए, तब पैसेवाले नहीं थे। वह एक ही दशाश्रीमाली में बनिया था। सत्तर वर्ष पहले दस लाख रुपये। फिर उसने बहुतों का पैसा खाया। सरकार की तरफ से 'गायकवाड़ ने' कानून किया कि जो बनिया बीस वर्ष से खाता हो वह जिसकी जमीन है उसे दे दे, तुम्हारा कोई हक नहीं, मुद्दे की रकम उसे दे दे। जिसने बीस वर्ष खाया हो, वह जमीन ही दे दे, अब तुम्हारा हक ही नहीं। यह मूल की रकम ऊपर बात थी। सेठ 'गायकवाड़' सरकार के पास गया था क्योंकि बड़ा धक्का लगा। फिर गायकवाड़ सरकार ने जवाब दिया कि यह कहीं

तुम्हारे एक के लिये, दामनगर के लिये नहीं किया, पूरे गायकवाड़ के राज्य का नियम-कायदा है।

इसी प्रकार यहाँ परमात्मा कहते हैं... आहा...हा...! मति और श्रुतज्ञान को अन्दर में झुका। महाधाम निधान पड़ा है! आहा...हा...! उस मूल रकम को पकड़ न! समझ में आया? यह तुम्हारा पैसा-वैसा और मूल रकम की-धूल की तो यहाँ बात ही नहीं मिलती।

**मुमुक्षु :** वह बाजार में होती है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह बाजार में-पागल में सब होती है। आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि (जो) अविवेक से। जो अन्तर में जाना चाहिए, तब दृष्टि (सम्यक् होती है), उसके बदले राग से (समकित) माने; विकल्प हुआ, उससे समकित होता है—ऐसा माने या निमित्त का जोर अच्छा मिले, भगवान का जोर मिले तो समकित होता है या राग की मन्दता (हो), बहुत शास्त्र का अभ्यास करके राग की मन्दता करे तो उससे होता है, इस सब एकत्वबुद्धि को तोड़ डाल। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। परम सत्य तो यह है, प्रभु! आहा...हा...!

यह यहाँ कहते हैं **स्वयं अविवेक से पदार्थों को अन्यथा ही अंगीकृत करके...** यह मानो कि, विकल्प से लाभ होगा, कोई अच्छा निमित्त मिल जाये तो मुझे समकित होगा, अच्छे देव और गुरु मिलें तो मुझे समकित होगा। इस अविवेक को पकड़ा है, उसे छोड़ दे। कठोर काम है।

**मुमुक्षु :** ऐसा हो तो फिर घर छोड़कर आना किसलिए?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो (एक भाई ने) कहा नहीं था? उसे दूसरे ने कहा कि निमित्त से कुछ नहीं होता और तुम बारम्बार सोनगढ़ जाते हो, इसका क्या कारण? (तब उसने कहा कि) बापू! निमित्त से नहीं होता, इसका विशेष निर्णय करने के लिये वहाँ जाते हैं।

**मुमुक्षु :** निर्णय करने के लिये तो यहाँ आना न?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** परन्तु यह तो अपना निर्णय करना है न! वह निमित्त से नहीं होता—ऐसा निर्णय तो मुझे स्वयं को करना है न! समझ में आया? ऐसा उस भाई ने जवाब दिया था। किसी ने पूछा, निमित्त से नहीं होता, निमित्त से नहीं होता

और यह चलो सोनगढ़, यह चलो सोनगढ़। (ऐसा दौड़ते किसलिए हो?) भाई! निमित्त से-पर से नहीं होता और स्व से होता है, इसका विशेष निर्णय अपने को वहाँ होने के लिये (जाते हैं)। निमित्त से होता है, इसलिए नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? भाई! ऐसा जवाब दिया। व्यापारी ने, हों! आहा...हा...! कठिन काम, भाई!

यहाँ कहते हैं, **स्वयं अविवेक से....** अर्थात् कहीं भी अटक गया है। या विकल्प से हो या निमित्त से हो, आहा...हा...! खूब यात्रायें करें तो समकित होता है, पूर्व में ९९ बार भगवान यहाँ पालीताणा गये थे तो वहाँ यात्रा करें, बापू! ये सब विकल्प शुभराग है। उसकी तो यहाँ बात ही नहीं परन्तु यहाँ तो जो श्रुतज्ञान का विकल्प, परसन्मुख के झुकाववाला ज्ञान है... आहा...हा...! उसे अन्तर्मुख कर, सन्मुख कर। कैसे करना? करना तो इसे है। जो मतिज्ञान स्व से विमुख है और पर से सन्मुख है, उसे पर से विमुख करके स्व से सन्मुख कर। ऐसी बात है, भाई! यह तो मुद्दे की रकम है। आहा...हा...! इसीलिए छहढाला में कहा न—

**'लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ**
**तोड़ि जगत द्वन्द्व फन्द निज आतम उर ध्याओ॥'**

ऐसी बात है, भाई! आहा...हा...!

पूर्णानन्द के नाथ को लक्ष्य में, ध्येय में न लेकर, ध्येय को दूसरा बनावे... द्रव्यसंग्रह में तो ध्येय के बहुत प्रकार लिये हैं। उसमें ध्येय के बहुत बोल लिये हैं। उसका अर्थ यह कि पहले पर का लक्ष्य है, विचार करके इस ओर ढलता है, उसके ध्येय में एक आत्मा ध्येय नहीं लिया, वहाँ बहुत बोल लिये हैं। द्रव्यसंग्रह में है परन्तु उसका अर्थ यह कि उसका पहले लक्ष्य था कि यह ज्ञानस्वरूप है, यह आनन्द है—ऐसा जो लक्ष्य विकल्प में था... आहा...हा...! उसे अन्तर में झुका, इसका नाम सूक्ष्म उपयोग है।

बहिन के वचनामृत में आया है—सूक्ष्म उपयोग। वह इस शैली का-१४४ की शैली का आया है, पता है न! आहा...हा...! उसकी विधि की भी पकड़ नहीं होती और दूसरे प्रकार से करने जाये। आहा...हा...! जाना है पूर्व में और दौड़ता है पश्चिम में, पता नहीं लगता। वह सूर्य के समीप नहीं जा सकेगा। आहा...हा...! इसी प्रकार चैतन्य सूर्य भगवान आत्मा अकेले प्रकाश के नूर का पूर का तेज,

आहा...हा...! मति-श्रुतज्ञान का अंश उसका है, उसे वहाँ झुका, इसका नाम सूक्ष्म उपयोग है। इसमें-लेख में किसी ने प्रश्न किया है। 'कल के प्रवचन में ऐसा आया था कि सूक्ष्म उपयोग ही सूक्ष्म आत्मा को पकड़ सकता है, स्थूल उपयोग नहीं पकड़ सकता। किस शल्य में अटका है - ऐसा १४४ गाथा का प्रमाण देकर आपने समझाया। विषय विशेष विस्तार से समझाने की हमें कृपा करें।' कोई हिन्दी है। आहा...हा...! यह उसका उत्तर दिया।

यह यहाँ आया है। आहा...हा...! यहाँ प्रश्न विशेष क्या है? '**समयस्थ**'। समय है न? 'समय' शब्द से संस्कृत टीका में तो निर्ग्रन्थरूप द्रव्यसमय। जयसेनाचार्य की टीका में पहला शब्द है। है यहाँ टीका? जयसेनाचार्य की टीका। इसी पद में पहला शब्द है। '**समये**' अर्थात् '**निर्ग्रंथरूपद्रव्यसमये**'। है? अर्थात् क्या कहते हैं? कि वस्त्रसहित है, वह तो द्रव्यलिंग भी नहीं। पहला निर्ग्रंथ शब्द पड़ा है। '**निर्ग्रंथरूपद्रव्यसमये**' संस्कृत में है, पहला शब्द है। है न? नग्न-दिगम्बर मुनि। द्रव्यलिंग दिगम्बर। वस्त्रसहित है, वह तो द्रव्यलिंग भी नहीं है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** वह तो (वस्त्र तो) परपदार्थ है, वह कहाँ आड़े आता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** परपदार्थ (अवश्य है) परन्तु ममता तो इसकी है या नहीं? वस्त्र रखने की ममता-मूर्च्छा किसकी है? यह प्रश्न हो गया है। एक साधु यहाँ था न? तुम्हारी बात तो सत्य लगती है, अब मुझे करना क्या? वह कहे। चातुर्मास में (यहाँ) रहे थे। ब्राह्मण थे, दो साधु थे। उनमें चौथ-पंचमी का विवाद था न? बहुत वर्ष हो गये। चातुर्मास में रहे थे, सबेरे-दोपहर व्याख्यान सुनने आये थे। फिर अन्दर दो बार आये (आकर कहा) बात तो बराबर सत्य है, परन्तु हमें क्या (करना)? उन्हें (ऐसा था कि) तुम कुछ कहो, हम कुछ कहते नहीं कि यह वस्त्र छोड़ों और यहाँ रहो। यहाँ हम ऐसी उपाधि नहीं करते। यहाँ किसी को नहीं कहते।

आज (एक व्यक्ति का) पत्र आया है। दिगम्बर साधु, बीस वर्ष की दीक्षा है, उनका पत्र आया है। ऐसा कि (तुम्हारे एक विद्वान को) यहाँ भेजो। यहाँ (दूसरे साधु थे) वह सब विरुद्ध कर गये हैं। सोनगढ़ के विरुद्ध श्रद्धा (करा गये हैं)। मैंने कितनों को ही ठिकाने किया है और कितने ही अभी कठिन हैं, ऐसा लिखा है। पत्र आया है। (वह विद्वान) परसों आनेवाले हैं। 'हम समकित बिना मुनिपना लेकर

बैठे, ऐसा बेचारे ने लिखा है।' बीस वर्ष की दीक्षा है।' परन्तु अब हमें समकित पाने की धगश हुई है। किसी प्रकार हमें अच्छा सुनने को मिले।' नग्न-दिगम्बर हो गये, पंच महाव्रत (पालने लगे) उसने स्वयं पंच महाव्रत का लिखा है कि 'हमारे पंच महाव्रत भी कहाँ स्पष्ट हैं?' उनके लिये आहार चौका बनाकर लें, ठिकाना कहाँ है? यहाँ तो द्रव्यलिंगी। जिनके लिये आहार (बनाया हो), वह नहीं ले और जो वस्त्ररहित नग्न-दिगम्बर मुनि हों, वह समय में अर्थात् जैन समय में रहा हो (उसकी बात करते हैं)।

**मुमुक्षु :** अब तो महिलाएँ उनके पैर धोती है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** महिलाएँ पैर धोबे! स्त्री का परिचय (नहीं होता)। नौ बाड़ से ब्रह्मचर्य चाहिए। जहाँ स्त्री बैठी हो, वहाँ बैठना नहीं, संग नहीं करना। उसने बेचारे ने लिखा है, हों! पत्र आया है ऐसा कि 'अभी साधु, आर्यिका माता-आर्यिका बिना नहीं रह सकते, परन्तु यह बहुत विरुद्ध है, खराब है।' ऐसा लिखा है। आर्यिका हो तो महिलाएँ... अकेला साधु नहीं, आर्यिका (साथ में हो), वह भी खराब है। मैंने ज्ञानार्णव पढ़ा उसमें यह लेख है। ज्ञानार्णव है न? स्त्री का परिचय नहीं करना। आहा...! श्रीमद् ने तो यहाँ तक कहा 'जो नव वाड़ विशुद्ध से पाले शील सुखदाई, भव उसका नहीं फिर रहे, तत्त्व वचन....' परन्तु यह सम्यग्दर्शन के बाद की बात है, हों! नौ वाड़ से विशुद्ध कहा न? ब्रह्मचारी मुनि को स्त्री का संग कैसा? स्त्री को समझाना या स्त्री को पढ़ाना और स्त्री के परिचय में आना और उनके समूह में बैठना, (यह नहीं होता)। आहा...हा...! बेचारे ने लिखा है। माता... 'माताजी' शब्द प्रयोग किया है। आर्यिका-माताजी बिना कोई साधु नहीं रहता, यह बहुत खराब है। स्त्री का परिचय अच्छा नहीं है। आहा...हा...! भाई! आहा...! तुझे बहुत प्रमाद का भाव। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि जिसे स्व और पर के विवेक की खबर नहीं। पर से लाभ होता है, राग से होता है, व्यवहार से होता है, निमित्त से होता है (ऐसा जो मानता है)... आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** एक अपवाद गुरु का है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह गुरु स्वयं है। इष्टोपदेश में कहा है, स्वयं गुरु। स्वयं

अपने को समझाता है; इसलिए स्वयं गुरु। फिर बाहर के गुरु को निमित्त कहने में आता है। बात तो ऐसी है। ए...ई... !

**मुमुक्षु :** ..... है न।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** एक भी नहीं। वह स्वयं यहाँ करे, तब उसको व्यवहार कहने में आता है। आहा.. ! इष्टोपदेश में है। गुरु स्वयं अपना है। स्वयं, स्वयं को समझाता है कि अहो ! जीव ! पूर्णानन्द का नाथ तू, और राग में रुक गया, वह छोड़ अब। यह स्वयं अपने को समझाता है, इसलिए स्वयं स्वयं का गुरु है।

**मुमुक्षु :** गुरु के बिना ज्ञान नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह व्यवहार से बातें (की हैं)। गुरु आत्मा के ज्ञान बिना ज्ञान नहीं। आहा... ! आत्मा स्व और पर को पूर्ण जानने के स्वभाववाला है। उसे जिसने जाना, उसने सब जाना। आहा...हा... ! (जो पर से होता है, ऐसा मानता है उसने) देव-गुरु और शास्त्र भी यथार्थरूप से नहीं जाने हैं। आहा... ! क्योंकि देव-गुरु और शास्त्र की आज्ञा क्या है ? वीतरागता (प्रगट करने की) है। पंचास्तिकाय १७२ गाथा। चारों अनुयोगों का सार तो वीतरागता है, तब वीतरागता कैसे प्रगट होती है ? कि त्रिकाली ज्ञायकभाव-सन्मुख हो, तब वीतरागता प्रगट होती है क्योंकि जहाँ वीतरागभाव पड़ा है, उसके सन्मुख होवे तो वीतरागभाव, सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा... ! ऐसी बात है। गुरुभक्तिवाले को कठिन लगे। (व्यक्तिगत बात) नहीं, बापू ! तुझे लाभ का हेतु तो यह है, भाई ! आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि **अन्यथा ही अंगीकृत करके....** ऐसा ही तत्त्व है-ऐसा स्वयं मानकर। राग से होता है, व्यवहार से होता है, निश्चय से होता है, निमित्त से होता है, उपादान से होता है। आहा...हा... ! **ऐसा निश्चय करते हुए, सतत एकत्रित किये जानेवाले महा मोहमल से मलिन मनवाले....** मिथ्यात्व को बहुत एकत्रित किया है, कहते हैं। पुष्टि.... की... आहा...हा... ! मिथ्या अभिप्राय की खूब पुष्टि की। आहा...हा... ! जो आत्मा के आनन्द की पुष्टि करनी चाहिए, (वह नहीं करके मिथ्यात्व की पुष्टि की)। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात पड़ती है, भाई ! क्या हो ? आहा...हा... ! समझने के लिये थोड़ी तैयारी इसकी चाहिए। ऐसा समय कब मिलेगा ? प्रभु ! आहा...हा... ! आज तो दीवाली का दिन है। परमात्मा मोक्ष पधारे। मोक्ष जाने की बात ही आज की है।

मोक्ष अर्थात् स्वयं मोक्षस्वरूप है। यह पुण्य-पाप अधिकार में आता है? भाई! स्वयं मोक्षस्वरूप है, उस मोक्षस्वभाव के आश्रय से वह होता है। राग है, वह बन्धस्वरूप है (इसलिए) बन्ध के आश्रय से बन्ध ही होता है। परद्रव्य-स्वद्रव्य, आहा...हा...! परद्रव्य के आश्रय से भी लाभ होता है—ऐसा अविवेक से **महा मोहमल से मलिन मनवाले होने से नित्य अज्ञानी हैं, वे भले ही समय में....** हो। समय शब्द से (आशय) निर्ग्रन्थ मुनि हो। यहाँ नग्न-मुनि की बात है। संस्कृत में है न? कहा न? वस्त्रसहित मुनि (तो) द्रव्यलिंगी भी नहीं। आहा...हा...! कठिन बात बहुत। लंगोटी रखकर मुनि माने, वह मुनि नहीं। यहाँ तो निर्ग्रन्थ मुनि जो व्यवहार में यथावत् (हों)-ऐसा निर्ग्रन्थ मुनि। **( द्रव्यलिंगीरूप से जिनमार्ग में ) स्थित हों, तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से...** परमार्थ से सन्तपना जो शुद्ध है, ऐसे भगवान को तो प्राप्त किया नहीं। आहा...! राग की क्रिया में धर्म मानकर बैठा। आहा...हा...!

**परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से....** (अर्थात्) वास्तविक साधुपना है, उसे नहीं प्राप्त हुए। निर्ग्रन्थ हुआ, अट्ठाईस मूलगुण पाले, उसके लिये बनाया हुआ आहार प्राण जाये तो भी न ले, पानी की बूँद न ले। ऐसा द्रव्यलिंगी परन्तु प्रतीति में श्रद्धा विपरीत है। आहा...हा...! किसी भी प्रकार से ज्ञायकभाव को पुण्यवाला मानना, पुण्यतत्त्व को आत्मा के लाभ के लिये मानना, परद्रव्य को स्वभाव के आश्रय की मदद से लाभ होता है—ऐसा मानना... आहा...हा...! **( द्रव्यलिंगीरूप से जिनमार्ग में ) स्थित हों, तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वास्तव में....** वह साधुपने को प्राप्त नहीं हुआ। आहा...हा...!

बेचारे ने पत्र में लिखा है 'हमें साधुपना नहीं। अब हमें तो समकित प्राप्त करने की तल्लीनता है।' पत्र आया था, उसमें नहीं लिखा था? (यहाँ के विद्वान को) बुलाया है। यहाँ आवे और गाँव में भाषण दे। यहाँ तक लिखा है कि हमें नमस्कार नहीं करें तो कहा कि नमस्कार की जरूरत नहीं है, हम नमस्कार के योग्य हैं ही नहीं - ऐसा लिखा है। पत्र है, हों! वह तो यहाँ से कहलवाया था, वहाँ आकर कोई पैर नहीं लगेगा, आहार-पानी कोई (नहीं दे)। (तो कहा कि) वह तो हो जायेगा। पैर न लगे तो कुछ नहीं ठीक! यहाँ आने का भाव है। हम तो किसी को कहते नहीं। साधु हो या गृहस्थ, आवे और रहे या जाये। उसकी इच्छा हो ऐसे आवे

और इच्छा न हो वह न आवे। वह वापस यहाँ रहे कहाँ? रखना कहाँ? उसके (लिये) मकान की व्यवस्था के लिये कहना पड़े। इतनी उपाधि कौन करे? उसका आहार-पानी न हो तो वापस ध्यान रखना पड़े।

**मुमुक्षु :** किसी एक श्रावक को साथ ले आवे तो बाधा नहीं आवे।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह चाहे जैसा कहे, परन्तु यहाँ हम कभी हमारे लिये नहीं कहते। वह भी इन्होंने कहा था कि तुम्हारे लिये हो जायेगा। इसमें (पत्र में) लिखा था। (तुम्हारे विद्वान) पैर न लगे तो वह अविनय नहीं है, हम नमन करने योग्य हैं ही नहीं। ऐसा बेचारे ने लिखा था। बीस वर्ष की दीक्षा है। दिगम्बर मुनि, नग्न मुनि है परन्तु मध्यस्थता से (कहा कि) मार्ग कोई दूसरा है (हम) दूसरे मार्ग में चढ़ गये हैं।

यहाँ कहते हैं कि द्रव्यलिंगीरूप से अर्थात् जिनमार्ग अर्थात् नग्न मुनि, हों! भले नग्नदशा में हों, अट्ठाईस मूलगुण पालता हो, **तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वास्तव में श्रमणाभास वर्तते हुए....** साधु का वेश। **श्रमणाभास वर्तते हुए अनन्त कर्मफल की उपभोगराशि से भयंकर....** आहा...हा...! वह मिथ्यादृष्टि राग से धर्म माननेवाला, पुण्य से धर्म माननेवाला, व्यवहार से निश्चय माननेवाला, निमित्त से उपादान (कार्य माननेवाला)। आहा...हा...! कठिन काम है, भाई! बाकी बातें कहाँ हैं? आहा...हा...! किसान में ऐसी बातें कहाँ थी भाई! आहा...हा...! देखा?

(उपभोग राशि अर्थात्) ढेर, समूह। आहा...हा...! उसने कर्मफल का ढेर इकट्ठा किया। अर र! **भयंकर ऐसे अनन्त काल तक....** आहा...हा...! नरक और निगोद और एकेन्द्रिय तिर्यंच, चूहा, चींटी, कौआ, ऐसे भव करने में (काल जायेगा)। नग्न-दिगम्बर मुनि अट्ठाईस मूलगुण पालता होने पर भी दृष्टि मिथ्यात्व है (कि) राग के कारण लाभ होता है, निमित्त के कारण होता है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ कहीं बालक या युवा या वृद्ध कोई है नहीं। सब आत्मायें हैं, भगवान अन्दर। बालक तो उसे कहते हैं कि इस अविवेक का अज्ञानभाव है, वह बालक है। अन्तर आत्मा का ज्ञान हो, वह युवक है और केवलज्ञान हो, वह वृद्ध है। शरीर की अवस्था तो जड़ की है, उसे आत्मा के साथ कोई मेल नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, अरे रे! अमृतचन्द्राचार्य का पुकार है, अरे रे! ऐसे एकान्त माननेवाले, मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु भी संसारतत्त्व है। अट्ठाईस मूलगुण पाले, आहा...हा...! परन्तु वह धर्म है, उससे आत्मा को लाभ होता है, हमने निवृत्ति तो ली है... किसकी निवृत्ति? राग की निवृत्ति बिना निवृत्ति किसकी? आहा...हा...! ऐसे जीव **अनन्त कर्मफल की उपभोगराशि....** भाषा देखी इसमें? उसमें (ऐसा था) **महा मोहमल से मलिन मनवाले...** उसे यहाँ लिया कि उपभोग कर्म के फलवाले। उसका फल कैसा है? उपभोगराशि (अर्थात्) ढेर। दु:ख के कर्म के फल के ढेर में वह प्रविष्ट होनेवाला है। आहा...हा...! अरे रे! निर्ग्रन्थ मुनि, दिगम्बर मुनि, पंच महाव्रतधारी, निर्दोष आहार-पानी लेनेवाला, परन्तु दृष्टि में मिथ्यात्व - एकान्तबुद्धि है, राग से लाभ हो, निमित्त से लाभ हो... आहा...हा...! और बाह्य त्याग में मैं त्यागी हूँ-ऐसा मनवाता है। आहा...हा...! वह मिथ्यादृष्टि... आहा...हा...! अनन्त कर्मफल के उपभोगराशि का ढेर।

**भयंकर ऐसे अनन्त काल....** आहा...हा...! कहाँ जाकर उत्पन्न होगा? कोई सिंह और बाघ, वरु और कीड़ी, कौआ, कुत्ता, सातवें नरक के नारकी के भव। आहा...! ऐसा निर्ग्रन्थ मुनि भी, द्रव्यलिंगी भी... उसमें आता है न? अष्टपाहुड़ में लिंगपाहुड़ में आता है न? अनन्त बार द्रव्यलिंग धारण किया है और अनन्त बार, फिर भी हर क्षेत्र में अनन्त बार जन्मा है। आहा...! द्रव्यलिंग ऐसा मुनिपना द्रव्यलिंग अनन्त बार धारण किया है। आहा...हा...! परन्तु अन्दर मिथ्यात्व को निकाला नहीं। आहा...हा...! और मिथ्यात्व मिटे उसकी विधि की भी अन्दर पकड़ नहीं। आहा...हा...! आया है न? कर्मनय, ज्ञाननय ऐसिणो—कर्म के भोगनेवाले जीव, वे भटकनेवाले हैं और ज्ञाननय ऐसिणो—(अर्थात्) अकेले ज्ञान की भाषा करनेवाले। आते हैं न दोनों? श्रीमद् में यह आता है—'कोई क्रिया जड़ हो रहे।' अपने अन्त में यह आता है, ज्ञाननय के ऐसिणो—अकेली बातें करनेवाले, जानने की बातें करनेवाले, परन्तु अन्तर में ज्ञान को झुकाये बिना धर्म माननेवाले। आहा...हा...! बहुत कठिन काम लगे, घबराना नहीं होना, हों! यह तो उलझन मिटाने की बात है। आहा...हा...! चाहे जिस क्षेत्र में निकालो। आहा...हा...!

कहते हैं कि भविष्य में **अनन्त काल तक अनन्त भावान्तररूप परावर्त्तनों से...** अनन्त भावान्तर, देखा? यह शुभाशुभराग। अनन्त भावान्तर में भटकते हुए

शुभ और अशुभ अनन्त बार करेगा। आहा...हा...! कठिन काम। भव के अन्त की बातें, बापू! और उसके बिना भव-भ्रमण की बातें बहुत कठिन। यहाँ बड़ा छह खण्ड का स्वामी हो और दीक्षा ली हो, निर्ग्रन्थ मुनि हुआ हो परन्तु दृष्टि में विपरीतता है। आहा...हा...! यद्यपि चक्रवर्ती हुआ होता है, वह पहले समकित पाया होता है, फिर भले गिर गया हो। वह मरकर नरक में जाता है। आहा...हा...! एक फोड़ा जरा तकलीफ दे तो ऐसा हो जाता है, (तब) वह नरक की पीड़ा, बापू! भयंकर कर्म के फल को भोगेगा, कहते हैं। आहा...हा...!

**अनन्त भावान्तररूप...** भावान्तर शब्द से (आशय) अपने स्वभाव के अतिरिक्त शुभ-अशुभभाव के **परावर्त्तनों से...** शुभ-अशुभभाव अनन्त बार करेगा। आहा...हा...! मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, राग से लाभ माननेवाला, बाहर के त्याग में त्यागी माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! वह भविष्य में **अनन्त काल तक अनन्त भावान्तररूप परावर्त्तनों से....** अपने स्वभाव से अन्य शुभाशुभभाव, दोनों भाव भले हों, दोनों संसार हैं। आहा...हा...!

**अनन्त भावान्तररूप परावर्त्तनों से अनवस्थित वृत्तिवाले रहने से,....** अनवस्थित। है नीचे? (अनवस्थित अर्थात्) अस्थिर। ***( मिथ्यादृष्टियों ने भले द्रव्यलिंग धारण किया हो, तथापि उन्हें अनन्त काल तक अनन्त भिन्न-भिन्न भावोंरूप-भावान्तररूप परावर्तन.... )*** शुभ-अशुभ (पलटना) होते रहने से वे अस्थिर परिणतिवाले रहेंगे... आहा...हा...! शुभ करेंगे, अशुभ भी करेंगे, शुभ भी करेंगे और अशुभ भी करेंगे। आहा...हा...! ऐसी संसार की परिवर्तन की दशा (चालू रहेगी)। **उन्हें संसारतत्त्व ही जानना।** यह साराँश लिया। उस जीव को संसारतत्त्व है। निर्ग्रन्थ है, दिगम्बर है, नग्न मुनि है, अट्ठाईस मूलगुण पालन करता है परन्तु दृष्टि में मिथ्यात्व है, राग से लाभ होता है, बाह्य त्याग से लाभ होता है, पुण्य करते-करते कल्याण होता है—ऐसी जो मिथ्यादृष्टि है, वह जीव संसारतत्त्व है। संसारतत्त्व कोई स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, दुकान, वह संसारतत्त्व नहीं; वह तो परतत्त्व है। संसारतत्त्व तो इसकी पर्याय में है।

**मुमुक्षु :** सात तत्त्व से अन्य संसारतत्त्व कहाँ से आया?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आस्रवतत्त्व और बन्धतत्त्व में यह आ गया। यह पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध में यह आ गया। आहा...हा...! यह संसारतत्त्व ही जीव है।

हमने तो संसार छोड़ा है और स्त्री-पुत्र छोड़ा, दुकान छोड़ी, धन्धा छोड़ा... भाई! यह मिथ्या अभिप्राय है। आहा...हा...! बाहर के त्याग का अभिमान, मिथ्या अभिप्राय (चालू रहते)... आहा...हा...! अनन्त-अनन्त भव में परिवर्तन पाकर दुःखी होगा। उसे **संसारतत्त्व ही जानना।** वह जीव संसारतत्त्व ही है। आहा...हा...! भले स्वयं नग्न होकर बैठा हो, उसकी तो बात है। '**निर्ग्रन्थरूप-द्रव्यसमये**' आहा...! तथापि वह संसारतत्त्व है। आहा...हा...! गहरे-गहरे उसे (ऐसा रहता है कि) राग की मन्दता तो हम करते हैं न! बाह्य का त्याग तो किया है न! ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह संसारतत्त्व है। उसने संसार छोड़ा नहीं, उसने संसार ग्रहण किया है। अर र! हजारों रानी छोड़े, कुटुम्ब-कबीला छोड़े, दुकान-धन्धा छोड़े परन्तु कहते हैं कि मिथ्यात्व छोड़ा नहीं। आहा...हा...! इस कारण वह संसारतत्त्व है।

अब मोक्षतत्त्व (की बात करते हैं) इसके सामने (लेते हैं)। यह मोक्षमार्गी, यह मोक्षतत्त्व है। आहा...हा...! जो मिथ्यादृष्टि है, वह संसारतत्त्व है और जो मोक्षमार्ग में है, वह मोक्षतत्त्व है। मोक्षमार्ग में है, वह मोक्षतत्त्व। आहा...हा...!

**अब, मोक्ष तत्त्व को प्रगट करते हैं:—**

**अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।**
**अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो।।२७२।।**

**सत् आचरण, प्रशान्त मुद्रा, सूत्र-अर्थ सुनिश्चयी।**
**वे पूर्ण साधु कर्मफलबिन, संसार में चिर रहें नहीं॥२७२॥**

इन साधु को फल नहीं मिलेगा। ऐसे साधु को फल नहीं मिलेगा। किसका? संसार का। अफल-इन्हें संसार का फल नहीं मिलेगा। जिसने भगवान आत्मा पूर्णानन्द के नाथ का अनुभव करके आनन्द का स्वाद लिया है... आहा...हा...! और जिनकी रमणता... आहा...हा...! अन्तर में झुक-झुककर अन्तर में रमते हैं। ऐसे साधु, कहते हैं कि वह मोक्षतत्त्व है, वह मोक्षतत्त्व है। अभी हुआ नहीं, तथापि मोक्षतत्त्व है—ऐसा कहा। यह विशेष कहा जायेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

**प्रवचन नं. २५६, गाथा २७२**

**कार्तिक शुक्ल ३, बुधवार, २४ अक्टूबर १९७९**

प्रवचनसार, २७२ गाथा। २७१ में संसारतत्त्व की व्याख्या की। संसारतत्त्व अर्थात् क्या ? आत्मा की पर्याय से संसारतत्त्व कोई अलग है—ऐसा नहीं है। जैसे आत्मा में शरीर, कर्म और परपदार्थ का उसके प्रदेश में अभाव है; वैसे यह संसारतत्त्व है, उसकी पर्याय में उसका अभाव नहीं है। क्या कहा समझ में आया ? आत्मा जो असंख्यप्रदेशी, अनन्त गुण का धाम, उसकी पर्याय में शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, लक्ष्मी, मकान, इसकी पर्याय में नहीं, वे तो बाह्य हैं। अब इसकी पर्याय में या सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग होता है और या पर्याय में मिथ्यात्व होता है। आहा...हा... !

अब पहले यहाँ संसारतत्त्व मिथ्यात्व की बात की है। दिगम्बर जैन साधु हो, दिगम्बर मुनि, निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर (हो) परन्तु जो कोई पदार्थ के अयथार्थ निर्णय में रहता है अर्थात् पुण्य और पापतत्त्व भिन्न है, ज्ञायकतत्त्व भिन्न है (-ऐसे यथार्थ निर्णय में नहीं रहता); उसकी पर्याय में शुभ और अशुभ होने पर भी... वह अजीव और दूसरे तत्त्व को उसकी पर्याय में नहीं। ऐसी जब नव तत्त्व की श्रद्धा की बात आवे तब उसे अजीव की श्रद्धा, अजीव का जो ज्ञान है, उसकी श्रद्धा (-ऐसा कहना है), ऐसे यहाँ आत्मा की पर्याय में पुण्य और पाप के भाव हैं। कर्म, शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, कारखाना-बारखाना है ? वह पर्याय में नहीं, वह तो बाह्य है। अब पर्याय में हो तो या सम्यग्दर्शन-मोक्षमार्ग (हो) और या पर्याय में हो तो मिथ्यामार्ग। आहा...हा... ! वह मिथ्यामार्ग अर्थात् क्या ? कि जो नव तत्त्व हैं, जो पुण्य-पाप, आस्रव और बन्ध ये चार भिन्न तत्त्व हैं, इन भिन्न तत्त्व को आत्मा के ज्ञायकतत्त्व के साथ जोड़ना... समझ में आया ? यह अयथार्थ निर्णय-पदार्थ से विपरीत निर्णय है। जो ज्ञायकस्वरूप भगवान, उसमें यह पुण्य-पाप और आस्रव-बन्ध चारों होकर एक ही हैं, उन्हें आत्मा के स्वभाव में जोड़ देना, वे मेरे हैं—ऐसी

मान्यता खड़ी करना; फिर भले वह निर्ग्रन्थ मुनि दिगम्बर सन्त हो, परन्तु वह राग की एकत्वबुद्धिवाला है, वह जीव संसारतत्त्व है। आहा...हा...!

रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है न?... अनगार नाम धरावे, तथापि राग और पुण्य का तत्त्व भिन्न है, उसे अपने में माने कि यह मेरा है और यह मैं हूँ—ऐसा जो मिथ्यादर्शन, वह अनगार नाम धराता होने पर भी मोही, मिथ्यादृष्टि, मोहमार्ग-मिथ्यात्व में है। रत्नकरण्ड -श्रावकाचार में है, और गृहस्थाश्रम में होने पर भी जिसकी दृष्टि में आत्मा ज्ञायक है, रागादि हैं परन्तु वह तत्त्व अत्यन्त भिन्न है, अजीव तो उसकी पर्याय में भी नहीं, वह तो भिन्न है परन्तु इसकी पर्याय में होनेवाले शुभ-अशुभ, दया, दान, व्रतादि के भाव भी आत्मतत्त्व से भिन्न है—ऐसा न मानकर, आत्मा के साथ उन्हें एकत्व करना, इसका नाम मिथ्यादर्शन, इसका नाम संसारतत्त्व है। यह भले कहता है अनगार और साधु नाम धराता हो, निर्ग्रन्थ मुनि दिगम्बर हो, आहा...हा...! समझ में आया? तो उसे संसारतत्त्व कहा है।

अब यहाँ से मोक्षतत्त्व कहना है। मोक्षपर्याय भले प्रगट नहीं हुई, परन्तु मुक्त ऐसा स्वभाव भगवान आत्मा... आहा...हा...! कलश-टीका में 'मुक्त एव' आता है न? पुण्य-पाप में भी आता है। मुक्तस्वभाव है, उसके स्वभाव से धर्म होता है। बन्धस्वभाव परद्रव्य स्वभाव है। बन्धस्वभाव, वह परपद्रव्य स्वभाव है, उससे बन्ध होता है। पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति परद्रव्य स्वभाव है। आहा...हा...! भले इसकी पर्याय में हो परन्तु वे परद्रव्य स्वभाव हैं।

परद्रव्य के तो बहुत प्रकार हैं। शरीरादि परद्रव्य हैं; पुण्य-पाप परद्रव्य हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय भी द्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य है। आहा...हा...! परन्तु यहाँ तो अभी सद्भूत व्यवहार की बात लेना नहीं है; मात्र जो असद्भूत विषय है, पुण्य और पाप के भाव, वे वास्तव में आत्मा की पर्याय की अपेक्षा से असद्भूत है। स्वभाव में वह चीज़ है नहीं। असद्भूत है। उसे सद्भूत ऐसा जो ज्ञायकभाव... आहा...हा...! उसके साथ इसे जोड़ देना,... जो जुड़ान से भिन्न है, सन्धि है, प्रज्ञा में (समयसार, गाथा २९४) आता है न? आहा...हा...! थोड़ी सूक्ष्म बात है। यहाँ तो अत्यन्त, पाँच गाथा रत्न कही है। अन्तिम पाँच गाथा रत्न है। संसारतत्त्व भी एक भटकने का रत्न (कहा)। गाथा रत्न कही। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा में जो कुछ शुभ-अशुभ और राग की वृत्तियाँ उत्पन्न

होती हैं, वह तत्त्व... ज्ञायकस्वभाव होने पर भी—वह तत्त्व पर्याय में होने पर भी, वह भिन्न तत्त्व है। उसका स्वरूप ही भिन्न है। ऐसे भिन्न स्वरूप को ज्ञायकभाव के साथ एकत्व करना... फिर भले वह मुनि पंच महाव्रत पालता हो, अट्ठाईस मूलगुण निर्दोष पालता हो, यह तो आ गया है न? समयस्त। समय में रहा हुआ निर्ग्रन्थ मुनि। टीका में है न? निर्ग्रन्थ दिगम्बर दशा की बात है। श्वेताम्बर दशा जो वस्त्रसहित है, वह तो द्रव्यलिंग भी नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ तो दिगम्बर नग्न मुनि हैं, पंच महाव्रत है, पंच महाव्रत के परिणाम हैं, वे मुझे लाभदायक हैं, जो भिन्न तत्त्व-ज्ञायक से भिन्न तत्त्व है, उससे-भिन्न तत्त्व से मुझे लाभ होता है... अपना लाभ तो अपने स्वभाव से होता है, स्वभाव से प्रत्यक्ष ज्ञाता, यह आत्मा का स्वभाव है। अलिंगग्रहण का छठा बोल। समझ में आया? उसके बदले जो स्वभाव—जो पुण्य-पाप आत्मा का स्वभाव ही नहीं, यह दया, दान, व्रत, भक्ति, तप के परिणाम जो होते हैं, वह विकार तत्त्व है, बन्धतत्त्व है, अबन्धस्वरूपी भगवान मुक्तस्वरूप में वह बन्धतत्त्व है। आहा...हा...! यह कहा न? **'एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे। बंधकहा एयत्ते'** ज्ञायकस्वरूप में राग की बन्धकथा कहना, वह विसंवाद-झगड़ा खड़ा करती है। क्या कहा यह? समयसार, तीसरी गाथा। **'एयत्तणिच्छयगदो'** अकेला ज्ञायकभाव, वह समय सर्व लोक में सुन्दर है परन्तु उसमें बन्ध की कथा—राग का बन्ध है, राग का सम्बन्ध है, वह चैतन्य के ज्ञायक के साथ सम्बन्ध जोड़ना, वह विसंवाद-मिथ्यात्व की उत्पत्ति करता है, चार गति में भटकने का झगड़ा उत्पन्न करता है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! है न? **'विसंवादिणी'** -विसंवाद।

यह यहाँ कहते हैं कि विसंवाद को अपना मानता है। आहा...हा...! अबन्धतत्त्व भगवान आत्मा है। यह तो (समयसार की) १४ वीं, १५ वीं गाथा में (आया)। **'जो पस्सदि अप्पाणं'** आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखता है, वह सम्पूर्ण जैनशासन को देखता है। उस अबद्धस्पृष्ट को अबद्धस्पृष्टरूप से न जानकर, उसे-आत्मा को बन्धभावसहितवाला जानना (वह विसंवाद है)। आहा...हा...! सूक्ष्म है, भाई! परन्तु अन्दर मर्म है। यह अबन्धतत्त्व जो मुक्तस्वरूप है, वह मुक्तस्वरूप ही है, उसे राग के सम्बन्धवाला बन्धवाला मानना... आहा...हा...!

एक ओर १८९ गाथा में ऐसा कहना कि शुद्धतत्त्व के निरूपण की अपेक्षा

से राग और द्वेष और मिथ्यात्व, वह जीव की पर्याय शुद्धद्रव्य से है। क्योंकि उसकी पर्याय में होते हैं, वे कहीं पर में नहीं होते। और इस १८९ (गाथा में) ज्ञेय का अधिकार है। इसलिए राग और द्वेष है वह पर्याय में है, यह शुद्धद्रव्य का कथन है, शुद्धद्रव्य का-निश्चयनय का कथन है। आहा...हा...! उस शुद्धद्रव्य को जाननेयोग्य है, इसलिए कहा कि तेरी पर्याय में है। परन्तु उसके बदले राग और बन्ध के भाव को, स्वभाव अबन्ध है, उसके साथ जोड़ देना, (यह विपरीतता है)। पर्याय में है, यह तो सत्य है। वह तो ज्ञेय का ज्ञान कराया है परन्तु उन राग और द्वेष के विकल्पों को, अबद्धस्वरूप जो ज्ञायकतत्त्व है, उसे बन्धतत्त्व के साथ जोड़ देना... आहा...हा...! वह एक संसारतत्त्व, मिथ्यात्वतत्त्व है। आहा...हा...! चाहे तो निर्ग्रन्थ मुनि होकर पंच महाव्रत पालता हो, हजारों रानियों का त्याग किया हो, नग्न दिगम्बर हो, वन में बसता हो, परीषह और उपसर्गों को बहुत प्रकार से सहन करता हो परन्तु उसे अन्दर में उसकी दृष्टि में विपरीतता है, यह राग वह मैं हूँ और राग करते-करते मुझे लाभ होगा, यह मिथ्यात्वभाव, वह संसारतत्त्व है। आहा...हा...! यह कहा न अन्तिम? **उन्हें संसारतत्त्व ही जानना।**

अब यहाँ मोक्षतत्त्व। अब यहाँ मोक्षतत्त्व को प्रगट करते हैं। गाथा बोल ली गयी है। टीका - **जो ( श्रमण )**..... उत्कृष्ट अन्तिम बात ली है न? साधु की बात है न? **त्रिलोक की चूलिका ( कलगी ) के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिका....** आहा...हा...! राग और स्वभाव को भिन्न जाननेवाला। **त्रिलोक की चूलिका ( कलगी ) के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिका....** आहा...हा...! चैतन्य के प्रकाश का पुंज प्रभु, उसकी जो प्रज्ञाछैनी, जो दीपिका... आहा...हा...! उस दीपिका के **प्रकाशवाला होने से....** अन्तर में ज्ञान का भान है कि मैं तो आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ, राग से भिन्न पड़े हुए दिव्य निर्मलज्ञान के प्रकाश से... आहा...हा...! जिसने आत्मा को राग से भिन्न अन्दर देखा है, जाना है, अनुभव किया है। आहा...हा...! समझ में आया?

**त्रिलोक की चूलिका ( कलगी ) के समान...** आहा...हा...! सिर पर मुकुट में चूलिका होती है न? इसी प्रकार यह विवेकरूपी दीपिका। आहा...हा...! विकल्प की जाति है, फिर जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी धर्म नहीं; वह अधर्म है। उससे (भिन्न) विवेक निर्मल दीपिका के प्रकाश द्वारा **यथास्थित**

**पदार्थ निश्चय से...** टीका में इतना लिया है, भाई! पहले कहा था न? पाठ में ऐसा लिया है - सूत्र और अर्थ, दो (लिये हैं)। अर्थात् क्या? कि शास्त्र के पाठ के अर्थ को यथार्थ जानना और पदार्थ जो कहते हैं, उसे यथार्थ जानना। यहाँ क्या कहना है? (समयसार) पन्द्रहवीं गाथा में (ऐसा लिया है) '**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।**' वहाँ द्रव्यश्रुत नहीं लिया, वरना तो द्रव्यश्रुत और भावश्रुत दोनों हैं, परन्तु वह स्वयं द्रव्यश्रुत है। '**जो पस्सदि अप्पाणं**' यह द्रव्यश्रुत शब्द है और इसका भाव, राग से भिन्न ऐसा भान, वह भावश्रुत है। यह भावश्रुत है, वह जैनशासन है। आहा...हा...! क्या कहा? इसका विवाद है।

ऐसा कि वहाँ अमृतचन्द्राचार्य ने यह द्रव्यश्रुत क्यों नहीं लिया? है न? भाई! बड़ा विवाद है। उन्होंने ऐसा क्यों नहीं लिया? और जयसेनाचार्य ने दोनों लिये, यह बड़ा विवाद है, परन्तु इसका अर्थ यह हुआ, भाई! '**जो पस्सदि अप्पाणं**' यही श्रुत-शब्द है। अब इसमें भाव कैसा है, उसकी बात ली है। बात समझ में आती है? आहा...हा...! '**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं**' यही आगम है, यह श्रुत है; इसलिए फिर इसे द्रव्यश्रुत में ऐसा कहना है, यह कहने का वहाँ आशय नहीं रहा। भाव है, उसे वहाँ कहा कि द्रव्यश्रुत में भाव यह कहा है। क्या समझ में आया? आहा...हा...! बड़ा विवाद है।

(संवत्) २०१४ के साल (यह) विवाद आया था। दिल्लीवाले (एक विद्वान कहते थे) ऐसा कि वहाँ पहले पन्द्रहवीं गाथा में तीन ही बोल कहे हैं। '**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।**' दूसरे दो बोल नहीं लिये तो पाँच अद्धर से कहाँ डालना? 'लाठी' थे तब बात आयी थी। २०१४ के साल की बात है। बहुत वर्ष हो गये। कितने हुए? (श्रोता : २२ वर्ष)। समझ में आया? अरे रे प्रभु! क्या करता है? सूत्र के शब्दों के अर्थ की भी अभी समझने की दरकार नहीं। ऐसा कि इसमें द्रव्यश्रुत में तीन ही बोल लिये हैं, (बाकी के) दो तो लिये नहीं परन्तु अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में तीन के पाँच किये हैं न? क्योंकि वहाँ दूसरे बोल कहने हैं, इसलिए तीन में पाँच को समाहित कर दिया है और '**अपदेससंतमज्झं**' कहना है। तो '**अपदेस**' यही द्रव्यश्रुत है। समझ में आया? और उसमें कहने का जो भाव है कि राग से रहित भगवान, भावश्रुत से आत्मा को, अबद्ध को जाने, उसने जैनशासन को देखा। आहा...हा...! समझ में आया? इसमें यह बड़ा विवाद था कि

नहीं; ऐसा नहीं। तीन है और पाँच कहाँ से निकालना? अमृतचन्द्राचार्य भी वहाँ अर्थ करने में उलझे हैं (-ऐसा वे कहते थे)। अरे रे! भाई! यह क्या करता है? ऐसा कहते थे। लाठी में बात आयी थी। १४ के साल में निकले थे। उस कसारा में उतरे थे न? वहाँ यह बात तब आयी थी, लो! तीन बोल हैं और पाँच कहाँ से निकाले? पाँच बोल चौदह में हैं, वे पन्द्रह में ले लेना। अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है और द्रव्यश्रुत शब्द वहाँ नहीं पड़ा तो यह '**अपदेससंतमज्झं**' (कहा है), वह द्रव्यश्रुत है। आहा...हा...!

**प्रश्न :** यह आपने कहाँ से ढूँढ निकाला?

**समाधान :** परन्तु '**अपदेससंतमज्झं**' लिखा है न? जयसेनाचार्य की टीका में '**अपदेस**' अर्थात् श्रुत (अर्थ किया है) अपने नीचे अर्थ किया है। समझ में आया? ऐसा विवाद, विवाद।

ऐसा कहकर उन्हें यह कहना था कि वहाँ पाँच बोल नहीं, वहाँ तीन ही कहना। ऐसा नहीं, पाँचों ही है। भाई! यह आगम के शब्दों का अर्थ ही ऐसा कहते हैं। '**अपदेस**'-कथन, वह द्रव्यश्रुत और मध्यस्थ शान्त वीतरागता भावश्रुत, वह सम्यग्ज्ञान है। आहा...हा...! उस भावश्रुतज्ञान द्वारा।

यहाँ यह कहा कि पदों को जैसा है, वैसा जानना और पद को जानने में जो वाच्य पदार्थ है, उसे भी यथार्थ जानना। समझ में आया? है न? पाठ में है, देखो! '**यथार्थपद -निश्चितः**' '**यथार्थपदनिश्चितः**' पद और पदार्थ-दो। भाई ने तो स्पष्ट अर्थ किया है - **सूत्र अर्थ सुनिश्चयी** हरिगीत। सूत्र और अर्थ। आगम को जो कहना है, उस आगम का अर्थ भलीभाँति निश्चय करना और उससे कहा हुआ जो पदार्थ है, उसका निश्चय करना। ऐसी बात है।

यह यहाँ कहते हैं **निर्मल विवेकरूपी दीपिका...** प्रकाश से राग के विकल्प से भिन्न। नयातिक्रान्त जो कहा, वह यह बात है। दूसरी..., तीसरी... बात की है। ऐसा हूँ और वैसा हूँ, पूर्णानन्द का नाथ अनन्त-अनन्त गम्भीर गुण से भरपूर भगवान, ऐसे अनन्त गुण का भण्डार प्रभु। आहा...हा...! ऐसा जो विकल्प करना, उसे भी छोड़कर दिव्यज्ञान द्वारा अन्दर ज्ञान से भिन्न कर। आहा...हा...! पक्षातिक्रान्त आया न? अतिक्रान्त है। तथापि यहाँ तो २७२ में यह कहा। 'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो' वहाँ विकल्पवाला नय नहीं लिया। वहाँ तो निश्चय वस्तु ही पूरी है, उसे

लिया है। आहा...हा...! बाकी सिद्धान्त में तो नय, सविकल्प और निर्विकल्प दो प्रकार के नय हैं; प्रमाण भी सविकल्प और निर्विकल्प प्रमाण भी दो प्रकार के हैं परन्तु यहाँ तो यह कहना है, प्रभु! जो आगम को, तीन लोक के नाथ के आगम में दिव्यध्वनि के ये शब्द आये, उन शब्दों को क्या कहना है—उसका पहले यथार्थ निर्णय करना। तेरी दृष्टि से नहीं परन्तु भगवान को क्या कहना है? (उस दृष्टि से निर्णय करना)। समझ में आया? इन पदों का निर्णय करना और अर्थों का निर्णय करना। पद ने बताये हुए अर्थ नौ, नौ पदार्थ, सात तत्त्व किस प्रकार है, उसका यथार्थ निर्णय अन्दर करना। आहा...हा...!

**विवेकरूपी दीपिका के प्रकाशवाला होने से यथास्थित पदार्थ निश्चय से...** यहाँ उस पद को समाहित कर दिया है। **यथास्थित पदार्थ निश्चय से...** पदार्थों का यथार्थ निश्चय हुआ। मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ; राग पुण्यतत्त्व है, वह भिन्न तत्त्व है; शरीर अजीवतत्त्व है; ज्ञान में वह नहीं—ऐसा नास्ति से स्व का ज्ञान होने पर, यह मेरे में नहीं—ऐसा नास्ति से उसका ज्ञान आ जाता है। समझ में आया? यहाँ चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की दिव्यज्योति के प्रकाश से... आहा...हा...! उसके द्वारा विवेक से **यथास्थित पदार्थ निश्चय से उत्सुकता का निवर्तन करके....** कैसे होगा और क्या होगा? ऐसी उत्सुकता छोड़कर, ऐसा ही है—ऐसा निर्णय कर लिया, कहते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! उत्सुकता अर्थात् इसे समझने में ऐसा होगा, ऐसा होगा—ऐसी जो उत्सुकता को निवर्तन करके; ऐसा ही है (-ऐसा निश्चय करके) आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** अगली गाथा में....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो मोक्ष की बात है; वह संसारतत्त्व है। यहाँ तो मोक्षमार्गी जीव को मोक्षतत्त्व कहा है। मोक्षमार्गी जीव को ही मोक्षतत्त्व कहा। मिथ्यादर्शन तत्त्ववाले को ही संसारतत्त्व कहा। आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म मार्ग है, भाई! अनन्त काल से भटका है। यह भटका, वह वस्तु के स्वरूप के बेभानपने से भटका है। आहा! कुछ की कुछ विपरीत खतौनी करके स्वच्छन्दता से कल्पना के अर्थ किये और स्वच्छन्दता से तत्त्वों का निर्णय किया। आहा...हा...! स्वच्छन्दता से पदार्थ जो सिद्धान्त के पद हैं, उनका स्वच्छन्दता से (निर्णय किया)। उन्हें क्या कहना है—ऐसा न लेकर, अपनी दृष्टि से उसका अर्थ कर डालना...

आहा...हा...! और फिर जो नौ पदार्थ हैं, उसमें पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। पुण्य भिन्न है, आत्मा भिन्न है, अजीव भिन्न है—ऐसे नव का-यथार्थ तत्त्व का निर्णय करना। यह तो आता है न? भाई! इसमें २४२ में आता है न? ज्ञेयतत्त्व और ज्ञानतत्त्व की प्रतीति। ज्ञानप्रधान कथन है न! ज्ञायकस्वरूप और ज्ञेयस्वरूप छह द्रव्य का यथार्थवस्तु का ज्ञान हो और यहाँ ज्ञायक है, इन दोनों की यथार्थ प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है। इस ज्ञानप्रधान कथन में दो लिये हैं। दर्शनप्रधान कथन में अकेला त्रिकाली भगवान ज्ञायकस्वभाव पूर्णानन्द से भरपूर प्रभु का अनुभव-निर्णय (करना), उसे सम्यग्दर्शन कहा है। समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **यथास्थित पदार्थ निश्चय से....** क्या कहते हैं? जैसा ज्ञायकस्वरूप चैतन्य है, जैसा दया, दान के विकल्प का पुण्यतत्त्व-बन्धतत्त्व है, उसे यथास्थित पदार्थ निश्चय से उत्सुकता निवर्तन करनी है। ऐसे यथार्थ निश्चय से... यह ऐसा होगा या यह ऐसा होगा, यह उत्सुकता छोड़ दी। आहा...हा...! अरे! ऐसी बातें हैं।

**मुमुक्षु :** अलौकिक बातें हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बातें तो ऐसी हैं। आहा! अनन्त काल के जन्म-मरण के अन्त की बातें हैं ये तो। उसमें-संसारतत्त्व के परिभ्रमण की-तत्त्व की बात थी। यह अब संसार के अन्त की बात है। आहा...हा...! संसारतत्त्व से विरुद्ध तत्त्व। आहा...हा...!

कहते हैं कि विवेकरूपी निर्मल। आहा...हा...! **दीपिका के प्रकाशवाला होने से यथास्थित पदार्थ निश्चय से....** यथार्थ पदार्थ के निश्चय से उत्सुकता का निवर्तन किया है। उसे अब समझना ऐसा है या ऐसा, यह सब उत्सुकता छोड़ दी है। आहा...हा...! आहा...हा...! समझ में आया? मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई! मोक्ष का मार्ग। वीतराग सर्वज्ञदेव, त्रिलोकनाथ ये बहुत अलौकिक बातें हैं! आहा! उत्सुकता का निवर्तन किया है, इसलिए **स्वरूपमंथर रहने से...** अब ऐसा होगा या वैसा होगा, ऐसी उत्सुकता छोड़ दी है। इससे स्वरूप में मंथर हो गया। आहा...हा...! है? (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में अर्थ है) ***स्वरूपमन्थर = स्वरूप में जमा हुआ [ मन्थर का अर्थ है सुस्त, आलसी। ]*** अन्दर में से निकलने को आलसी। अन्दर में से निकलने का आलसी, यह अप्रमादी है। आहा...हा...! मन्थर आता है न

अपने ? मन्थर आता है। अरूप, अगन्ध, अस्पर्श की गाथा है। उसमें यह मन्थर (कहा है)। जैसे ब्राह्मण लड्डू खाये और मन्थर मस्त पड़ा हो वैसे ये (स्वरूपमन्थर हैं)। अन्दर मस्त हो गये हैं। ज्ञान में इसे यथार्थपने का भान हो गया है, राग से भिन्न पड़कर मन्थर अर्थात् मस्त हो गया है। आहा...हा... ! आहा...हा... !

**स्वरूपमंथर रहने से....** है ? सुस्त, धीमा ***( यह श्रमण स्वरूप में तृप्त-तृप्त होने से मानो वह स्वरूप से बाहर निकलने को सुस्त या आलसी हो,.... )*** देखो ! बाहर निकलने का आलसी, अन्दर में रहने का पुरुषार्थी। आहा...हा... ! जहाँ आनन्द का स्वाद आया, वहाँ चिपट गया अब, कहते हैं। आहा...हा... ! यथार्थ निश्चय में अतीन्द्रिय आनन्द का रस चढ़ने पर दूसरे ज्ञेय का रस उतर गया है। आहा...हा... ! समझ में आये उतना समझना, बापू ! परम सत्य तो ऐसा है। आहा...हा... ! ये कोई बातों से बड़ा हो-ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

**स्वरूपमंथर रहने से सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ,...** इसके शब्दार्थ का नीचे अर्थ किया है, उसका भले नीचे अर्थ नहीं किया परन्तु पहले शब्दार्थ किया है, उसमें प्रशान्त का अर्थ किया है। प्रशान्तात्मा है न ? नीचे फुटनोट है। ***प्रशान्तात्मा = प्रशान्तस्वरूप; प्रशान्तमूर्ति; उपशान्त; स्थिर हुआ।*** आहा...हा... ! आत्मा को राग से भिन्न करके विवेक ज्योति द्वारा अन्दर में स्थिर हो गया, कहते हैं। आहा...हा... ! इसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई ! आहा...हा... !

ये आठ वर्ष के राजकुमार-चक्रवर्ती के पुत्र भी जब समकित प्राप्त करते हैं... आहा...हा... ! मस्त हो जाते हैं। हम तो अब माता ! आहा...हा... ! तुम्हारे पालन-पोषण में अभी तक रहे, अब हम हमारा पालन-पोषण करने वन में चले जायेंगे। जहाँ बाघ और भेड़िया है वहाँ हम रहेंगे। आहा ! वे स्वरूप में मन्थर हो गये। उत्कृष्ट साधु लिये न ! आहा...हा... ! माता से आज्ञा माँगते हुए (ऐसा कहते हैं)। इसमें पहले आ गया है, है शरीर की जननी ! शरीर की जननी, मेरी नहीं; मैं तो आत्मा हूँ। माता ! मुझे आज्ञा दे, माँ ! हम अपने आनन्दस्वरूप में रमने वन में चले जायेंगे। जहाँ बाघ और भेड़िया हो, वहाँ अकेले रहेंगे, जहाँ गद्दे और बिस्तर तो नहीं परन्तु कंकर और काँटे हैं, वहाँ हम जायेंगे। आहा...हा... ! वे कंकर और काँटे नहीं परन्तु हम तो अनन्त आनन्द में जायेंगे। आहा...हा... ! आहा...हा... ! आनन्द में मस्त हो गये हैं, कहते हैं।

अन्यमत में एक बात आती है। श्वेताम्बर में 'भगवती' में एक (बात) आती है। अतिमुक्त कुमार, है न राजकुमार! छोटी उम्र का है। बात तो सब समान ही है, वह छोटी उम्र में दीक्षित होता है, फिर सन्त के साथ मल विसर्जन के लिये जाता है, वहाँ वर्षा होती है। बालक है न इसलिए ऐसी कल्पित बात की है। मुझे तो इसमें से दूसरा कहना है। ए वडता निकलते हैं, वहाँ वर्षा बरसती है तो बालक साधु खड़ा रहकर पाल आड़ी करता है। वे साधु साथ में हैं, वे चले जाते हैं, ये क्या करता है? उसमें पात्र रखता है। पाल बाँधी, पानी इकट्ठा हो न? 'नाव तरे रे मेरी नाव तरे, ऐसे मुनिवर जल क्या खेद करे, ए मोह के कर्म के चाला मुनिवर दो ए नानडिया रे बाला....' अतिमुक्त और गजसुकुमार, दोनों। आहा...! 'नाव तरे रे मेरी नाव तरे' वह पानी में तैरती है परन्तु ये ज्ञान-आनन्द में तैरते हैं। आहा...हा...!

विश्व पर तैरता (ऐसा) आता है न? भाई! १४४ में विश्व पर तैरता, ऊपर... ऊपर... ऊपर... आहा...हा...! अन्दर चैतन्य के आनन्द के रस में चढ़ता हुआ आहा...हा...! उत्कृष्ट बात ली है न? समकितसहित चारित्र की बात, यहाँ मोक्षतत्त्व की ली है न? फिर तीनों होकर मोक्षमार्ग है, उसे यहाँ मोक्षतत्त्व कहने में आता है। समझ में आया? आहा...हा...! इस स्वरूप में-आनन्द में ऐसा मस्त हो जाता है... आहा...हा...! उपशान्त आत्मा, प्रशान्तस्वरूप, प्रशान्तमूर्ति, उपशान्त स्थिर हुआ, ऐसा **वर्तता हुआ,... 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ,...** आहा...हा...! आनन्द की धारा में वर्तता हुआ। अतीन्द्रिय उपशम के रस में चढ़ता हुआ। आहा..हा...! जैसे पर्वत चढ़ते हैं, वैसे अन्दर से उपशमरस में चढ़ता जाता है। आहा...हा...! उस उपशमरस में चढ़े हुए। आहा...हा...! ऐसा **वर्तता हुआ,...** (अर्थात्) पुरुषार्थ से, ऐसा कहते हैं। वर्तता हुआ अर्थात्? अपने पुरुषार्थ से अन्दर उपशमरस में वर्तता हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द के रस में वर्तता हुआ। आहा...हा...!

वह जब वैराग्य होता है, तब माता को कहता है... आहा...हा...! यह अपने पहले आ गया है। माता! आज्ञा देना, माता! शरीर की जननी, माता! परन्तु हम कौलकरार करते हैं माता! दूसरी माँ नहीं बनायेंगे। उत्तराध्ययन का चौदहवाँ अध्ययन है, (उसमें) एक गाथा आती थी। यह तो उस दिन, चलता था—'अजैव धम्मम् पडिवज्ज्यामो, जहि पुवनां पुनम् भवामो,...' हे माता! 'अजैव धम्मम् पडिवज्ज्यामो' मैं आज ही आनन्द के नाथ के सागर में डोलने चारित्र को अंगीकार करूँगा।

आहा...हा...! 'अजैव धम्मम् पडिवज्ज्यामो, जहि पुवनां' जननी! हम कहते हैं, उस स्वरूप की रमणता को हम रमने जाते हैं। फिर से भव नहीं करेंगे। 'जहि पुवनां पुनम् भवामो,...' बोटाद में चलता था, तब हजारों लोग (एकत्रित होते) ३०१ घर। व्याख्यान में कानजीस्वामी बैठे हैं (ऐसा पता पड़े तो) लोग समाते नहीं। यह तो (संवत्) १९७६, १९८० की बात है। आहा..हा...! ऐसी बात है।

जहि पुवनां पुनम् भवामो,...' माता! 'अणागयम्...' अप्राप्त क्या वस्तु रह गयी? माता! अप्राप्त क्या वस्तु रह गयी है? कि अब हम उसमें रुकें। उत्तराध्ययन की गाथा है, उसका अर्थ तब करते थे। '....' माता! जननी! श्रद्धा कर और हमारा राग छोड़ अब तू! आहा...हा...! हमारे प्रति राग छोड़, जननी! अब हम अन्तर की वीतराग दशा में रमने जाते हैं। बालकपन में क्रीड़ा की परन्तु वह क्रीड़ा अब छोड़ते हैं। आहा..हा...! अन्त में माता कहती है बेटा! तूने जो मार्ग लिया, बेटा! वह मार्ग हमको होओ! जा, पुत्र, जा! परन्तु वह मार्ग हमें होओ! आहा...हा...! हम व्यापार-धन्धे में (रहते हैं)। तुम्हारे पिता ने किया ऐसा नहीं। आहा... हा...! पुत्र! जिस मार्ग में जा रहे हो, भाई! आहा! उस अन्तर के आनन्द के झूले में झूलने प्रभु तुम जा रहे हो, जा, भाई! जा, हमें भी वह मार्ग होओ। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि जहाँ अन्दर साधु होता है... आहा...हा...! मोक्षतत्त्व का वर्णन है न! आहा..! स्वरूप में मन्थर—मस्त हो जाता है। जैसे चूरमा के चार -पाँच लड्डू खाये हों... आहा...हा...! और जैसे ब्राह्मण मस्त होकर चल नहीं सकता, कठिन-कठिन ऐसे (चले), वैसे अन्दर मस्त होकर राग में नहीं आ सकता; स्थिरता में / रमणता में अन्दर रम गया है। आहा...हा...! यह यहाँ कहते हैं, हों!

**सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता....** क्या कहा यह? सतत्-निरन्तर भगवान शान्तरस के पान पीता हुआ। आहा...हा...! जैसे गन्ने के रस को गटक... गटक... गटक... गटक... पीवे वैसे। इसी प्रकार हम अपने अतीन्द्रिय आनन्द को गटक... गटक... पीने के लिये, माता! निकलते हैं। आहा...हा...! अब इसमें तुम्हारे कहाँ व्यापार करना रहा? आहा...हा...! ऐसा **सतत...** है न? सतत.. आहा...हा...! धन्य अवसर! धन्य काल! आहा...हा..! **स्वरूपमंथर रहने से....** आहा...हा...! स्वरूप में डूब गया हुआ, जम गया हुआ, जम गया हुआ। आहा...हा...! दो-तीन शब्द भाई

ने प्रयोग किये हैं। (एक विद्वान ने) 'रमने' शब्द में दो तीन शब्द प्रयोग किये हैं, जम गया, रम गया, स्थिर हो गया—ऐसे शब्द प्रयोग किये हैं। आहा!

**सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ, स्वरूप में एक में ही अभिमुखरूप से...** क्या कहते हैं अब? स्वरूप भगवान आनन्द का नाथ, उसमें-एक में ही अभिमुख। आहा! उसके सन्मुख अकेला वर्तता हुआ। आहा...हा...! राग और निमित्त की ओर से विमुख होकर, भगवान त्रिलोकनाथ सच्चिदानन्द प्रभु के सन्मुख होकर अब रमने लगा। आहा...हा...! अभिमुखरूप से... है? **एक में ही...** शब्द है। आहा...हा...! राग का अंश भी है और यह भी है - ऐसा नहीं। आहा...हा...!

अरे! पंचम काल के सन्त, पंचम काल के श्रोता को, (वर्तमान) मुक्ति नहीं और ऐसी (मुक्ति की) बातें करें! मुक्ति है, है। मुक्ति है, है। सुन! कहते हैं। पंचम काल के श्रोता को कहते हैं या नहीं? आहा...हा...! और उस ३८ वीं, ९२ वीं गाथा में ऐसा लिया है, सन्तों ने अप्रतिबुद्ध को यह बात की अन्दर से और जब उछल गया... आहा...हा...! (तब वह ऐसा कहता है) अब हम इस मार्ग में आये हैं, वहाँ से वापस गिरनेवाले नहीं हैं। अरे! पंचम काल के सन्त और पंचम काल के ज्ञानी, भगवान का साक्षात्कार किये बिना तुम ऐसी बातें करोगे! (समयसार गाथा) ३८ में कहा है, फिर से मिथ्यात्व का अंकुर अब उत्पन्न होनेवाला नहीं है। आहा! हम जिस रास्ते में गये, वहाँ से अब फिरनेवाले नहीं हैं। आहा...हा...! और जो हमें प्रिय लगा है, उस प्रिय को अब हम छोड़नेवाले नहीं हैं। आहा...हा...! (श्रोता : प्रभु आप भी...) बहुत जगह श्लोक में आता है। यह हुआ, इसलिए अप्रतिहत हो गया है। कलश में आता है। अप्रतिहत की ही बात ली है। एक आस्रव अधिकार में जरा बतलाया है, 'नयपरिहीणों'... एक गाथा ली है, वह तो ज्ञान कराया है। शुद्धनय से परिभ्रष्ट होता है इतना। आस्रव (अधिकार में) एक (गाथा) है - नयपरिहीणो। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि जिस मार्ग में हम गये हैं, अब वह मार्ग हमें बदले ऐसा नहीं है। हम भगवान की साक्षी से, आत्मा की साक्षी से कहते हैं। आहा...हा...! वह अप्रतिबुद्ध श्रोता पंचम काल का, उसे गुरु ने समझाया और इतने मार्ग में तू चला गया! पंचम काल के और... काल-फाल यहाँ है कहाँ? काल कैसा, काल कैसा, रात कैसी, दिन कैसा? वह तो आनन्द का नाथ प्रकाश की मूर्ति है, उसे काल कहाँ

लागू पड़ता है ? उसे मुक्ति नहीं, वह भी कहाँ लागू पड़ता है ? वह स्वयं मुक्तस्वरूप ही है। आहा...हा... !

भगवान मुक्तस्वरूप है, प्रभु ! 'मुक्तएव' आता है न ? कलश-टीका में— पुण्य-पाप अधिकार में आता है। जो मुक्तस्वरूप हो, उस मुक्तस्वभाव से मुक्ति प्राप्त करता है। जो बन्धस्वभाव हो, वह बन्धपने को प्राप्त करता है। पुण्य-पाप अधिकार में है। आहा...हा... ! कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में गजब बात की है।

कहते हैं **स्वरूप में एक में ही अभिमुखरूप से....** आहा...हा... ! मुनि अपनी बात करते हैं, वैसे श्रोता भी समझे हैं, तब भी अपनी बात इस प्रकार से करते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह वार्ता नहीं, बापू ! **स्वरूप में एक में ही अभिमुखरूप से....** क्या कहा है ? अभिमुख (अर्थात्) सन्मुख। सच्चिदानन्द महा सरोवर भगवान पूरा समुद्र भरा है। अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, अतीन्द्रिय ज्ञान का पिण्ड प्रभु, उसमें अभिमुख, उसके अभिमुख-सन्मुख होकर पड़ा हूँ। आहा...हा... ! यह पंचम काल के साधु कहते हैं ? ये अमृतचन्द्राचार्य तो अभी हजार वर्ष पहले हुए हैं। आहा...हा... !

भगवान ! सत् तो सरल है, सर्वत्र है। श्रीमद् में आता है। सत्, सत् है; सत्, सर्वत्र है; सत्, सरल है, बतानेवाला गुरु चाहिए, इतनी बात की है। आहा...हा... ! उसका निशान बतानेवाला चाहिए कि प्रभु ! तू अन्दर यहाँ जा। खेलते तब कहते, मामा का घर कितना ? कि दीपक जले उतना, ऐसा कहते, पता है ? मामा का घर कितना ? दीपक जले इतना, आत्मा का घर कितना ? कि यह चैतन्य प्रकाश जलहले उतना। छोटी उम्र में सब आता था या नहीं ? हमारे मामा का घर साथ में था, गृहस्थ थे, मामा और सब पैसेवाले थे, फिर सब गुजर गये। सब गौशाला में दे दिया। लड़का-लड़की नहीं थे। सब पैसेवाले थे। काका के लड़के भी पैसेवाले थे, बहुत मकान और जमीन सब गौशाला में दे दिये। आहा...हा... ! वहाँ उस समय खेलते थे तब कहते थे मामा का घर कितना ? कि दीपक जले उतना, देख ! दीपक का प्रकाश। वैसे आत्मा का घर कितना ? कि चैतन्य प्रकाश जले इतना। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं (एक में ही) **अभिमुखरूप से विचरता ( क्रीड़ा करता ) होने से 'अयथाचार रहित'....** (अर्थात्) विपरीत आचाररहित। ज्ञान, दर्शन,

आनन्दादि जो निश्चय आचरण हैं, उनसे रहित (अयथाचार)। (उस अयथाचार से रहित) **वर्तता हुआ नित्य ज्ञानी हो,....** आहा...हा...! यह नित्य वस्तु है, उसका ज्ञान हुआ, इसलिए नित्य ज्ञानी हो गया। आहा! उसे ज्ञान करना पड़े और भेदज्ञान करना पड़े-ऐसा अब नहीं है। आहा! वह **नित्य ज्ञानी हो, वास्तव में उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना,...** लो, उसे मोक्षतत्त्व कहा। आहा...हा...! ये... पंचम काल के साधु, मोक्षतत्त्व। आहा...हा...! **वास्तव में उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले...** यह लिया है न इसमें अधिक? भाई! सम्पूर्ण साधु। सातवें की विशेष (बात है)। एकदम स्वरूप में स्थिर हो गया। भले आगे नहीं जा सका परन्तु वह सम्पूर्ण साधु वहाँ सातवें में आ गया। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** पंचम काल की....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पंचम काल-फाल यहाँ नहीं होता। यहाँ काल को ग्रास कर गया है, भगवान! आहा...हा...!

**नित्य ज्ञानी हो,....** नित्य ज्ञानी क्यों कहा? कि हमेशा-हमेशा वह ज्ञानधारा वर्तती है अब। किसी समय ज्ञाता और किसी समय राग में, ऐसा अब नहीं है। आहा...हा...! ये पंचम काल के सन्त / दिगम्बर सन्त ऐसी बातें करते हैं! और एक ओर कहते हैं कि मोक्ष है नहीं तथा एक ओर कहते हैं कि ऐसे को हम मोक्षतत्त्व कहते (हैं) भाई! आहा...हा...! **क्योंकि पहले के सकल कर्मों के फल उसने लीलामात्र से नष्ट कर दिये हैं...** क्या कहते हैं? अन्तर सम्पूर्ण की-चारित्र की रमणता हुई है। आहा...हा...! सातवें के योग्य। आठवाँ तो अभी पंचम काल में है नहीं, परन्तु उसे सम्पूर्ण साधु कहा है।

ऐसे श्रमण को **सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना,....** उसे तो है कि हम तो मोक्षतत्त्व ही हैं, अल्प काल में मोक्ष होनेवाला है, उसे गौण करके वह स्वयं ही मोक्षतत्त्व है (ऐसा कहा)। साक्षात् मोक्षतत्त्व है, वर्तमान, ऐसा कहते हैं। साक्षात् श्रमण है। सीधी दशा अन्दर प्रगट हुई है - ऐसा कहते हैं। वेदन में सीधा है। आहा...हा...! साक्षात् श्रमण अर्थात् अनुभव, अन्दर आनन्द का अनुभव साक्षात् हो गया है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। उसमें एक (बात) आती है न कि इस काल में ध्यान नहीं है-ऐसा कहनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। आता है? भाई! आत्मानुशासन में आता है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आता है, कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है, अष्टपाहुड़ में कहा है। आहा...हा...! आज भी स्वर्ग में लोकान्तिक देव होंगे - ऐसा आता है न? आहा...हा...! वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे। आहा...हा...! अष्टपाहुड़ में पाठ है। वह अपनी जाति का है। समझ में आया?

इस **( सकल कर्मों के फल.... ) नष्ट कर दिये हैं...** अब तो क्या कहते हैं? ऐसा साक्षात् श्रमण-सन्तपना प्रगट हुआ है। **क्योंकि पहले के सकल कर्मों के फल उसने लीलामात्र से नष्ट कर दिये हैं....** हठ से नहीं। आहा...हा...! आनन्द की लहर में रहते-रहते कर्म का नाश हो गया है। कष्ट सहन करना पड़ा है- ऐसा नहीं, कहते हैं। आहा...हा...!

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## मुनिराज की क्रीड़ा और उनका क्रीड़ास्थल

जैसे कोई फूलों की सुगन्ध लेने बाग में जाए और वहाँ उनकी सौरभ में तल्लीन हो जाए, वैसे ही **मुनिराज राग की क्रीड़ा छोड़कर चैतन्य के बाग में खेलते-खेलते कर्म के फल का नाश करते हैं और अतीन्द्रिय आनन्द के फल का वेदन करते हैं, अनुभव करते हैं।** चैतन्य के बाग में क्रीड़ा करनेवाले मुनिराज को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र हुआ है, आनन्दादि अनन्त गुण खिल उठे हैं, अन्तर्निमग्नदशा तीव्र प्रगट हुई है। **अहा! मुनिपना बड़ी अद्भुत वस्तु है!**

**भाई! बाग में हजारों पुष्पवृक्ष होते हैं, उसी प्रकार मुनिराज को भगवान आत्मा के बाग में अनन्त गुण निर्मल पर्यायोंरूप से खिल उठे हैं, क्योंकि चारित्र है ना! मुनिराज आत्म-उद्यान में खेलते-खेलते, लीला करते-करते, किञ्चित दुःख बिना अन्तर में अनन्त आनन्द की धारा में निमग्न रहकर कर्म के फल का नाश करते हैं।** वास्तव में तो उस समय कर्मफल उत्पन्न ही नहीं होता, उसे 'नाश करते हैं' — ऐसा कहा जाता है।

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २०९*

**प्रवचन नं. २५७, गाथा-२७४**

**कार्तिक सुद ४, गुरुवार, २५ अक्टूबर १९७८**

'प्रवचनसार', २७४ गाथा। फिर से। **प्रथम तो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के युगपद्पनेरूप से प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है—ऐसा जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य, 'शुद्ध' के ही होता है;....** क्या कहते हैं? कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकतारूप **प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है—ऐसा जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य,....** (अर्थात्) साधु, वह शुद्ध उपयोगी होता है। शुद्ध उपयोगी साधु होता है। पाठ है न? **'सुद्धस्स सामण्णं'।**

यहाँ तो अपने अभी (एक साधु के द्वारा बनायी) टीका ली थी न? भाई! (उन्होंने) अभी 'जयसेनाचार्य' की टीका बनायी है। उसमें तो उन्होंने ऐसा लिया है कि चौथे गुणस्थान में भी टीका की अपेक्षा से शुद्ध उपयोग लागू होता है। टीका में है। ३४१ गाथा है न? वही निकला, देखो! 'अध्यात्म भाषा में यही शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम...' पाठ में 'शुद्धात्माभिमुख परिणाम' है न? आगमभाषा से वह कर्म है। अध्यात्मभाषा से शुद्धात्म-अभिमुख परिणाम (है)। वह टीका में पाठ है। 'शुद्धात्मा के अभिमुख परिणामस्वरूप शुद्ध उपयोग नाम पाता है।' थोड़ी सूक्ष्म बात है।

सम्यग्दर्शन होता है, वह शुद्ध उपयोग में होता है-ऐसा टीकाकार सिद्ध करते हैं। आहा...हा...! (उस साधु ने) अर्थ किया है। 'इस टीकाकार के उल्लेख से...' उनका विशेषार्थ है। 'चतुर्थ गुणस्थान में ही...' चतुर्थ गुणस्थान में ही 'शुद्ध उपयोग हो जाना सिद्ध होता है।' समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! न्याय से तो वह बात है परन्तु लोगों को बाहर की व्यवहार की बात इतनी बैठती है; इसलिए यह बात गले उतरती नहीं। शुभ-अशुभ राग (है वह) अशुद्ध उपयोग (है), उस अशुद्ध उपयोग

से हटकर शुद्धात्माभिमुख परिणाम हुआ, वह शुद्ध उपयोग ही है। भाई! इन्होंने यह डाला है। (इन साधु ने) स्वयं ने डाला है। बाद में लिखा है, पंचम गुणस्थान के ऊपर (की बात) टीका में लिखी है। लेकिन इस टीका के हिसाब से चौथे गुणस्थान में शुद्ध उपयोग है, ऐसा लागू होता है। आहा...हा..! वर्तमान में इतना विवाद चल रहा है। शास्त्र में शुद्धात्माभिमुख... अध्यात्मभाषा से ३२० गाथा (में लिखा है), इसमें ३४१ है। उसमें २१ ज्यादा है। ध्यान से, शान्ति से सुनो!

सम्यग्दर्शन जब चौथे गुणस्थान में उत्पन्न होता है, तब शुद्धात्माभिमुख परिणाम (होते हैं, ऐसा) टीका में है। आगमभाषा से अधःकरण, अपूर्वकरण और ... परन्तु अध्यात्मभाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणाम है। उसका अर्थ यहाँ (ये वर्तमान साधु) कहते हैं कि टीकाकार का आशय ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन शुद्ध उपयोग में होता है। आहा...हा...! क्यों? कि शुभ और अशुभ राग विकल्प है, वह अशुद्ध उपयोग है। उससे हटकर शुद्ध चैतन्यमूर्ति के अभिमुख परिणाम होता है, अभिमुख—शुद्ध पूर्ण स्वरूप के अभिमुख (परिणाम)। जो परसन्मुख था, शुभाशुभराग में परिणाम में (था), उस परिणाम से हटकर (शुद्धात्मा के) अभिमुख—शुद्ध चैतन्य के अभिमुख। (ऐसा) पाठ है। यह कहा न?

ऐसे लिखा है, देखो! 'वही शुद्धात्मा के अभिमुख परिणामस्वरूप शुद्ध उपयोग नाम पाता है।' शुद्धात्मा-अभिमुख परिणाम, (ऐसा) शब्द टीका में बहुत है। उसका नाम शुद्ध उपयोग नाम होता है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...! आत्मा ज्ञायक चिदानन्द पूर्ण स्वरूप, उसके अभिमुख परिणाम हुआ, वह शुद्ध उपयोग है। समझ में आया? इस शुद्ध उपयोग में सम्यग्दर्शन की प्रतीति होती है। आहा...हा...!

यहाँ '**सुद्धस्स**' कहा न? '**सुद्धस्स सामण्णं**' पाठ में क्या है? शब्द 'शुद्ध' है, किन्तु उसका अर्थ शुद्ध उपयोग है। पाठ में ऐसा पाठ है कि '**सुद्धस्स सामण्णं**' शुद्ध को साधुपना होता है। उसका अर्थ कि शुद्ध उपयोगी जीव को साधुपना होता है। आहा...हा...! शुद्ध उपयोगी को साधुपना होता है, उसमें ३२० गाथा में निकाला कि यहाँ तो ३२० गाथा में जो शुद्ध अभिमुख परिणाम जो टीकाकार लेते हैं, उसका अर्थ है कि शुद्ध स्वरूप के अभिमुख परिणाम, शुद्ध उपयोग है। भाई! आहा...हा...! वर्तमान में इसका बड़ा विवाद (है)। जिसका व्यवहार का पक्ष हे, उसे यह बात नहीं बैठे। दृष्टि अनादि की व्यवहार की है।

यहाँ तो टीकाकार शुद्ध अभिमुख परिणाम जब कहते हैं... (ये वर्तमान साधु ने)... 'अमृतचन्द्राचार्य' की टीका नहीं की है, क्योंकि 'अमृतचन्द्राचार्य' की टीका तो बहुत गम्भीर और गहरी है और 'जयसेनाचार्य' की टीका साधक-साध्य, व्यवहार साधक-निश्चय साध्य, ऐसा शब्द आता है तो इसका अर्थ किया। किन्तु साध्य-साधक में पहले जब उपयोग से—शुद्ध उपयोग से आत्मा का अनुभव हुआ, तब जो राग बाकी रहा, उसको व्यवहार साधक का आरोप कहकर साधक कहा है। किन्तु मूल में तो शुद्ध अभिमुख परिणाम होता है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई!

जो उपयोग शुभ और अशुभ राग में अनादि का है, वह तो अशुद्ध उपयोग है। अब, यहाँ टीकाकार कहते हैं कि शुद्धात्म-अभिमुख परिणाम। उसका अर्थ क्या? शुद्ध आत्मा भगवान पूर्ण स्वरूप, उस ओर अभिमुख—सन्मुख, अभि—सन्मुख परिणाम, उसका नाम शुद्ध उपयोग है। शुद्ध उपयोग में सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। पीछे विकल्प होता है, तब शुद्ध उपयोग नहीं रहता, किन्तु शुद्धपरिणति रहती है। समझ में आया? शुद्धपरिणति रहती है। राग तो लड़ाई का भी समकिती को आता है, विषय का भी राग आता है। छियानवे हजार स्त्री का राग है, किन्तु उस विकल्प में दोष है, राग अपना स्वरूप नहीं, ऐसा समकिती जानते हैं। मेरी चीज नहीं, मेरी चीज में वह नहीं; मैं तो उसको जानने-देखनेवाला ज्ञाता-दृष्टा हूँ (ऐसा जानते हैं)। ऐसे सम्यग्दृष्टि (का) शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणाम होता है, उसको शुद्ध उपयोग कहने में आता है, यहाँ लिखा है। समझ में आया? देखो!

'वही अध्यात्मभाषा में...' आगमभाषा में तीन करण लिये हैं। 'अध्यात्मभाषा में वही शुद्धात्मा के अभिमुख परिणामस्वरूप शुद्ध उपयोग नाम पाता है।' यहाँ तीन कहे हैं। वह बात बहुत बार पहले की है। चिह्न किये हैं, यह पढ़कर चिह्न किये हैं। 'क्योंकि यह टीकाकार के उल्लेख से चतुर्थ गुणस्थान में ही...' सम्यग्दर्शन 'चतुर्थ गुणस्थान में ही शुद्ध उपयोग हो जाना...' शुद्ध उपयोग हो जाना, 'सिद्ध होता है।' शुद्ध उपयोग हो जाना ही सिद्ध होता है। आहा...हा...!

यहाँ जो कहते हैं कि '**सुद्धस्स**' सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकाग्रता, युगपद् एकाग्रता प्रवृत्ति, वह शुद्ध उपयोग (है)। वह शुद्ध उपयोग है, वह श्रामण्यपना

है, वह साधुपना (है)। शुद्ध उपयोग है, वह साधुपना (है)। पंच महाव्रत के विकल्प साधुपना है नहीं। आहा...हा...! '**सुद्धस्स सामण्णं**' पाठ है? शब्द 'शुद्ध' है। टीकाकार ने (अर्थ) किया कि शुद्ध उपयोग है वह श्रामण्य है। सूक्ष्म बात है, प्रभु!

**मुमुक्षु :** इसका अर्थ तो यह हुआ कि श्रमण को शुद्ध उपयोग होता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पहले चौथे गुणस्थान में कहा। इसलिए तो पहले यह बताया। यहाँ तो तीनों की एकता होती है, तब शुद्ध उपयोगी साधु कहते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन में पहले क्या है? समझ में आया? विस्तार (से लिखा है)।

**मुमुक्षु :** ये साधु पहले पण्डित थे, फिर साधु हुए।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पहले वे ब्रह्मचारी थे, मालूम है। पहले ब्रह्मचारी थे, मालूम है। बाद में साधु हुए। उसे 'अमृतचन्द्राचार्य' की कठिन लगी, इसलिए इसका अर्थ किया। उसके शिष्य भी कहते हैं कि एक हजार वर्ष तक 'कुन्दकुन्दाचार्य' की टीका नहीं हुई, क्यों? कि उनकी कोई चीज बाहर में मान्य नहीं थी। आहा...हा...! इसलिए एक हजार साल के बाद 'अमृतचन्द्राचार्य' काष्ठासंघी थे उन्होंने टीका बनायी, ऐसा कहते हैं। अरे...रे...रे...! प्रभु! प्रभु! क्या करते हो? 'अमृतचन्द्राचार्य' की टीका...

**मुमुक्षु :** वे तो मूलसंघ के थे।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आ...हा...हा...! मूलसंघ के आमन्या के, 'कुन्दकुन्दाचार्य' की आमन्या के थे। 'जयसेनाचार्य' की टीका में व्यवहार साधक, निश्चय साध्य, ऐसा आता है, वह उसे बैठता है, रुचता है। लेकिन वह साधक क्यों कहा? कि अन्तर में राग से भिन्न होकर शुद्ध उपयोग का दर्शन हुआ या शुद्ध उपयोग से चारित्र हुआ, तब उसको जो राग बाकी रहा (उसे), व्यवहार का आरोप देकर साधक कहने में आया। समझ में आया?

**मुमुक्षु :** ऐसा अर्थ आप करते हो।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ऐसा है। 'द्रव्यसंग्रह' की ४७ वीं गाथा (है)। ४७ समझते हैं? चार और सात—४७। उसमें ऐसा है कि '**दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।**' यह गाथा है। '**दुविहं पि मोक्खहेउं**' दो प्रकार का

निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग। '**झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।**' ऐसा पाठ है। 'नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती'। ध्यान में प्राप्त होता है उसका अर्थ क्या हुआ? कि उपयोग अन्तर में गया तब निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और वहाँ राग बाकी है, उसको व्यवहार मोक्षमार्ग का आरोप आया। समझ में आया?

**मुमुक्षु :** चौथे में मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं हुआ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह चौथे (गुणस्थान) से शुरु हो गया है। 'कलश टीका' में 'राजमल्लजी' ने तीन बार लिया है। आप कहते हो कि मोक्षमार्ग तीन हैं और आप तो सम्यग्दर्शन की ही व्याख्या बारम्बार करते हो। 'राजमल्लजी' की टीका में है। हजारों शास्त्र देखे हैं। आप कहते हो कि शुद्ध उपयोग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के समय होता है और यहाँ तो कहते हो कि सम्यग्दर्शन में शुद्ध उपयोग (होता है, ऐसा) कहते हो। सम्यग्दर्शन में तीनों मार्ग को कहते हैं। क्या कहा? टीका में दो-तीन जगह पर है।

शास्त्र में तो निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को मोक्षमार्ग कहा और आप तो सम्यग्दर्शन में तीनों लगा देते हो। तो सम्यग्दर्शन में तीनों कहाँ से आया? 'राजमल्लजी' की टीका में है। तीनों आया, सुन तो सही। उपयोग अन्दर में गया तो सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ और स्वरूपाचरण की स्थिरता भी अनन्तानुबन्धी के अभाव के कारण हुई। इस कारण से चारित्र का अंश भी साथ में आया। संयम नाम प्राप्त हो, ऐसा नहीं, परन्तु स्वरूपाचरण का चारित्र तो साथ में आया। आहा...हा...! उसका भी विवाद करते हैं।

**मुमुक्षु :** 'मोक्षमार्गप्रकाशक' का वे आधार देते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वहाँ जो पीछे लिया है, वहाँ लिया है, मालूम है। वह तो तीनों पूर्ण होते हैं, तब वास्तविक मोक्षमार्ग है। ऐसा बताया है। मालूम है। यहाँ तो सब पढ़ा है।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ चारित्र का एक अंश भी आया। स्वरूपाचरण वहाँ हुआ। क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया। सम्यग्दर्शन होने पर शुद्ध उपयोग में तो द्रव्य सारा जो अनन्त गुण का पिण्ड पूर्ण स्वरूप है, उसका जहाँ अन्तर वेदन—अनुभव में शुद्ध उपयोग में प्रतीति आयी तो गुण की जितनी संख्या

है, उन सब गुण की संख्या का पर्याय में एक अंश व्यक्तरूप से प्रगट होता है। एक अंश व्यक्त होता है तो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी आया, वीर्य भी आया। आ...हा...हा...! समझ में आया? प्रभुता का अंश भी व्यक्त में आया। अन्दर में ईश्वरगुण है न? प्रभुता का गुण भी उसमें आया। अनन्त गुण जो हैं, भाव-अभाव आदि अनन्त गुण—शक्ति जो हैं, उन सब गुण—शक्ति की व्यक्तता आंशिकरूप से पर्याय में आयी। समझ में आया? आ...हा...! क्या हो? लोगों ने पूरा मार्ग विपरीत कर दिया।

सत्य तो यह है कि सम्यग्दर्शन में... 'श्रीमद्' ने ऐसा कहा कि, 'सर्व गुणांश ते समकित'। उसका अर्थ यह है। और 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में ऐसा कहा कि चौथे गुणस्थान में ज्ञानादि गुण का एक अंश व्यक्त—प्रगट होता है। केवलज्ञानी को पूर्ण ज्ञानादि व्यक्त होता है। ऐसा 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में है। समझ में आया? वह तो वही अर्थ हुआ। 'श्रीमद्' ने कहा कि, 'सर्व गुणांश ते समकित।' जितने गुण हैं, उनकी व्यक्तता उसमें प्रगट हो, तब सम्यग्दर्शन कहने में आता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन की एक पर्याय श्रद्धागुण की जो प्रगट हुई, उसमें चारित्रगुण की पर्याय—स्थिरता भी हुई, आनन्दगुण का भी आनन्द आया, चारित्र—शान्ति का अंश भी आया, प्रभुता का—ईश्वरता का अंश आया। कर्ता, कर्म, करण आदि शक्ति का अंश पर्याय में आया। क्या हो? लोगों ने मार्ग को विपरीत कर दिया। प्रभु का विरह हुआ और लोगों ने कल्पना से मार्ग चलाया। आहा...हा...!

यहाँ (उस साधु ने) यह कहा कि चौथे गुणस्थान में टीकाकार कहते हैं, ऐसा लगता है। लेकिन फिर बदल दिया। क्योंकि पीछे आता है न? यह टीका पंचम गुणस्थान के ऊपर की यह व्याख्या है। लेकिन वहाँ तो मुख्यरूप से कहा है। अकेले पंचम गुणस्थान के ऊपर, ऐसे नहीं। मुख्यपने पंचम गुणस्थान के ऊपर की यह व्याख्या है, गौणपने चौथे गुणस्थान से भी है, ऐसा वहाँ है। अरे...रे...! क्या हो? निश्चय सम्यग्दर्शन क्या चीज है? वह कैसे प्राप्त हो, उसकी खबर नहीं। आहा...हा...!

यहाँ टीका में कहा, संस्कृत में 'तावत्' शब्द लिखा है न? संस्कृत में 'तावत्' शब्द है। '**यत्तावत्**' संस्कृत में यह शब्द है। (अर्थात्) मुख्य बात यह कहनी है कि 'तावत्' अर्थात् प्रथम बात यह कहती है कि **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के**

**युगपद्पनेरूप से प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है....** किसका ? साधुपना का। **साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य,...** जिसका लक्षण है, वह **'शुद्ध' के ही होता है;....** शुद्ध उपयोगी को श्रामण्यपना होता है। आ...हा...हा... ! यह 'प्रवचनसार' (है)। भगवान की दिव्यध्वनि (है)। प्र अर्थात् विशेष वचनो। दिव्यध्वनि कहो या प्रवचन कहो। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई !

'जयसेनाचार्य' की टीका का अर्थ करनेवाले को यह कहना पड़ा कि टीका का आशय तो ऐसा लगता है कि चौथे गुणस्थान में शुद्ध उपयोगी सिद्ध होता है। लिखना पड़ा। क्योंकि टीकाकार ने ऐसा कहा कि शुद्धात्म-अभिमुख परिणाम, ऐसा शब्द लिया है तो शुद्धात्माभिमुख परिणाम तो शुद्ध होता है। पर से अभिमुख परिणाम अशुद्ध है। शुभ और अशुभ दोनों अशुद्ध हैं। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? पूरा पन्ना भरकर लिखा है। सब चिह्न किये हैं। आ...हा... !

यहाँ कहते हैं, साधुपद किसको कहते हैं ? कि शुद्ध उपयोगी को साधु कहते हैं। सम्यग्दर्शन, शुद्ध उपयोग में स्वरूप की प्रतीति; सम्यग्ज्ञान—स्वरूप का ज्ञान... स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप में लीनता—स्थिरता—तीनों की एकाग्रता की प्रवृत्ति, ऐसा जिसका लक्षण है, ऐसा साधुपना शुद्ध उपयोगी को होता है। समझ में आया ? उसमें सम्यग्दर्शन आया। यहाँ तीन का लिया है तो अन्दर सम्यग्दर्शन आया। जो उपयोग तीन का है, ऐसा उपयोग नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन में उपयोग है, शुद्ध उपयोग है। शुद्ध उपयोग बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं। समझ में आया ? क्योंकि शुद्ध स्वरूप जो त्रिकाल चिदानन्द ज्ञायकभाव, इस ज्ञायकभाव के सन्मुख परिणाम होता है, वही परिणाम शुद्ध है। अभिमुख परिणाम शुद्ध है, पर की ओर का परिणाम अशुद्ध है। शुभ या अशुभ दोनों अशुद्ध हैं। अशुद्ध परिणाम को छोड़कर, भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायकभाव, सच्चिदानन्द प्रभु, उसके सन्मुख का परिणाम है पर्याय, द्रव्य के सन्मुख है, द्रव्य के सन्मुख हुआ परिणाम, वह परिणाम शुद्ध उपयोग है। समझ में आया ? आहा...हा... !

क्या हो ? प्रभु है नहीं। लोगों ने स्वछन्द से जैसी कल्पना हुई, ऐसे अर्थ करके मार्ग चलाया। भगवान वहाँ रह गये। मार्ग तो यह है। यहाँ तो अभी (दूसरा साधु) कहता है कि वर्तमान में तो शुभयोग ही होता है। समाचार-पत्र में आया है। वर्तमान में शुद्ध (उपयोग) होता नहीं।

**मुमुक्षु :** यदि होता तो उनको होता न ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** उसे बेचारे को इतना लगा कि आप शुद्ध की बात करते हो, किन्तु हमें तो शुभ उपयोग ही है, दूसरा है नहीं। वर्तमान में तो शुभ उपयोग ही है। जो कोई साधु हुए, सब शुभ उपयोगी थे। उसमें शुद्ध (उपयोगी) कोई नहीं थे, ऐसा कहते हैं। उसने स्पष्ट बात की है। समाचार-पत्र में आ गया है।

यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की एकतारूप परिणाम (है), उसे शुद्ध उपयोग (कहते हैं) और वह श्रमण का लक्षण (है)। साधुपना का लक्षण यह है। तीनों की एकता का उपयोग, वह साधुपना का लक्षण (है)। शुभ की बात यहाँ है नहीं। आ...हा...! आखिर की गाथा है न ? २७४ गाथा। आहा...हा...!

**समस्त...** अब दर्शन, ज्ञान लेते हैं। यह समकित (की बात) नहीं। दर्शन उपयोग और ज्ञान उपयोग (लेते हैं)। **समस्त भूत-वर्तमान-भावी व्यतिरेकों....** अर्थात् पर्याय। (उसके) **साथ मिलित (मिश्रित), अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक जो विश्व....** द्रव्य की अनादि-अनन्त जितनी पर्याय हैं, उससे मिलित जो द्रव्य है। आ...हा...! **जो विश्व उसके (१) सामान्य...** सामान्य उपयोग वह शुद्ध उपयोग है। दर्शन (अर्थात्) समकित की बात नहीं, दर्शन उपयोग (की बात है)। दर्शन शुद्ध उपयोग है। आहा...हा...! है ?

**और (२) विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभास.... विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप....** वह ज्ञान (लिया)। पहले जो (कहा), भूत-वर्तमान-भावि व्यतिरेक अर्थात् पर्याय, उसके साथ मिलित ऐसा जो द्रव्य, अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक सम्बन्धवाला विश्व। उसे जाननेवाला दर्शन, वह भी शुद्ध उपयोग है। **और (२) विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप.... ज्ञान वे 'शुद्ध' के ही होते हैं;....** शुद्ध उपयोगी को ही शुद्ध ज्ञान होता है। आ...हा...हा...! समझ में आया ? सामने (पाठ) है या नहीं ? **'सुद्धस्स य सामण्णं भणियं'** ऐसा शब्द है न ? (उसका अर्थ) भगवान ने कहा है। **'भणियं' 'सुद्धस्स य सामण्णं भणियं' 'सुद्धस्स दंसणं णाणं भणियं'** आ...हा...! दर्शन उपयोग जो शुद्ध है, सामान्य अर्थात् लोकालोक को सामान्यरूप से देखे, वह दर्शन उपयोग शुद्ध को है। शुद्ध उपयोग में दर्शन है। और भेद करके जानना, विशेष करके, प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्याय आदि भिन्न करके, एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानना, वह भी

शुद्ध उपयोग है। शुद्ध उपयोग दर्शन, '**सुद्धस्स**' दर्शन '**सुद्धस्स**' शुद्ध उपयोगी दर्शन और शुद्ध उपयोगी ज्ञान। पहले शुद्ध उपयोगी साधु लेते थे। फिर शुद्ध उपयोग, वह दर्शन और शुद्ध उपयोग, वह ज्ञान (लिया)। आहा...हा...! है या नहीं सामने? देखो न! पाठ में है, देखो न! '**सुद्धस्स**' शुद्ध का अर्थ ही यहाँ शुद्ध उपयोग है। आहा...हा...! टीकाकार ने स्वयं ने (अर्थ) किया न? उस 'शुद्ध' का अर्थ शुद्ध उपयोग ही किया है। आ...हा...! **ज्ञान वे 'शुद्ध' के ही होते हैं;....**

अब, (कहते हैं) **निर्विघ्न-खिले हुए सहज ज्ञानानन्द की मुद्रावाला....** आ...हा...हा...! क्या कहते हैं? निर्वाण। निर्वाण किसको होता है, (वह कहते हैं)। शुद्ध उपयोगी को साधुपना, शुद्ध उपयोगी को दर्शन, शुद्ध उपयोगी को ज्ञान, शुद्ध उपयोगी को निर्वाण होता है। आहा...हा...! है पाठ? अब, उसकी व्याख्या करते हैं। **निर्विघ्न-खिले हुए सहज ज्ञानानन्द की मुद्रावाला...** सिद्धपद—निर्वाणपद कैसा है? **निर्विघ्न-खिले हुए सहज ज्ञानानन्द की मुद्रावाला...** ज्ञान के साथ अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द, उसकी जिसमें—ज्ञान में छाप है, ऐसी मुद्रावाला। **(स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द की छापवाला )....** आहा...हा...! नीचे (के गुणस्थान में) भी ज्ञान होता तो अकेला ज्ञान नहीं (है)। ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द का भी स्वाद आता है तो उसे ज्ञान कहने में आता है, नहीं तो ज्ञान नहीं (कहते)। मति और श्रुतज्ञान उत्पन्न हुआ, उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना, तब (उसे) ज्ञान कहने में आता है। यहाँ पूर्ण में कहते हैं। पूर्ण निर्विघ्न खिली हुई शक्ति। आ...हा...!

**(स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द की छापवाला ) दिव्य जिसका स्वभाव है...** आहा...हा...! है? **दिव्य जिसका स्वभाव....** अलौकिक! सिद्धपद निर्वाण की पर्याय अलौकिक है! निर्वाण... निर्वाण पहले लिया है। **ऐसा जो निर्वाण, वह 'शुद्ध' के ही होता है;...** मोक्ष, शुद्ध उपयोगी को ही होता है। आहा...हा...! समझ में आता है? मार्ग तो प्रभु का है। शुभ उपयोग तो बन्धन का कारण है, मलिन (है)। शुद्ध उपयोग सम्यग्दर्शन में उत्पन्न होता है। फिर तीनों की एकता भी शुद्ध उपयोग है, साधुपना भी शुद्ध उपयोग में है। फिर तीन काल-तीन लोक का देखना, ऐसा दर्शन भी शुद्ध उपयोगी के है, और तीन काल-तीन लोक के सब भेद करके, पर्याय, गुण आदि भेद करके जानना, वह ज्ञान भी शुद्ध उपयोगी

को है। अब, निर्वाण किसको कहते हैं ? आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं। वीतरागमार्ग (ऐसा है)।

**दिव्य जिसका स्वभाव है—ऐसा जो निर्वाण, वह 'शुद्ध' के ही होता है;....** शब्द 'शुद्ध' है। शुद्ध अर्थात् शुद्ध उपयोग। शुद्ध उपयोगी को ही मोक्ष होता है; शुभ से मोक्ष होता नहीं। आहा...हा... ! शुभ और अशुभ तो बन्ध का कारण है। शुभ और अशुभ दशा, उसकी दिशा पर की ओर है और शुद्ध उपयोगी की दशा, उसकी दिशा स्व की ओर है। बात समझ में आती है ? शुभ और अशुभराग की दशा, उसकी दिशा पर की ओर है, परद्रव्य की ओर है; और शुद्ध उपयोग की दशा, उसकी दिशा (स्व) द्रव्य पर है। आहा...हा... ! ऐसा मार्ग लोगों को कठिन पड़े। व्रत में लगा दिया, व्रत करो, तप करो, उपवास करो। आहा...हा... !

'निर्जरा अधिकार' में लिया है कि, मिथ्यात्व सहित के व्रत और तप मिथ्या अज्ञान है, बन्ध का कारण है। २०० गाथा में स्पष्ट किया है न ? वहाँ ऐसा लिया है कि राग का कण भी अपना मानना, वह मिथ्यादृष्टि है और उस मिथ्यादृष्टि का शुभ उपयोग, बन्ध का कारण मिथ्यात्व सहित है। आहा...हा... ! वहाँ तो ऐसा कहा कि शुभ उपयोग करनेवाला (शुभ) को अपना मानता है, इसलिए पापी है। ऐसा शब्द है। किन्तु पापी क्यों कहा ? शुभभाव करे, व्रत करे, तप करे उसे पापी क्यों कहा ? वह व्रत का परिणाम मेरा है और मुझे (उससे) लाभ होगा, ऐसा मिथ्यात्व (है), उस पाप के कारण पापी कहने में आता है। २०० गाथा में है। पाठ में है। 'निर्जरा अधिकार' में है। है न ? (१३७) कलश में है।

**सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या-**
**दित्युत्तानोत्पुलकबदना रागिणोऽप्याचरन्तु।**
**आलंबंतां समतिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः।**

है ? **यहाँ कोई पूछता है कि—व्रत, समिति शुभकार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीव को पापी क्यों कहा गया है ? उसका समाधान यह है—सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है;...** मूल पाप तो मिथ्यात्व का पाप है। राग से मुझे लाभ होगा, राग की क्रिया करने से मुझे लाभ होगा, वह महामिथ्यात्व—महापाप है। स्पष्टीकरण है। २०० गाथा के कलश में (है)। आहा...हा... ! **सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है; जब तक**

**मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है।** आहा...हा...! व्यवहारनय की अपेक्षा से शुभ कहे, लेकिन मिथ्यात्व की अपेक्षा से (पाप है)।

(यहाँ कहते हैं), शुद्ध को निर्वाण है। मोक्षमार्ग उस शुद्ध को (है) और मोक्ष उस शुद्ध को (है)। दो आया न? मोक्ष का मार्ग—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता की प्रवृत्ति, वह भी शुद्ध उपयोगी को है और निर्वाण भी शुद्ध उपयोगी को है। आहा...हा...! यह 'कुन्दकुन्दाचार्य' के वचन हैं। **और टंकोत्कीर्ण परमानन्द-अवस्थारूप से सुस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से गम्भीर ऐसे जो भगवान सिद्ध, वे 'शुद्ध' ही होते हैं...** अब सिद्ध की बात कही। पहले साधु की बात कही, वह शुद्ध उपयोगी; फिर दर्शन की बात कही, वह शुद्ध उपयोगी; ज्ञान की बात कही, वह शुद्ध उपयोगी; निर्वाण की बात कही, वह शुद्ध उपयोगी; अब सिद्ध (की बात कही)। सिद्ध लिये।

**मुमुक्षु :** निर्वाण लिया।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** निर्वाण हुए, वह कषाय-दुःख का अभाव हो गया। कषाय का अभाव करके निर्वाण हुए। अब सिद्ध की बात करते हैं।

**मुमुक्षु :** केवलज्ञान, केवलदर्शन।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** केवलज्ञान, केवलदर्शन भी अभाव की अपेक्षा से है। निर्वाण—शान्ति उत्पन्न हुई, अशान्ति का नाश हुआ। यहाँ तो एकदम शान्ति उत्पन्न हुई, ऐसी पूर्ण सिद्धदशा शुद्ध उपयोगी को होती है (ऐसा कहते हैं)। आ...हा...!

पाठ में दो बोल लिये हैं न? **टंकोत्कीर्ण परमानन्द-अवस्थारूप से सुस्थित....** आ...हा...! शाश्वत्, टंकोत्कीर्ण (अर्थात्) शाश्वत्। **परमानन्द-अवस्थारूप से सुस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि....** आहा...हा...! आत्मस्वभाव की प्राप्ति। **गम्भीर ऐसे जो भगवान सिद्ध, वे 'शुद्ध' ही होते हैं (अर्थात् शुद्धोपयोगी ही सिद्ध होते हैं),...** आहा...हा...! यहाँ तो ऐसा कहना है कि पहले तो शुद्ध उपयोग होता है और यहाँ सम्यग्दर्शन की परिणति है, फिर भी विकल्प में अशुद्ध उपयोग होता है। यहाँ तो परिणति नहीं, यहाँ तो शुद्ध उपयोगी है, बस! शुद्ध उपयोगी है। परिणति के दो भाग निकाल दिये। समझ में आता है?

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होता है, उपयोग जब होता है, तब तो शुद्ध (है), लेकिन उपयोग नहीं होता, तब विकल्प आता है, तब परिणति शुद्ध है, शुद्ध परिणति में राग आया। यहाँ तो कहते हैं कि केवलज्ञान हुआ तो शुद्ध उपयोगी हो गया। अब परिणति (में अशुद्धता का भाव नहीं है)। समझ में आया? सिद्ध में तो शुद्ध उपयोग ही हो गया। निर्वाण शुद्ध उपयोगी को है।

निर्वाण का अर्थ तो भावमोक्ष तेरहवें गुणस्थान में होता है। भावमोक्ष तेरहवें गुणस्थान में होता है और सिद्ध चौदहवें गुणस्थान के अभाव में होते हैं। समझ में आया? सिद्ध जो हैं, वे चौदहवें के बाद होते हैं, चौदहवें (गुणस्थान) तक असिद्ध हैं। उपयोग भले वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि शुद्ध हैं, लेकिन अभी असिद्ध हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

**मुमुक्षु :** निर्वाण शुद्ध का फल है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यहाँ निर्वाण यह लेना है।

**मुमुक्षु :** निर्वाण अनन्त काल तक रहा।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह तो मोक्ष हो गया, सिद्ध हुआ। सिद्ध हुआ अर्थात् अनन्त काल रहा। निर्वाण—भावमोक्ष हुआ, किन्तु अभी सिद्ध नहीं हुए। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** केवलज्ञान और केवलदर्शन हो गया तो भावमोक्ष हुआ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** फिर भी तब तक असिद्ध हैं। वहाँ असिद्ध हैं। भले मोक्ष है, भावमोक्ष है किन्तु असिद्ध हैं। चौदहवें गुणस्थान तक उदयभाव में असिद्धभाव लिया है। २१ बोल हैं न? चौदहवें गुणस्थान तक असिद्ध भाव लिया है। चौदहवें गुणस्थान रहित सिद्धभाव कहा है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बातें हैं, भाई! बनिये को फुरसत नहीं मिलती। सत्य क्या है? असत्य क्या है? उसकी तुलना करके निर्णय करना।

भगवान **वे 'शुद्ध' ही होते हैं (अर्थात् शुद्धोपयोगी ही सिद्ध होते हैं),....** आहा...हा...! साधु शुद्ध उपयोगी होता है, दर्शन शुद्ध उपयोगी, ज्ञान शुद्ध उपयोगी, निर्वाण शुद्ध उपयोगी और सिद्ध शुद्ध उपयोगी, इतने बोल लिये। **वचनविस्तार से बस हो!** आहा...हा...! क्या कहे? वचन का विस्तार क्या करें? आ...हा...! 'अमृतचन्द्राचार्य' टीका करते हैं। है न? इसमें (जयसेनाचार्यदेव की

टीका में) भी है न? '**सुद्धस्स य तो च्चिय सिद्धो णमो तस्स**' '**णमो तस्स**' लिया है। आ...हा...!

**वचनविस्तार से बस हो! सर्व मनोरथों के स्थानभूत,...** सर्व मनोरथ के स्थानभूत **मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वरूप,...** मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वस्वरूप। आहा...हा...! '**शुद्ध' को, जिसमें परस्पर अंगअंगीरूप से परिणमित...** भाव नमस्कार करते हैं, भाव नमस्कार करते हैं। पाठ में '**णमो तस्स**' लिया न? अब '**णमो तस्स**' की व्याख्या करते हैं। **सर्व मनोरथों के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वरूप, 'शुद्ध' को, जिसमें परस्पर अंगअंगीरूप से परिणमित भावक-भाव्यता के कारण....** भावक (अर्थात्) '(भावनमस्कार करनेवाला) वह अंग (अंश) है और भाव्य (भावनमस्कार करने योग्य पदार्थ) वह अंगी (अंशी) है, इसलिए इस भावनमस्कार में भावक तथा भाव स्वयं ही है।' दो नहीं रहा। भावक और भाव्य दो नहीं रहे। 'ऐसा नहीं है कि भावक स्वयं हो और भाव्य पर हो।' क्या कहा? भावक स्वयं हो और भाव्य पर हो, ऐसा नहीं। अपना भावक ही अपना भाव्य और अपना भावक और अपना भाव्य। आहा...हा...! उसको यहाँ भावनमस्कार कहते हैं। निर्विकल्प (नमस्कार)! आहा...हा...!

**'शुद्ध' को, जिसमें परस्पर अंगअंगीरूप से परिणमित भावक-भाव्यता के कारण स्व-पर का विभाग अस्त हुआ है...** नमस्कार करनेयोग्य और नमस्कार करनेवाला, ऐसे दो भाग अस्त हो गये हैं। आहा...हा...! नमस्कार करनेयोग्य भी मैं और नमस्कार करनेवाला भी मैं। दोनों एक ही मैं हूँ। आहा...हा...! अपने पूर्ण स्वरूप की ओर झुक गये हैं। नमः समयसाराय। शुरुआत की है न? नमः समयसाराय। समयसार को नमः—झुक गये हैं, परिणमित हो गये हैं। नमः समयसाराय। शुद्धात्मा की ओर नमः—मेरा परिणमन उस ओर झुक गया है, वह मेरा नमस्कार है। यहाँ अन्त में यह लिया।

भाव्य और भावक। नमस्कार करनेयोग्य और नमस्कार करनेवाला। दो (भेद) जिसमें अस्त हो गये हैं। आहा...हा...! मैं ही नमस्कार करनेयोग्य, मैं ही नमस्कार करनेवाला। अंग-अंगी एक हो गये। आहा...हा...! ऐसी बातें! **स्व-पर का विभाग अस्त हुआ है...** भावक और भाव्य, ऐसे दो भेद अस्त हो गये हैं। **ऐसा भावनमस्कार हो।** ऐसा भाव नमस्कार हो। वीतरागी परिणति अन्दर में एकाकार

हुई, वही भावनमस्कार है। आहा...हा...! निर्विकल्प शान्ति, समाधि, आनन्द जो अपने में एकाकार हो गया, वही नमस्कार है। भगवान को नमस्कार और मैं नमस्कार करनेवाला, ऐसा भेद नहीं। सिद्ध नमस्कार करनेयोग्य और मैं नमस्कार करनेवाला, ऐसा भेद नहीं। मैं ही नमस्कार करनेयोग्य पूर्णानन्द स्वरूप प्रभु और मैं ही नमस्कार करनेवाला, दोनों एक ही है। आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्म!

यह तो 'कुन्दकुन्दाचार्य' की गाथा है। दो हजार वर्ष पहले (हुए) और टीका एक हजार साल बाद हुई। ऐसी गम्भीर थी कि, टीका तो थी, उसका भाव तो कण्ठस्थ था लेकिन टीका करने में तो 'अमृतचन्द्राचार्य' हुए। ऐसी कीमती चीज थी, ऐसा माहात्म्य बताते हैं। ऐसा नहीं है कि हजार वर्ष पहले हुए तो कीमती नहीं थी, इसलिए टीका नहीं की। 'नियमसार' में तो ऐसा कहा, 'पद्मप्रभमलधारिदेव' ने 'नियमसार' की टीका की, ऐसा कहा कि मैं टीका करनेवाला कौन? गणधरदेव से टीका चली आ रही है, ऐसा कहा है। 'नियमसार' में है।

**मुमुक्षु :** 'समयसार' के बाद 'नियमसार' लिखा गया...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह भाव तो तब से चला आ रहा है न? भाव तो तब से चला आ रहा है। विस्तार का भाव तो तब से चला आ रहा है। मैं टीका करनेवाला कौन? ऐसे लिखा है। है? मैं टीका करनेवाला कौन? आहा...हा...! है या नहीं? 'नियमसार' है कि नहीं? देखो!

**गुण के धारण करनेवाले गणधरों से रचित और श्रुतधरों की परम्परा से अच्छी तरह व्यक्त किये गये इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करने में हम मन्दबुद्धि तो कौन?** 'पद्मप्रभमलधारिदेव' भावलिंगी सन्त (यह कहते हैं)। आहा...हा...! **गुण के धारण करनेवाले गणधरों से...** पाँचवाँ श्लोक है। **'गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम्।'** तब से व्यक्त की गयी है। रचना की 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने। वह आया न? 'मंगल भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो' 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने रचना की लेकिन उसके भाव तो गणधर से ही चले आ रहे हैं। आ...हा...हा...! मुनि महाव्रतधारी, 'पद्मप्रभमलधारीदेव' (कहते हैं)। **गुण के धारण करनेवाले गणधरों से रचित और श्रुतधरों की परम्परा से अच्छी तरह व्यक्त किये गये....** रचना हुई यहाँ,

लेकिन परम्परा से आया हुआ। जितने श्रुतधर हुए उन सब में यह भाव था। आहा...हा...!

इस टीका का भाव गणधर और श्रुतधरो, दो लिये न? **श्रुतधरों की परम्परा से अच्छी तरह व्यक्त किये गये...** अच्छी तरह व्यक्त—प्रगट स्पष्टरूप से टीका की है। भाव स्पष्ट किये गये थे। **इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करने में हम मन्दबुद्धि तो कौन?** लेकिन हमारे मन में अभी विकल्प उत्पन्न करता है कि इसकी टीका हो, टीका हो, टीका हो। इसके बादवाला श्लोक वह है। मालूम है? **इस समय हमारा मन परमागम के सार की पुष्ट रुचि से पुनः पुनः अत्यन्त प्रेरित हो रहा है।** बारबार विकल्प आ रहा है कि इसका भाव अर्थ हो, भाव अर्थ हो। आहा...हा...! **उस रुचि से प्रेरित होने के कारण 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की यह टीका रची जा रही है।** आ...हा...! हम मन्दबुद्धि तो कौन? आ...हा...! 'पद्मप्रभमलधारीदेव' जिन्होंने आचार्य जैसा काम किया। हैं मुनि, मुनि हैं। (एक व्यक्ति तो यह कहता है कि) आचार्य के वचन लो, मुनि के नहीं। अरे...! भगवान! समकिती तिर्यंच का समकित और सिद्ध का समकित, दोनों समान है।

**मुमुक्षु :** आचार्य का आयेगा तो कहेंगे कि भगवान के वचन मानेंगे।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** लेकिन भगवान कहते हैं, वही आचार्य कहते हैं, वही गणधर कहते हैं, वही मुनि कहते हैं। क्या हो? भाई! किसी को समझाने की ताकत नहीं है।

भगवान 'अमृतचन्द्राचार्य' तो ऐसा कहते हैं कि यह टीका जो बन गयी, वह शब्द से बनी है, मैंने नहीं बनायी। परमाणु की पर्याय उस काल में, उस क्षण में होनेवाली थी वह हुई है, मैं तो स्वरूपगुप्त हूँ। मैं तो ज्ञान में गुप्त हूँ। मैं राग में आया नहीं, (तो) टीका में तो आया ही नहीं। आहा...हा...! 'अमृतचन्द्राचार्य' (कहते हैं)। समझ में आया? हे जीवो! मैंने टीका बनायी, ऐसा न मानो। यह शब्द आपको ज्ञान कराते हैं, ऐसा मत मानो। शब्द कान में श्रवण हुए इसलिए ज्ञान हुआ, ऐसा मत मानो। तेरी ज्ञान की पर्याय उस काल में होनेवाली थी, इसलिए यह निमित्त कहा गया। और शब्द-ज्ञेय तुझे ज्ञान कराते हैं, ऐसा मत मानो। मोह से मत नाचो। आहा...हा...! है न? 'अमृतचन्द्राचार्य' जैसे भी ऐसा कहते हैं! आ...हा...हा...!

बापू! वीतराग का मार्ग गहन मार्ग, गम्भीर मार्ग (है)। उसकी टीका करनेवाले हम कौन? आहा...हा...!

यहाँ तो कहा कि यह टीका शब्दों से हुई है। भाषावर्गणा की पर्याय में भाषारूप से परिणमित होने का काल था तो हुई है, मुझ से नहीं हुई। आ...हा...हा...! फिर 'कलशटीका' में लिखा है, वह तो उनकी निर्मानता का वाक्य है। परन्तु वस्तु का स्वरूप ही वह है। भाषा कौन करे? बापू! वाणी कौन करे? वाणी के काल में वाणी निकले, भाषा के कारण भाषा होती है, बापू! यह आत्मा, भाषा करे और लिखे (ऐसा है नहीं)। आहा...हा...! पर के कर्तृत्व की मान्यता तो भ्रमणा, भ्रमणा है। आहा...हा...!

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## गाथा - २७५

**अथ शिष्यजनं शास्त्रफलेन योजयन् शास्त्रं समापयति-**

**बुज्झदि सासणमेदं सागारणगारचरियया जुत्तो।**
**जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि।।२७५।।**

**बुध्यते शासनमेतत् साकारानाकारचर्यया युक्तः।**
**यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति।।२७५।।**

**यो हि नाम सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्रस्वरूपव्यवस्थितवृत्तिसमाहितत्वात् साकारानाकारचर्यया युक्तः सन् शिष्यवर्गः स्वयं समस्तशास्त्रार्थविस्तरसंक्षेपात्मकश्रुतज्ञानोपयोगपूर्वकानुभावेन केवलमात्मान-मनुभवन् शासनमेतद्बुध्यते स खलु निरवधित्रिसमयप्रवाहावस्थायित्वेन सकलार्थसार्थात्मकस्य प्रवचनस्य सारभूतं भूतार्थस्वसंवेद्यदिव्यज्ञानानन्दस्वभावमननुभूतपूर्वं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति।।२७५।।**

---

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलं दर्शयन् शास्त्रं समापयति-**पप्पोदि** प्राप्नोति। **सो** स शिष्यजनः कर्ता। कम्। **पवयणसारं** प्रवचनसारशब्दवाच्यं निजपरमात्मानम्। केन। **लहुणा कालेण स्तोक्कालेन।** यः किं करोति। **जो बुज्झदि** यः शिष्यजनो बुध्यते जानाति। किम्। **सासणमेदं** शास्त्रमिदं। किं नाम। **पवयणसारं** प्रवचनसारं,-सम्यग्ज्ञानस्य तस्यैव ज्ञेयभूतपरमात्मादिपदार्थानां तत्साध्यस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य च, तथैव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनस्य तद्विषयभूतानेकान्तात्मक-परमात्मादिद्रव्याणां तेन व्यवहारसम्यक्त्वेन साध्यस्य निजशुद्धात्मरुचि रूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य च, तथैव च व्रतसमिति-गुप्त्याद्यनुष्ठानरूपस्य सरागचारित्रस्य तेनैव साध्यस्य स्वशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिरूपस्य वीतरागचारित्रस्य च प्रतिपादकत्वात्प्रवचनसाराभिधेयम्। कथंभूतः स शिष्यजनः। **सागारणगारचरियया जुत्तो** सागारानागारचर्यया युक्तः। आभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेयं कृत्वा बहिरङ्गरत्नत्रयानुष्ठानं सागरचर्या श्रावकाचर्या। बहिरङ्गरत्नत्रयाधारेणाभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमनागारचर्या प्रमत्तसंयतादितपोधनचर्येत्यर्थः।। २७५।।

---

अब (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव) शिष्यजन को शास्त्र के फल के साथ जोड़ते हुए शास्त्र समाप्त करते हैं:—

**साकार या अनाकार चर्यासहित इस उपदेश को।**
**जो जानता, वह शीघ्र पाता, प्रवचन के सार को॥२७५॥**

**अन्वयार्थ** - [ **यः** ] जो [ **साकारानाकारचर्यया युक्तः** ] साकार-अनाकार चर्या से युक्त वर्तता हुआ [ **एतत् शासनं** ] इस उपदेश को [ **बुध्यते** ] जानता है, [ **सः** ] वह [ **लघुना कालेन** ] अल्प काल में ही [ **प्रवचनसारं** ] प्रवचन के सार को (भगवान आत्मा को) [ **प्राप्नोति** ] पाता है।

**टीका** - [१]सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र स्वरूप में अवस्थित परिणति में लगा होने से साकार-अनाकार चर्या से युक्त वर्तता हुआ, जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रों के अर्थों के [२]विस्तारसंक्षेपात्मक श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक प्रभाव द्वारा केवल आत्मा को अनुभवता हुआ, इस उपदेश को जानता है, वह वास्तव में, [३]भूतार्थस्वसंवेद्य-दिव्य ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है, पूर्वकाल में कभी जिसका अनुभव नहीं किया, ऐसे भगवान आत्मा को प्राप्त करता है—जो कि (जो आत्मा) तीनों काल के निरवधि प्रवाह में स्थायी होने से [४]सकल पदार्थों के समूहात्मक प्रवचन का सारभूत है॥२७५॥

---

**प्रवचन नं. २५८, गाथा-२७५**
**कार्तिक सुद ५, शुक्रवार, २६ अक्टूबर १९७९**

---

'प्रवचनसार' अन्तिम २७५ गाथा। **अब ( भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ) शिष्यजन को शास्त्र के फल के साथ जोड़ते हुए....** आहा...हा...! कहते हैं कि हम जो 'प्रवचनसार' कहते हैं, उसे शिष्य ने सुना और सुनकर उसका फल उसे स्वसंवेदन आता है, वह बात हम कहते हैं। आहा...हा...! पंचम काल के मुनि, पंचम काल के अप्रतिबुद्ध श्रोता को जब समझाया; ('समयसार' की) ३८ गाथा में आया है। अप्रतिबुद्ध शिष्य को समझाया। पंचम काल का शिष्य और पंचम काल

---

१. आत्मा का स्वरूप मात्र सुविशुद्ध ज्ञान और दर्शन है। [ इसमें, ज्ञान साकार है और दर्शन अनाकार है। ]
२. विस्तारसंक्षेपात्मक = विस्तारात्मक या संक्षेपात्मक।
३. भूतार्थ पारमार्थिक-( सत्यार्थ ), स्वसंवेद्य और दिव्य ऐसे जो ज्ञान और आनन्द वह भगवान आत्मा का स्वभाव है।
४. प्रवचन सकल पदार्थों के समूह का प्रतिपादन करता है, इसलिए उसे सकल पदार्थों का समूहात्मक कहा है। [ निज शुद्धात्मा प्रवचन का सारभूत है, क्योंकि प्रवचन जो सर्वपदार्थसमूह का प्रतिपादन करता है, उसमें एक निजात्मपदार्थ ही स्वयं को ध्रुव है, दूसरा कोई पदार्थ स्वयं को ध्रुव नहीं। ]

के गुरु। (गुरु ने) समझाया तो शिष्य अप्रतिबुद्ध था, वह समझकर ऐसा हुआ कि हमें जो यह आत्मज्ञान हुआ है, वह आगम कौशल्य (९२ गाथा) और स्वसंवेदन जो हुआ है, उससे हमें फिर से मिथ्यात्व का उदय नहीं होगा। आहा...हा...! ऐसा शिष्य यहाँ लिया है। आहा...हा...!

'प्रवचनसार' दिव्यध्वनि जिसने सुनी और सुनकर जिसने शास्त्र का फल, जो आत्मा स्वसंवेदन (में आना) चाहिए, वह जिसे हुआ, वह शास्त्र का फल है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है। सन्तों की बात, दिगम्बर सन्तों की गम्भीरता का पार नहीं। आ...हा...हा...! कहते हैं कि **शिष्यजन को शास्त्र के फल के साथ....** शिष्यजन को शास्त्र का फल जो स्वसंवेदन-परमात्मस्वरूप की प्राप्ति (हुई), उसको जोड़ते हैं। आहा...हा...! नहीं प्राप्त कर सके, ऐसी बात यहाँ है ही नहीं। आहा...हा...! मुनिराज ऐसा कहते हैं।

'कुन्दकुन्दाचार्य' भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहे थे, वे यहाँ कहते हैं कि हम शास्त्र के फल के साथ शिष्य को जोड़ते हैं। शिष्य सुनता है तो सुनने से उसे आत्मज्ञान और अनुभव होगा। यह शास्त्र का फल है, वह उसे होगा ही। आहा...हा...! पाँचवीं गाथा में वह कहा न? '**त्तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।**' भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' कहते हैं कि मैं स्वरूप से एकत्व और राग से विभक्त, यह बात कहूँगा। '**त्तं एयत्तविहत्तं दाएहं**' बताऊँगा। '**जदि दाएज्ज**' दर्शाऊँ तो प्रमाण करना, प्रभु! आहा...हा...! अरे...! पंचम काल के अप्रतिबुद्ध शिष्य को ऐसा फल मिले, ऐसा 'कुन्दकुन्दाचार्य' कहते हैं। आहा...हा...!

कहते हैं कि तुमको ऐसा ज्ञान, दर्शन हुआ, तो ३८ वीं गाथा में ऐसा कहा कि हमने जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान,चारित्र जो आत्मा के अवलम्बन से हुआ, अब उस दर्शन से कभी च्युत होगा नहीं। भगवान का विरह है, तो विरह (था) तो 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने (महाविदेह में जाकर) विरह को तोड़ा, लेकिन दूसरे आचार्य और शिष्य तो भगवान के विरह में हैं, लेकिन यह (स्व) भगवान अन्दर विराजता है, उसका विरह जिसने तोड़ दिया और जिसे सन्तों ने कहा, रामबाण—अमोघ बाण मारा... आहा...हा...! ऐसे शिष्य को **शास्त्र के फल के साथ जोड़ते हुए...** ऐसे है? शास्त्र का फल वह है, प्रभु! आत्मा परमानन्दस्वरूप की अनुभवदशा, स्थिरता हुई, यह शास्त्र का फल है। आ...हा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

यह कहते हैं कि देखो! और ऐसा कहकर शास्त्र समाप्त करते हैं। शिष्य को अन्तर फल प्राप्त कराकर, जोड़कर शास्त्र समाप्त करते हैं। आहा...हा...!

**बुज्झदि सासणमेदं सागारणगारचरियया जुत्तो।**
**जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि।।२७५।।**

**साकार या अनाकार चर्यासहित इस उपदेश को।**
**जो जानता, वह शीघ्र पाता, प्रवचन के सार को॥२७५॥**

आ...हा...हा...! **टीका - सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र स्वरूप में अवस्थित परिणति में लगा होने से....** आ...हा...हा...! शास्त्र सुनने से और शास्त्र ने जो भाव कहा, (उसे) अन्दर प्रगट करने से। आहा...हा...! **सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र स्वरूप...** कैसा है आत्मस्वरूप? (मूल ग्रन्थ में) नीचे अर्थ दिया है। '*आत्मा का स्वरूप मात्र सुविशुद्ध ज्ञान और दर्शन है। [इसमें, ज्ञान साकार है और दर्शन अनाकार है।]*' क्या कहते हैं? आत्मा साकार ज्ञानस्वभाव है, अनाकार दर्शनस्वभाव है। साकार, अनाकार (ज्ञान)-दर्शन स्वभावयुक्त जो है, उसमें लगा है। शिष्य सुनकर उसमें लगा। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह तो अन्तिम श्लोक है न! आ...हा...!

**सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र स्वरूप...** आत्मा तो सुविशुद्धज्ञानदर्शन मात्र स्वरूप (है)। उसमें दया, दान, व्रतादि के राग है नहीं, वह उसकी चीज है नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? **सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र स्वरूप...** 'प्रवचनसार' में यह कहा था और यह कहते हैं कि तेरा स्वरूप, प्रभु! सुविशुद्धदर्शन। अकेला विशुद्ध नहीं; सुविशुद्धदर्शन। त्रिकाली दर्शन और ज्ञान, सुविशुद्धदर्शनज्ञानमात्र स्वरूप। आहा...हा...! शास्त्र सुनकर, शास्त्र समझकर इसमें लगा हुआ। **स्वरूप में अवस्थित परिणति में लगा होने से....** आ...हा...हा...! सुविशुद्ध दर्शन और ज्ञानमात्र प्रभु, उसकी वर्तमान परिणति में अवस्थित स्वरूप में, परिणति में लगा होने से। आ...हा...हा...! गजब बात की है न! पंचम काल के सन्त, पंचम काल का शिष्य ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! पंचम काल के हैं या नहीं?

**सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र स्वरूप में अवस्थित....** दर्शन-ज्ञानस्वभाव जो त्रिकाल वस्तु... जैसे शक्कर का मीठा और सफेद स्वभाव (है); वैसे भगवान

आत्मा का ज्ञान और दर्शन सुविशुद्ध स्वभाव (है), उसमें अवस्थित परिणति की पर्याय में लगा हुआ। आहा...हा...! बात सूक्ष्म है। लेकिन उसका फल यह आना चाहिए, ऐसा कहते हैं। शास्त्र सुनने का परिणाम यह आना चाहिए, प्रभु! तो शास्त्र सुना, उसके सुनने में आया, ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** गुरु को ऐसा फल लाकर देना चाहिए।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** लेकर आता है वह, शास्त्र सुनकर शिष्य ले आयेगा- ऐसा कहते हैं। शिष्य ऐसा है। आहा...हा...! समझ में आया?

यह तो सिद्धान्त है और अन्तर की दृष्टि का विषय जो शुद्ध, विशुद्धदर्शनज्ञानमात्र आत्मा... आ...हा...हा...! प्रवचन में यह कहा था कि तेरा स्वरूप सुविशुद्धदर्शनज्ञानमात्र है। दया, दान, व्रत का विकल्प तेरा स्वरूप है नहीं। आहा...हा...! व्यवहार की बात है, वह तेरे स्वरूप में है नहीं। आहा...हा...! बहुत गम्भीर बात है।

**सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र....** पहले ज्ञान लिया है। यहाँ समकित की बात नहीं है। सुविशुद्धज्ञानदर्शन (अर्थात्) जानना स्वभाव और देखना स्वभाव जो त्रिकाली शुद्ध, यह लेना है। आहा...हा...! उस स्वरूप में, ऐसा जो स्वरूप भगवान आत्मा का (है उसमें) अवस्थित। इस स्वरूप में अवस्थित (है अर्थात्) अन्दर स्थिर होता है और **परिणति में लगा होने से....** सुविशुद्ध निर्मल परिणति में लगा होने से। आहा...हा...! शिष्य का यह पुरुषार्थ (है)! और 'प्रवचनसार' ने कहा था यह। 'प्रवचनसार' ने कहा था यह, ऐसा फल शिष्य लाया। आहा...हा...!

ऐसा कहे कि पंचम काल है, हमें ऐसा होता नहीं। वह बात यहाँ है नहीं। काल आत्मा में है नहीं। आत्मा तो काल से अतीत है, विकल्प से अतीत है और दर्शन-ज्ञान सहित है। वह तो त्रिकाल दर्शन-ज्ञान की मूर्ति प्रभु है। उसमें दृष्टि लगाने से अवस्थित (हुआ)। अवस्थित—निश्चय स्थित (हुआ)। अवस्थित—दर्शन-ज्ञानमात्र जो आत्मा, उसमें अवस्थित—निश्चय स्थित की परिणति में लगा हुआ। आहा...हा...! यह टीका! सन्तों की टीका तो देखो! ओ...हो...हो...!

वह तो धर्मध्यान के अपायविचय में कहा था न? शास्त्र तो ऐसा कहते हैं, अपायविचाय धर्मध्यान है। 'द्रव्यसंग्रह' में अपायविचय (धर्मध्यान लिया है)।

मेरा प्रभु पूर्णानन्द की प्राप्ति मुझे होगी और सबको पूर्णानन्द की प्राप्ति हो, ऐसा समकिती अपायविचय में विचार करता है। आहा...हा...! 'द्रव्यसंग्रह' में है। 'द्रव्यसंग्रह' है? है... है। कौन-से नम्बर का पन्ना है? १८३। धर्मध्यान की बात है। 'इसी प्रकार भेद-अभेदरूप रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे...' अपायविचय... अपायविचय। 'भेद-अभेदरूप रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे अथवा अन्य जीवों के कर्मों का नाश कब होगा? इस प्रकार विचारना उसको अपायविचय नाम का दूसरा धर्मध्यान जानना चाहिए।' आहा...हा...! धर्मी तो सुनकर ऐसा विचार करते हैं, ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! मुझे भी कब पूर्णानन्द की प्राप्ति हो और सब जीवों को पूर्णानन्द की प्राप्ति हो। कोई विरोधी नरक में जाओ-ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

३८ वीं गाथा में भी यह कहा, कलश में (कहा कि) 'समस्त लोकाः आलोकम्' सर्व लोक अन्दर में मग्न हो जाओ। सर्व जीव (मग्न हो जाओ)। अरे...! अभव्य भी? यहाँ अभव्य (भी आ गये)। समस्त जीव। आहा...हा...! पूर्णानन्द का नाथ भण्डार जिसमें भरा है (उसमें) लीन हो जाओ। लोकालोक को देखने की ज्ञान शक्ति तुझे खिल जायेगी। आहा...हा...! समझ में आया? यह 'द्रव्यसंग्रह' में अपायविचय (का भेद है)। 'द्रव्यसंग्रह' में 'ब्रह्मदेव' की टीका है।

यहाँ यह कहते हैं, **शिष्यजन को शास्त्र के फल के साथ जोड़ते हुए....** आ...हा...हा...! शब्द थोड़े परन्तु भाव अपार हैं। भगवान! भगवान कहकर तो बुलाते हैं। ७२ गाथा। भगवान आत्मा,... शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप का भाव मलिन है, अशुचि है, मैल है। भगवान आत्मा—ऐसा शब्द 'अमृतचन्द्राचार्य' ने लिया है। भगवान आत्मा निर्मलानन्द प्रभु अन्दर है। यहाँ जो सुविशुद्धज्ञानदर्शन कहा, वह। सुविशुद्धदर्शनज्ञानमात्र प्रभु आत्मा है। आहा...हा...!

उसमें राग तो है नहीं, लेकिन अल्पज्ञता है नहीं। उसकी पर्याय में परद्रव्य तो है नहीं। क्या कहा? उसकी पर्याय में कर्म, शरीर, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब अपनी पर्याय में है नहीं, वह तो भिन्न हैं। अपनी पर्याय में राग है, राग है, तो यहाँ तो कहते हैं कि तेरी चीज में राग है नहीं। तेरी पर्याय में राग हो। पर्याय में अन्य द्रव्य तो है नहीं। पर्याय में अन्य द्रव्य तो अनन्त-अनन्त द्रव्य, देव-गुरु-शास्त्र भी अपनी पर्याय में है नहीं; है तो अपनी पर्याय में राग और द्वेष। परन्तु वस्तु जो है,

सुविशुद्धदर्शनज्ञानमात्र स्वभाव (जो है), उसमें तो राग-द्वेष है नहीं। पर्याय में है, वस्तु में है नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

विशुद्धदर्शनज्ञानमात्र स्वरूप **अवस्थित परिणति में लगा होने से....** आ...हा...हा...! अन्दर में पुरुषार्थ करते हैं। है? **साकार-अनाकार चर्या से युक्त....** ज्ञान और दर्शन की परिणति से युक्त, ज्ञान और दर्शन की दशा से युक्त। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** अद्‌भुत बात है!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ऐसी बात है। थोड़ा कहा हो, फिर अधिक जानना, प्रभु! ऐसी बात सन्तों की है। आहा...हा...!

कहते हैं कि **साकार-अनाकार....** क्यों? कि सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र चीज है। इसलिए साकार ज्ञान और अनाकार दर्शन-ऐसी उसकी चर्या, परिणतियुक्त वर्तता हुआ। आहा...हा...! शान्ति से (समझना)। स्वभाव तो विशुद्ध दर्शन और ज्ञान है। दर्शन निराकार है, ज्ञान साकार है। दर्शन-ज्ञानमात्र जो विशुद्ध स्वरूप है, उसकी परिणति में लगा हुआ, इसी **चर्या से युक्त वर्तता हुआ,...** जानन-देखन की पर्याय में वर्तता हुआ। आहा...हा...! समझ में आया?

**जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रों के अर्थों के....** जो शिष्यवर्ग। आहा...हा...! उसको यहाँ शिष्यवर्ग कहा, अकेला शिष्य नहीं लिया है। आहा...हा...! बहुत शिष्यों का वर्ग-समूह है। जैसे पहली, दूसरी का वर्ग कहते हैं न? वैसे यहाँ शिष्यवर्ग लिया, एक शिष्य नहीं लिया। आहा...हा...! शिष्यवर्ग—शिष्य का समूह। आहा...हा...! भगवान त्रिलोकनाथ की वाणी सुनकर आये; अनुभव, चारित्र था। वाणी ऐसी (निकली) और टीकाकार 'अमृतचन्द्राचार्य' ऐसे मिले। आ...हा...! प्रभु! बात सूक्ष्म है।

कहते हैं कि सुविशुद्धदर्शनज्ञानमात्र आत्मा (है)। इस दर्शन-ज्ञानमात्र की चर्यायुक्त है। पहले तो गुण कहा, वस्तु कही। सुविशुद्धदर्शनज्ञानमात्र तो वस्तु है। अब उसकी परिणति में लगा होने से दर्शन-ज्ञान की चर्या—परिणतियुक्त है। राग की परिणतियुक्त है -ऐसा कहा नहीं। आहा...हा...! पंचम काल के शिष्य को ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! **शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रों के अर्थों के....** अब कहते हैं कि हमने सुनाया भले, अब तो शिष्य अपने पुरुषार्थ से (शुद्धपरिणति में

लगा है)। स्वयं, है ? **स्वयं समस्त शास्त्रों के अर्थों के विस्तारसंक्षेपात्मक....** आहा...हा...! समस्त शास्त्रों को कोई विस्तार से समझे, कोई संक्षेप से समझे। सब विस्तार से समझे या सब संक्षेप से समझे-ऐसा नहीं। कोई शिष्यवर्ग विस्तार से समझे, कोई संक्षेप से समझे।

**विस्तारसंक्षेपात्मक श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक प्रभाव द्वारा....** आहा...हा...! अन्तर में भावश्रुतज्ञान उपयोग के प्रभाव द्वारा। आहा...हा...! अन्तर में जो ज्ञान और दर्शन, सुविशुद्धस्वरूप (है), उसकी परिणति में लगा हुआ, परिणति युक्त होता हुआ। आ...हा...! **श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक प्रभाव द्वारा....** विस्तार से समझा हो या संक्षेप में समझे, परन्तु उसमें से निकाला यह। **श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक....** मतिज्ञान लिया नहीं, अवधिज्ञान लिया नहीं। यहाँ तो छद्मस्थ की बात है न! श्रुतज्ञान उपयोग द्वारा। श्रुतज्ञान, मतिपूर्वक होता है परन्तु यहाँ श्रुतज्ञान की बात ली है। समझ में आया ? क्योंकि श्रुतज्ञानपूर्वक अनुभव है, उसमें आनन्द होता है। आ...हा...! श्रुतज्ञान का जो विकल्प है, उस विकल्प को छोड़कर श्रुतज्ञान उपयोग लगता है, तब समाधि लगती है, आनन्द आता है। थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...!

**श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक....** भाषा यह ली है न ? मतिज्ञानपूर्वक नहीं लिया। अवधि, मनःपर्ययपूर्वक भी नहीं (लिया)। केवल तो है नहीं। आहा...हा...! द्रव्यश्रुत नहीं (लिया)। ज्ञान-दर्शनमात्र भगवान, उसकी परिणति में लगा हुआ। विस्तार या संक्षेप से ज्ञान करके श्रुतज्ञानपूर्वक, श्रुतज्ञान-उपयोगपूर्वक, श्रुतज्ञान-उपयोगपूर्वक **प्रभाव द्वारा....** प्रभाव द्वारा। श्रुतज्ञान के उपयोग के प्रभाव द्वारा। भावश्रुतज्ञान के उपयोग के प्रभाव द्वारा। गाथा ऐसी आयी है। आहा...हा...!

**केवल आत्मा को अनुभवता हुआ,....** किससे ? **श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक प्रभाव द्वारा केवल आत्मा को अनुभवता हुआ,....** आहा...हा...! राग द्वारा आत्मा को अनुभवता हुआ या व्यवहार द्वारा आत्मा को अनुभवता हुआ, वह बात नहीं। आहा...हा...! श्रुतज्ञान उपयोग। श्रुतज्ञान का उपयोग लिया है। परिणति है न ? आहा...हा...! श्रुतज्ञान का उपयोग। ध्याता-ध्यान और ध्येय (के भेद को) भूलकर, ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय छोड़कर, अकेले श्रुतज्ञान प्रभाव पूर्वक आत्मा का अनुभव करते हैं। आहा...हा...!

**केवल आत्मा को अनुभवता हुआ,....** अकेले आत्मा को अनुभवता हुआ। अकेले आत्मा को अनुभवता हुआ। पुण्य-पाप को नहीं, शरीर को नहीं, पर को नहीं, दुःख को नहीं, राग नहीं (अनुभवता हुआ)। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, परन्तु सुने तो सही। अरे...! ऐसी बात (कब सुनने मिले)? भाई! मजदूरी करके मर गया है। ज्ञान और दर्शन, साकार और अनाकार स्वभाव स्वरूप प्रभु, उसमें अवस्थित परिणति में लगा हुआ। आहा...हा...! भावश्रुतज्ञान उपयोग के प्रभाव द्वारा, भावश्रुतज्ञान के उपयोग के प्रभाव द्वारा (केवल आत्मा को अनुभवता हुआ)।

**प्रश्न :** संक्षेप अने विस्तार क्यों लिया?

**समाधान :** भले संक्षेप में लिया। लेकिन भावश्रुत संक्षेप में समझा हो या विस्तार से समझा हो, लेकिन समझा है, भावश्रुत। बहुत विस्तार नहीं हो। तिर्यंच को नाम भी नहीं आते।

अन्दर में आत्मा ज्ञान और दर्शनस्वरूप प्रभु, पूर्ण ज्ञान, दर्शन का पिण्ड, कन्द, पूरा समुद्र, सरोवर, अनन्त ज्ञान, दर्शन का पिण्ड। आ...हा...हा...! उसमें लगा हुआ। श्रुतज्ञान उपयोग पूर्वक **केवल आत्मा को अनुभवता हुआ,....** आ...हा...हा...! यह तो मक्खन है। अन्तिम गाथा है। ज्ञान अधिकार कहा, बीच में ज्ञेय अधिकार—दर्शन अधिकार कहा, ये चरणानुयोग का अधिकार कहा। उसका फल यह लिया। आहा...हा...!

**केवल आत्मा को अनुभवता हुआ,....** इसमें नव तत्त्व नहीं लिये। केवल आत्मा को अनुभवता हुआ। आहा...हा...! उसमें तो 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहा है। उसका अर्थ यह है कि केवल आत्मा का अनुभव है तो उसमें वह पर्याय है नहीं, ऐसा ज्ञान उसमें आ जाता है। केवल आत्मा के अनुभव में, रागादि पर्याय या संवर-निर्जरा की पर्याय उसमें है नहीं, ऐसा ज्ञान आ जाता है। इसलिए यहाँ केवल आत्मा का अनुभव लिया है। आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात (है), भाई! जन्म-मरण रहित का मार्ग कोई दूसरा है। चौरासी के अवतार करके (मर गया)। करोड़ोपति और अरबोपति हो, वह मरकर मुर्गी हो, गाय हो, भैंस हो।

**प्रश्न :** ऐसा सुने तो?

**समाधान :** सुने तो भी क्या? अन्दर न समझे तो राग-द्वेष करके नीचे जाये।

सुनने में ज्यादा समय बिताये तो उसे पुण्य बँधे। पुण्य बँधे, वह नीचे की दशा में नहीं जाता। क्या कहा? भले धर्म (प्रगट नहीं हुआ) हो, लेकिन हमेशा दो-चार घण्टे सत्समागम—सच्चा समागम, चार-पाँच घण्टे श्रवण, मनन (करता हो) तो उसमें पुण्य हो, वह मरकर पशु नहीं होता। समझ में आया? वह निगोद में नहीं जाता, नरक में नहीं जाता। जाये तो, या तो कर्मभूमि, अकर्मभूमि—भोगभूमि में मनुष्य, तिर्यंच होता (है), या तो स्वर्ग में जाता है। आहा...हा...! परन्तु यहाँ तो धर्म की बात है। आहा...हा...!

भावश्रुत उपयोग के प्रभाव द्वारा ऐसा कहकर क्या कहा? कर्म का अभाव हुआ तो आत्मा का ज्ञान हुआ-ऐसा है नहीं। आत्मा में अभाव नाम का एक गुण है। श्रुतज्ञान उपयोग द्वारा आत्मा का अनुभव करता है तो पर के अभावस्वरूप का अनुभव है। पर के अभावस्वरूप का अनुभव है; स्व का अनुभव स्व के भावस्वरूप है, पर का अनुभव अभावस्वरूप है। पर के कारण से नहीं। अपने में ही अभाव नाम का एक गुण है। भावश्रुत उपयोग द्वारा आत्मा का अनुभव करता है तो राग के अभावस्वरूप रूप, अपनी अभाव शक्ति के कारण परिणमन करता है। आहा...हा...! ऐसा याद कब रहे? मन्दिर बनाओ, भक्ति करो, पूजा करो - वह सब तो शुभभाव (है), वह तो शुभभाव है। दस लाख, बीस लाख, पचास लाख खर्च करे तो वह शुभभाव है, वह कोई धर्म नहीं। यहाँ तो स्पष्ट बात है। आहा...हा...!

धर्म तो परमात्मा त्रिलोकनाथ के अनुसार कहनेवाले 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'अमृतचन्द्राचार्य' (ऐसा कहते हैं कि) प्रभु! तुम ज्ञान और दर्शन उपयोगस्वरूप हो न! और तेरी शक्ति को अन्दर में तीन काल-तीन लोक जानने की है न! तीन काल-तीन लोक को देखने की है न! तीन काल-तीन लोक का कोई भाव अपना है, ऐसा मानने की तेरी शक्ति नहीं। आहा...हा...! तेरे अलावा जितनी चीज है, वह अपनी है, ऐसा मानने की तेरी शक्ति नहीं। तेरी शक्ति तो तीन काल-तीन लोक को जानने-देखने की तेरे स्वभाव की शक्ति है। आहा...हा...! उसे यहाँ सुविशुद्धज्ञानदर्शन कहा। समझ में आया?

**इस उपदेश को जानता है,....** क्या कहा? देखो! भाषा क्या ली है? **केवल आत्मा को अनुभवता हुआ, इस उपदेश को जानता है,....** अकेला उपदेश जानता है, ऐसा नहीं कहा। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

क्या टीका! अमृत! अमृत के झरने बहाये हैं! आहा...हा...! 'श्रीमद्' में आता है न? 'जे स्वयप समझया बिना, पाम्यो दुःख अनन्त, समझव्युं ते पद नमूं, श्री सद्गुरु भगवंत, रे। गुणवंता रे ज्ञानी, अमृत वरस्या रे पंचम कालमां! ऐ... अमृत वरस्या रे पंचम कालमां...!!' ये अमृतसागर!

९६ गाथा में आता है न? अमृत का सागर मूर्तिक मृतक कलेवर में मूर्छित हो गया। अमृत का सागर प्रभु! आहा...हा...! अतीन्द्रिय अमृत और आनन्द का सागर, इस मृतक कलेवर (में मूर्च्छित हो गया है)। यह शरीर, मुर्दा, धूल, मिट्टी, मुर्दा है। वर्तमान में, हों! जीव निकल जाने के बाद, ऐसा नहीं। सचेत शरीर तो निमित्त से कहने में आता है। सचेत शरीर आता है न? एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय (आदि)। यह शरीर अभी मुर्दा है। भगवान अमृत सागर है, शरीर मृतक है। मृतक कलेवर में अमृत सागर... आ...हा...हा...! मूर्च्छित हो गया। तीनों 'म' (हैं)। अमृत सागर, मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया। परन्तु अमृत सागर के उपयोग में अन्दर आया नहीं। आहा...हा...! सारा दिन उसकी सम्भाल, इसका ऐसा होता है, इसका यह करना है और उसका वह करना है। सबेरे चाय-पानी, दोपहर को दाल, रोटी, बीच में पूरी इत्यादि, फिर शाम को पकोड़ी इत्यादि। आहा...हा...! (एक विद्वान ने) लिखा है कि नागरवेल का पान चबाये, घास चबाये। पशु में से आया होगा। पशु में से आया होगा। मुँह में पान चबाये बिना रहे नहीं। नागरबेल का पान तो वनस्पति है। आहा...हा...! या तो तिर्यंच में से आया है या तिर्यंच में जानेवाला है। लिखा है या नहीं? आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, आहा...हा...! **इस उपदेश को जानता है,....** क्या कहते हैं? कि केवल आत्मा का अनुभव करते हैं, उस उपदेश को जानता है। ऐसे ही अकेले उपदेश को जाना, जाना, वह जानना नहीं। आहा...हा...! वह तो परलक्ष्यी ज्ञान हुआ। क्या कहा वह? भगवान की वाणी-दिव्यध्वनि सुनी, वह तो परलक्ष्यी है। ज्ञान हुआ है अपने से, वाणी तो निमित्त है। वाणी से (ज्ञान) हुआ नहीं। परन्तु वह परलक्ष्यी ज्ञान है। परलक्ष्यी ज्ञान, परसत्तावलम्बी ज्ञान बन्ध का कारण है। आहा...हा...! समझ में आया?

यहाँ तो **इस उपदेश को जानता है,....** किस प्रकार से? श्रुत उपयोग द्वारा, भावश्रुत उपयोग द्वारा केवल आत्मा को जानता है। वह उपदेश को जानता है। वह

उपदेश को जानता है। आहा...हा..! तब उपदेश कहा उसका ज्ञान (हुआ) उसे यथार्थ व्यवहार कहने में आया। आहा...हा...! टीका तो देखो! मात्र उपदेश सुना तो वह तो परलक्ष्यी ज्ञान है। उसमें शुभभाव है। वह उपदेश यथार्थ जाना नहीं। उपदेश जानना उसे कहते हैं, आहा...हा...! केवल आत्मा का अनुभव करता है, वह उपदेश को जानता है। आहा...हा...! है या नहीं अन्दर? आ...हा...! ये सिद्धान्त! जिसकी एक-एक पंक्ति में, एक-एक शब्द में गम्भीरता का पार नहीं।

**श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक प्रभाव द्वारा....** उसके प्रभाव द्वारा। आहा...हा...! **केवल आत्मा को अनुभवता हुआ,....** अनुभवता हुआ **इस उपदेश को जानता है,....** आहा...हा...! समझ में आया? सबेरे आया था न? शास्त्रज्ञान तो शब्दज्ञान है। ये तो शब्दज्ञान है, क्योंकि उस ज्ञान का आश्रय शब्द है। ज्ञान का आश्रय शब्द है तो उस ज्ञान को ही शब्दज्ञान कहा। आहा...हा...! 'कथा सुणीने फूट्या कान, तोये न आव्युं हरिनुं भान' ऐसा कुछ आता है, उन लोगों में कुछ आता है। आता है न? 'कथा सुणीने फूट्या कान, तोये न आव्युं हरिनुं भान।' हरि ऐसा यह भगवान। राग और द्वेष और अज्ञान को हरे, ऐसा हरि। आहा...हा...! 'पंचाध्यायी' में है। 'पंचाध्यायी' में हरि की व्याख्या है। हरि किसको कहते हैं? कि अज्ञान और राग-द्वेष को हरे वह हरि (है)। हरि कहाँ रहता है? कि यह आत्मा यहाँ है। आ...हा...! 'श्रीमद्' भी कहते हैं, जगत का कोई अधिष्ठान होना चाहिए। वह अधिष्ठान हरि है। उस हरि को हम हृदय में देखते हैं। ऐसा २३ वें वर्ष में पत्र है। २३ वें वर्ष में (है)। आहा...हा...! कोई अधिष्ठान कर्ता है नहीं। आहा...हा...! वह हरि यहाँ है। यह भगवान हरि शुद्ध उपयोग द्वारा अनुभव में आता है, वह हरि। वह उपदेश को जानता है।

**वह वास्तव में,....** वह वास्तव में। **भूतार्थस्वसंवेद्य-दिव्य ज्ञानानन्द....** आ...हा...हा...! भूतार्थ (का) नीचे अर्थ है। 'भूतार्थ पारमार्थिक (सत्यार्थ), स्वसंवेद्य और दिव्य ऐसे जो ज्ञान और आनन्द, वह भगवान आत्मा का स्वभाव है।' सत्यार्थ स्वभाव है, भूतार्थ स्वभाव है। क्या? **भूतार्थस्वसंवेद्य-दिव्य ज्ञानानन्द....** अकेला ज्ञान नहीं लिया। आहा...हा...! वास्तव में भूतार्थ स्वसंवेदन। विद्यमान भगवान ज्ञान-दर्शनस्वरूप, उसका स्व—अपने से संवेदन और दिव्य **ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है,...** आहा...हा...! दिव्य ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है। आहा...हा...!

पर्याय में ज्ञानानन्द आया। जिसका स्वभाव ज्ञानानन्द है, उसका अनुभव हुआ तो पर्याय में ज्ञानानन्द आया। अकेला ज्ञान नहीं, इसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द आया तो उसको ज्ञानानन्द कहने में आता है। आहा...हा...!

एक भाई बोल रहे थे, आये हैं या नहीं? (एक साधु कहते हैं), अनुभूति सातवें (गुणस्थान में) होती है। भाई वहाँ गये थे। अरे...रे...! क्या करते हो? प्रभु! आचार्य नाम धरावे और 'जयसेनाचार्य' की टीका उनके गुरु ने की। 'अमृतचन्द्राचार्य' की टीका नहीं की। क्योंकि 'जयसेनाचार्य' की टीका में व्यवहार साधन और निश्चय साध्य है, ऐसा आये (इसलिए) उसकी टीका की। भाई गये थे तो वहाँ की बात करते थे। ३३ वर्ष की उम्र है। (कहते हैं), अनुभूति सातवें में होती है। अरे...रे...! प्रभु! ऐसी बुद्धि तुझे कहाँ से आयी? नाथ! आ...हा...! आत्मा की अनुभूति चौथे (गुणस्थान से) होती है। भावश्रुत उपयोग द्वारा आत्मा का अनुभव चौथे से होता है। आहा...हा...! क्या हो?

प्रभु! सभी का कल्याण हो! सब आत्मा आनन्द को प्राप्त हो! मार्ग यह है। आहा...हा...! कोई आत्मा दुःखी हो, ऐसा होता है? आ...हा...! 'श्रीमद्' तो कहते हैं न? 'कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्कज्ञान में कोई' ज्ञान की बातें करे, परन्तु अन्दर आनन्द का अनुभव क्या चीज है, उसकी खबर नहीं। 'माने मारग मोक्ष का, करुणा ऊपजे जोई।' करुणा उत्पन्न होती है, बापू! उसका तिरस्कार नहीं होता। भाई! विरुद्ध प्ररूपणावाले, श्रद्धावाले का तिरस्कार नहीं होता। वह स्वयं ही तिरस्कार के दुःख का अनुभव करेगा, ऐसे दुःखी का तिरस्कार नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आता है? कल्याण हो, प्रभु! तेरी बुद्धि सरल हो जाओ! आहा...हा...! प्रभु! तुम द्रव्य से साधर्मी हो! द्रव्य (अपेक्षा से) तो मेरा द्रव्य, तेरा द्रव्य समान हैं। ज्ञानी तो सामनेवाले के द्रव्य को साधर्मी जैसा देखते हैं। आहा...हा...! पर्याय में भूल है तो अपनी पर्यायबुद्धि निकाल दी है, तो पर की पर्याय जानने में है, आदर में उसका द्रव्यस्वभाव है।

पूर्णानन्द का नाथ भगवान सभी विराजते हैं। शरीर के मध्य, राग के मध्य में अन्दर भिन्न (विराजता है)। आहा...हा...! सबको उसका अनुभव हो! आहा...हा...! कोई दुःखी न हो, कोई दुर्गति न जाओ, प्रभु! आहा...हा...! 'श्रीमद्' में आया है न? 'करुणा ऊपजे जोई' भाई! मिथ्याश्रद्धा और ज्ञान का फल, प्रभु!

कठिन आयेगा, भाई! तेरा अनादर कैसे करें? तिरस्कार कैसे करें? प्रभु! आ...हा...हा...! आ...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **भूतार्थस्वसंवेद्य-दिव्य ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है,....** पाठ में ऐसा था, '**लहुणा कालेण**' अल्प काल में। 'कुन्दकुन्दाचार्य' अल्प काल में कहते हैं। हजार वर्ष के बाद टीका हुई तो उसमें ऐसा लिया। उसमें (समयसार में) आठवीं गाथा में आता है न? भाई! अनार्य भाषा। 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने अनार्य कहा। हजार वर्ष होने के बाद म्लेच्छ हुआ। म्लेच्छ भाषा की। काल उतर गया न! आहा...हा...! आठवीं गाथा। '**जह ण वि सक्कमणज्जो**' जैसे अनार्य तत्त्व में समर्थ नहीं, ऐसा 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने कहा। टीका में 'अमृतचन्द्राचार्य' ने कहा, म्लेच्छ भाषा है। भाषा उतर गयी। यहाँ तो मुझे दूसरा कहना है। 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने '**लहुणा कालेण**' कहा।

**पूर्वकाल में कभी जिसका अनुभव नहीं किया, ऐसे भगवान आत्मा को प्राप्त करता है....** बस '**लहुणा कालेण**' का अर्थ यह किया। समझ में आया? भाई! यह तो अमृत का शास्त्र है। यह कोई कथा नहीं, कहानी नहीं, प्रभु! एक-एक शब्द की कीमत है। आ...हा...! कहते हैं, 'कुन्दकुन्दाचार्य' कहते हैं कि शिष्य ये 'प्रवचनसार' सुनकर अनुभव करे, यह उपदेश का फल है। और वह लहू काल में—अल्प काल में मोक्ष पायेगा। उसे विशेष काल नहीं चाहिए। स्वयं का अल्प काल में मोक्ष है न! एकाध भव में केवलज्ञान प्राप्त करके भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' सिद्ध होंगे। 'अमृतचन्द्राचार्य' की शक्ति भी उतनी है, लेकिन हजार वर्ष के बाद काल आया तो लहू काल का अर्थ ऐसा किया। आहा...हा...!

**पूर्वकाल में कभी जिसका अनुभव नहीं किया,....** आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु, ज्ञान और दर्शन का निराकार और साकार स्वरूप, उसका अनुभव कभी अनन्त काल में एक सेकण्ड नहीं किया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बैर ग्रैवेयक उपजायो, पर आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो' मुनिव्रत अनन्त बार धारण किया, दिगम्बर साधु हुआ, पंच महाव्रत लिये, अट्ठाईस मूलगुण पाले, ओ...हो...हो...! ग्यारह अंग का जानपना हुआ लेकिन आतमज्ञान बिन लेश सुख न पाया। पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण दुःख है। लेश सुख न पाया, ऐसा कहा। पंच महाव्रत के परिणाम, आस्रव और दुःख है। आहा...हा...! 'आतमज्ञान बिन लेश सुख न पाया' ऐसा है न?

'छहढाला' में है। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो, पर आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो' थोड़ा भी सुख नहीं। पंच महाव्रत तो आस्रव है, राग है, दुःख है। दुःख का अनुभव हुआ परन्तु आनन्द का अनुभव हुआ नहीं। आहा...हा...!

कहते हैं, **पूर्वकाल में कभी जिसका अनुभव नहीं किया, ऐसे भगवान आत्मा को....** लो, ठीक! आहा...हा...! 'भगवान आत्मा' ऐसा शब्द लिया है। सब जीव का, शिष्य का आत्मा भी भगवान आत्मा (है)। मेरा भगवान जागा है तो कहते हैं कि सब भगवान हैं। आहा...हा...! पर्याय में भूल है, उसे क्या देखना? आहा...हा...! भगवान आत्मा को प्राप्त करता है। अल्प काल में जो इस भगवान आत्मा को, यह प्रवचनसार सुनकर, उपदेश का फल, अनुभव पाया, उसने उपदेश जाना है। उसने उपदेश जाना। आहा...हा...! गाथा तो बहुत अच्छी आयी है।

**जो कि (जो आत्मा) तीनों काल के निरवधि प्रवाह में....** आहा...हा...! तीनों काल में निरवधि—मर्यादा नहीं, मर्यादा कहाँ है? तीनों काल में **निरवधि प्रवाह में स्थायी होने से....** वह तो त्रिकाल स्थायी है। ध्रुव! अनादि-अनन्त वर्तमान में ध्रुव, आदि बिना का, नाश बिना का वर्तमान में ध्रुव, त्रिकाल अविनाशी ध्रुव भगवान आत्मा है। आहा...हा...! ऐसे **निरवधि प्रवाह में स्थायी होने से सकल पदार्थों के समूहात्मक प्रवचन का सारभूत है।** आ...हा...हा...! ज्ञानानन्दस्वरूप प्राप्त हुआ, वह सकल समूहात्मक प्रवचन का सार है। प्रवचन का सार यह है। आ...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

भगवान की दिव्यध्वनि—प्र-वचन कहो। प्र अर्थात् विशेष दिव्य, वचन कहो, दिव्यध्वनि (कहो)। दिव्यध्वनि का सार... आहा...हा...! तीनों काल के निरवधि—अवधि बिना के प्रवाह में स्थायी होने से प्रभु, **सकल पदार्थों के समूहात्मक प्रवचन का सारभूत है।** आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्राप्त हुआ, वह सकल प्रवचन का सार है। उसके अतिरिक्त कोई सार है नहीं।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

# परिशिष्ट

**ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते। आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्ठात्रेकं द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञान-लक्षणप्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात्।**

अत्राह शिष्य :- परमात्मद्रव्यं यद्यपि पूर्वं बहुधा व्याख्यातम्, तथापि संक्षेपेण पुनरपि कथ्यतामिति। भगवानाह-केवलज्ञानाद्यनन्तगुणानामाधारभूतं यत्तदात्मद्रव्यं भण्यते। तस्य च नयैः प्रमाणेन च परीक्षा क्रियते। तद्यथा-एतावत् शुद्धनिश्चयनयेन निरुपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादि-विकल्पोपाधिरहितम्। तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम्। शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगंधवर्णानामाधारभूतपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानादिशुद्धगुणा-नामाधारभूतम्। तदेवाशुद्धसद्भूतव्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतव्यणुकादि-स्कन्धवन्मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतम्। अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन व्द्यणुकादिस्कन्धेषुं संश्लेषशबन्धस्थितपुद्गलपरमाणु-वत्परमौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकदेहस्थितम्। उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत्समवसरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम्। इत्यादि परस्परसापेक्षानेकनयैः प्रमीयमाणं व्यवह्रियमाणं क्रमेण मेचकस्वभावविवक्षितैकधर्मव्यापकत्वादेकस्वभावं भवति। तदेव जीवद्रव्यं प्रमाणेन प्रमीयमाणं मेचकस्वभावानामनेकधर्माणां युगपद्व्यापकत्वाच्चित्र-पटवदनेकस्वभावं भवति। एवं नयप्रमाणाभ्यां तत्त्वविचारकाले योऽसौ परमात्मद्रव्यं जानाति स निर्विकल्पसमाधिप्रस्तावे निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञानेनापि जानातीति।। पुनरप्याह शिष्यः- ज्ञातमेवात्मद्रव्यं हे भगवन्निदानीं तस्य प्राप्त्युपायः कथ्यताम्। भगवानाहसकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्व-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहित-परमानन्दैकलक्षण-सुखामृतरसास्वादानुभवमलभमानः सन् पूर्णमासीदिवसे जलकल्लोलक्षुभितसमुद्र इव रागद्वेषमोह- कल्लोलैर्यावदस्वस्थरूपेण क्षोभं गच्छत्यं जीवस्तावत्कालं निजशुद्धात्मानं न प्राप्नोति इति। स एव वीतरागसर्वज्ञप्रणीतोपदेशात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्य-देशकुलरूपेन्द्रियपटुत्व-निर्व्याध्यायुष्यवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुख-निवर्तनक्रोधादिकषाय-व्यावर्तनादिपरंपरादुर्लभान्यपि कथंचित्काकतालीयन्यायेनावाप्य

सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धानज्ञानानुचरण-रूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृत-रसास्वादानुभवलाभे सत्यमावास्या दिवसे जलकल्लोलक्षोभरहितसमुद्र इव राग-द्वेष-मोहकल्लोलक्षोभरहितप्रस्तावे यदा निजशुद्धात्मस्वरूपे स्थिरो भवति तदा तदैव निजशुद्धात्मस्वरूपं प्राप्नोति।।

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां तात्पर्यवृत्तौ एवं पूर्वोक्तक्रमेण `एस सुरासुर' इत्याद्येकोत्तरशत-गाथापर्यन्तं सम्यग्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं `तम्हा तस्स णमाइं' इत्यादि त्रयोदशोत्तरशतगाथापर्यन्तं ज्ञेयाधिकारापरनामा सम्यक्त्वाधिकारः, तदनन्तरं `एवं पणमिय सिद्धे' इत्यादि सप्तनवतिगाथापर्यन्तं चारित्राधिकारश्चेति महाधिकारत्रयेणैकादशाधिकत्रिशतगाथाभिः **प्रवचनसारप्राभृतं** समाप्तम्।।

**समाप्तेयं तात्पर्यवृत्तिः प्रवचनसारस्य।**

[अब टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव परिशिष्टरूप से कुछ कहते हैं:-]

'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं:—

प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)।

## प्रवचन नं. २५९

**भाद्रपद शुक्ल ११, रविवार, ०२ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, नय का अधिकार है न? शिष्य का ऐसा प्रश्न होता है कि प्रभु! आपने तो बहुत बात की, परन्तु हमें तो आत्मा कैसा है? और कैसे प्राप्त हो?—ऐसी कोई संक्षिप्त बात करो। सैंतालीस नय में समाहित किया है। आहा...! जाननेयोग्य छह द्रव्य कैसे है-यह पूछा नहीं। आहा...! यह आत्मा कौन है? अर्थात् कैसा है? और उसकी प्राप्ति किस विधि-उपाय से होती है? यह मेरा प्रश्न है प्रभु! आहा...हा...! देव-गुरु कैसे हैं? यह बात—प्रश्न पूछा नहीं है। आहा...! है?

**यह आत्मा....** ऐसा कहा है न ? '**यह**' यह शब्द पड़ा है न ? आहा...हा... ! अलौकिक बातें हैं, प्रभु ! आहा ! यहाँ तो आत्मा न जाने तो सब व्यर्थ है। आहा...हा... ! इसलिए शिष्य का प्रश्न है, प्रभु ! यह आत्मा कैसा है ? कौन है अर्थात् कैसा है ? **और कैसे प्राप्त किया जाता है....** उसकी विधि क्या है ? उसका मार्ग क्या है ? किस विधि से प्राप्त होता है ? आहा... ! इसके बिना किसी प्रकार जन्म-मरण मिटे, ऐसा नहीं। आहा...हा... ! चार गति में भटकता प्राणी, उसे आत्मा क्या चीज़ है ? ऐसा अनन्त काल में इसने जानने का प्रयत्न किया ही नहीं। आहा...हा... ! दूसरी संसार की चतुराई की। अरं ! शास्त्र भी पढ़ा, परन्तु यहाँ यह प्रश्न नहीं किया।

यहाँ तो प्रभु ! यह आत्मा कैसा है ? इसे हमें जानना है और वह किस उपाय से प्राप्त हो ? आहा...हा... ! **ऐसा प्रश्न किया जाय....** है ? आहा...हा... ! ऐसा जिसे प्रश्न किया जाए। वह जीव स्वतन्त्र है। वह स्वयं यदि ऐसा प्रश्न करे। आहा...हा... ! **इसका उत्तर ( पहले ही ) कहा जा चुका है और ( यहाँ ) पुनः कहते हैं....** आहा ! प्रभु ! मैं कौन हूँ ? यह क्या है वह ये ? वह कैसा है ? और किस प्रकार प्राप्त होता है ? प्रभु ! मुझे सुख का पंथ कैसा (है, वह) बताओ। आहा... ! उसे उत्तर (दिया जाता है)। जिसका ऐसा प्रश्न है, उसे यह उत्तर देते हैं, कहते हैं। जिसे कोई गरज ही नहीं (कि) आत्मा कौन है ? और कैसे प्राप्त हो ? आहा... ! ऐसे प्राणी को यह उत्तर नहीं है, क्योंकि उसे प्रश्न ही नहीं हुआ। आहा...हा... ! समझ में आया ?

**प्रथम तो, आत्मा...** है न ? '**कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत**' ऐसा है न ? संस्कृत में है। '**अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते। आत्मा**' संस्कृत में **तावत्** शब्द पड़ा है, तो **तावत्** अर्थात् प्रथम। इसकी चीज़ कहने में हमारे प्रथम **तावत्** यह आवश्यक है। आहा...हा... ! **प्रथम तो आत्मा....** भगवान यह आत्मा। आहा...हा... ! **वास्तव में चैतन्यसामान्य से....** अर्थात् चैतन्य सामान्य जो द्रव्य सामान्य—उस द्वारा—ऐसा नहीं, परन्तु यह आत्मा, पर से भिन्न—ऐसा सामान्य तत्त्व। आहा..हा... ! आहा ! भले पर्यायवाला हो, परन्तु यह यहाँ सामान्य तत्त्व को समझना चाहता है। आहा...हा... ! अरे ! आहा !

**चैतन्यसामान्य से....** सामान्य अर्थात् पर से भिन्न अखण्ड वस्तु है, वह

चैतन्य सामान्य। पर्याय भी इकट्ठी है, गुण भी है, द्रव्य आदि—यह सब पूरा वह चैतन्य सामान्य। ज्ञानप्रधान कथन है न? आहा...! **चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है,....** आहा...हा..! अनन्त धर्मों का अधिष्ठान, अनन्त धर्मों का (अधिष्ठान) एक द्रव्य है। कल कहा था, २६८ गाथा। प्रभु! आप अधिष्ठान किसे कहते हो? इस आत्मा को अधिष्ठान कहा। भगवान आत्मा सत् वस्तु है, ऐसा सत्, पूरी दुनिया को कहनेवाला शब्दब्रह्म, सत् और सम्पूर्ण दुनिया—लोकालोकवाला विश्व। वाचक सत् और वाच्य लोकालोक—विश्व, वह सत्। उस सत को ज्ञेयाकारपने ज्ञेय में सत् जो वाणी है, वह ऐसी सत् है और ऐसा विश्व है, ऐसे सत् को ज्ञेयाकार के ज्ञानाकाररूप परिणमे। आहा...हा...!

शब्द और लोकालोक पूरी वस्तु। ओहो...हो...! गज़ब बात की है न! अनन्त सिद्ध इसमें—विश्वतत्त्व में आ जाएँ, अनन्त निगोद आ जाएँ, अनन्त तीन काल के समय आ जाएँ, अनन्त-अनन्त एक द्रव्य के गुण भी इस विश्वतत्त्व में आ जाते हैं और उनकी पर्यायें हैं, वे भी विश्वतत्त्व में आ जाती हैं; क्योंकि सत् है, इस शब्द में—शब्दब्रह्म सर्वव्यापक एक शब्द ने सब ज्ञात कराया तथा यह ज्ञात करायी चीज़ जो वाच्य है, ऐसे अनन्त द्रव्य-गुण-पर्यायें सब आये। आहा...हा...!

ऐसे यह शरीर और आत्मा, दोनों की जो वर्तती पर्याय है और यहाँ ज्ञान की वर्तती (पर्याय) और उसके गुण तथा इसके (-आत्मा के) गुण, यह द्रव्य और वह द्रव्य, यह सब विश्वतत्त्व में आ जाता है। आहा...हा...! इस विश्वतत्त्व को जानने को ज्ञायकपने परिणमनेवाला, ज्ञेय के आकार ज्ञान परिणमें—ऐसा जो ज्ञेय लोकालोक और शब्द कहनेवाला वाच्य, उसके ज्ञेयपने ज्ञान परिणमे। यह सूत्र अर्थात् शब्द और अर्थ अर्थात् पदार्थ—दोनों को जाननेवाला पद अर्थात् अधिष्ठान, वह आत्मा है। आहा...हा...! २६८ गाथा है न? सूत्र, अर्थ, पद—तीन शब्द हैं। एक ही पद के तीन शब्द २६८ में हैं। सूत्र, अर्थ और पद। आहा...हा...! क्या कहा यह? उसे अधिष्ठान-पद को वहाँ अधिष्ठान कहा।

सूत्र अर्थात् शब्दब्रह्म शब्द और सत् सारा विश्व—अनन्त सिद्ध, पंच परमेष्ठी, तीन काल के, हों! तीन काल के आत्मायें, उनकी पर्यायें, यह जो पूरा विश्वतत्त्व है, वह ज्ञेय है और वाणी भी ज्ञेय है; वह ज्ञेय और वाणी ज्ञेय, दोनों के आकार

परिणमता, गूँथ गया हुआ ज्ञान, उसमें आता है। है न? २६८ में यह है। २६८ (गाथा)। आहा...हा...!

**(१) विश्व के वाचक, 'सत्' लक्षणवान् ऐसा जो शब्दब्रह्म....** २६८, ओहो...हो...! क्या सम्बन्ध और सन्तों को संक्षिप्त बात में भी क्या कहना? गजब बातें भाई! अरे! कहते हैं कि **विश्व के वाचक....** कहनेवाला। विश्व शब्द के द्रव्य-गुण-पर्याय, सारे तीन लोक-तीन काल के (द्रव्य-गुण-पर्याय और) अपने भी द्रव्य-गुण-पर्याय, यह विश्व में आता है। अनन्त सिद्ध भी विश्व में आते हैं, अनन्त निगोद के जीव, तीन काल की पर्यायें, तीन काल के समय, तीन काल के एक द्रव्य के अनन्त गुण-यह सब विश्व में आ जाता है। पूरी सत् वस्तु है, उसमें आ जाती है और शब्द सत् है, वह शब्द वाचक है, उसमें सब कहने की ताकतवाला ऐसा सत् शब्द है। आहा...! समझ में आया? यह तो समझ में आवे ऐसी बात है, बापू! यह तो बालक को भी समझ में आवे ऐसी (बात है) भाई! परन्तु उस बालक ने प्रश्न किया तो उसे यह समझ में आवे ऐसी है-ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

प्रभु! तुझे ऐसा हुआ हो, भले आठ वर्ष का बालक हो, आठ वर्ष की बालिका हो परन्तु यह आत्मा अन्दर भगवान है-ऐसा इसने पूछा है। आहा..हा...! प्रभु! यह... यह... यह... ऐसा कहकर यह प्रत्यक्ष आत्मा है, ऐसा यह आत्मा (-ऐसा कहना है।) आहा...! वह कैसा है? कितना है? और किस प्रकार प्राप्त होता है? तो सुन प्रभु! आहा...हा...! यह सत् लोकालोक... आहा...हा...! इसमें शरीर, शरीर के गुण, शरीर की पर्यायें सब आ गया; कर्म, कर्म के गुण और कर्म की पर्यायें - यह सब आ गया। अनन्त सिद्ध, उनका द्रव्य, उनके गुण और पर्याय —सब आ गया। पंच परमेष्ठी, उनके द्रव्य, गुण और पर्याय सब आ गया। ओहो... हो...! ऐसे अनन्त ज्ञेयों को.... है? **दोनों के ज्ञेयाकार अपने में युगपत् गुंथ जाने से....** एक समय में दोनों के ज्ञेयाकार जानने में आते होने से। गुँथ जाने से अर्थात् दोनों एकसाथ ज्ञात होते हैं। आहा..!

अपने में **युगपत् गुंथ जाने से (-ज्ञातृतत्त्व में...)** ज्ञातृतत्त्व (अर्थात्) भगवान ज्ञायकतत्त्व। वे **(ज्ञातृतत्त्व में एक ही साथ ज्ञात होने से)....** शब्दब्रह्म पूर्णस्वरूप को बतलानेवाला, उसका भी ज्ञेयाकार का यहाँ ज्ञान (होता है) और

अनन्त जो पदार्थ हैं, द्रव्य-गुण, उनका भी ज्ञेयाकार का ज्ञान (होता है)। आहा...हा...! उन अनन्त ज्ञेयों को और जो अनन्त शब्द है, उन्हें ज्ञान में ज्ञेयाकाररूप से एकसाथ जाननेवाला होने से। आहा...! समझ में आया? ज्ञातृतत्त्व भगवान आत्मा, उसे शब्दब्रह्म और वस्तुतत्त्व—ऐसा विश्व, दोनों का एकसाथ, दोनों के ज्ञेयाकार अपने में युगपद् एकसाथ गुँथ जाने से अर्थात् एकसाथ ज्ञात होते होने से। आहा...हा...!

**उन दोनों के अधिष्ठानभूत...** दोनों का आधार वह भगवान है। आहा...हा...! शब्द और वाच्य पूरी दुनिया / लोकालोक, दोनों के ज्ञानाकार से होना ऐसा जो अधिष्ठान आत्मा, वह पद है। सूत्र और अर्थ। सूत्र अर्थात् सत् शब्द और अर्थ—पूरी दुनिया—लोकालोक। दोनों को ज्ञेयाकार से ज्ञानाकार परिणमें—ऐसा यह अधिष्ठान, इन दोनों के आधार के ज्ञान को जाननेवाला अधिष्ठान भगवान है। आहा...हा...! भाई! बराबर आये ठीक, कल आ गया है। ऐसी बातें बापू! तू कितना है? तू इतना है कि लोकालोक और शब्द जो शास्त्र के, बारह अंग के शब्द... आहा...हा...! भगवान ने श्रुत द्वारा बात की है, भगवान ने केवलज्ञान द्वारा बात नहीं की है। क्या कहा यह?

शास्त्र में ऐसा पाठ है कि श्रुत द्वारा कथन किया। क्योंकि सुननेवाले को श्रुतज्ञान में आता है और वह वहाँ श्रुत द्वारा कथन किया। है केवली (परन्तु कथन श्रुत द्वारा आया)। आहा...हा...! समझ में आया? 'षट्खण्डागम' है, उसमें यह शब्द है। 'धवल', 'जयधवल', 'महाधवल' में है न? पुराण शास्त्रों। हैं यहाँ सब, ३५ (ग्रन्थ) हैं। एक-एक पुस्तक दस-दस, बारह-बारह रुपये की, पुरानी हों! अभी तो उसकी कीमत बढ़ जाती है। ऐसी चालीस पुस्तकें होनेवाली हैं। उनमें ३५ तो यहाँ आयी थी। दूसरा कोई करते हैं। आहा! उनमें ये शब्द हैं। समझ में आया? आहा! वाचक और वाच्य, उसे ज्ञानाकार से जाने, ज्ञेय का ज्ञानाकार से होना, उसे हम अधिष्ठान कहते हैं।

श्रीमद् में एक पत्र में आता है। श्रीमद् के एक पत्र में आता है कि इसका अधिष्ठान आत्मा है। वह अधिष्ठान यह। ईश्वर, वह अधिष्ठान, यहाँ नहीं लेना। यह स्वयं ही ईश्वर है। एक पत्र में है। प्राय: २३ वें वर्ष में है। है? अधिष्ठान है, ऐसा लिखा है। यह है, यह कहीं सब याद रहता है? भाव लक्ष्य में रहते हैं। यहाँ इतना कहीं क्षयोपशम नहीं कि इस पृष्ठ पर (यह लिखा है—ऐसा याद रहे)। आहा...हा...!

पत्र में 'अधिष्ठान' ऐसा शब्द है। यह अधिष्ठान अर्थात् कोई ईश्वर समझ ले, वह नहीं। यह ईश्वर, यह ईश्वर है। आहा...हा...! जैसे जगत का करनेवाला ईश्वर है, ऐसा मानते हैं, वह बात झूठी है, परन्तु सारे जगत का और शब्द का ज्ञान करनेवाला ऐसा भगवान आत्मा, वह अधिष्ठान और ईश्वर है। कहीं है, २३ वें वर्ष में है, नीचे है। लोग उसका अर्थ नहीं समझते, इसलिए अधिष्ठान अर्थात् कोई ईश्वर अधिष्ठान है (-ऐसा समझ लेते हैं)। यह (आत्मा) अधिष्ठान है।

**मुमुक्षु :** बड़ा लेख है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** लेख है, परन्तु उस अन्तिम लाईन में है। है कहीं। पुस्तक है यहाँ? नहीं लगती यहाँ। नहीं?

तू कितना है आत्मा? आहा...हा...! कि लोकालोक और कहनेवाले बारह अंग के शब्द सत्, इन दोनों का ज्ञेयाकार का ज्ञान हो, एक समय में ज्ञान हो-इतना तू है। आहा...हा...! समझ में आया? अभी तो इसे जँचे नहीं। इतने-से शरीर में इतना आत्मा? भाई! तेरा ज्ञातृतत्त्व तो ऐसा है, जाननेवाला, यह तत्त्व प्रभु का-आत्मा का ऐसा है कि पंच परमेष्ठी-अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद के जीव और यह शरीर की स्थिति-पर्याय, इन सबकी ज्ञेयाकाररूप से जाने-ऐसा आत्मा ज्ञानाकार है। आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों ने गजब काम किया है! वास्तविक तत्त्व खड़ा किया है। सर्वज्ञों ने कहा, वह सिद्ध किया है। वीतरागी मुनि थे। आहा...हा...! अनुभवी समकिती ज्ञानी (थे)।

वे लड़के आड़ा अवला हुआ करता है और लड़का एक वर्ष का होवे तो रोवे। उसे पता नहीं कि यह विवाह है, इसमें मुझे (रोना नहीं होता)। उसे पता नहीं कि मेरे भाई का विवाह है, मुझे तो लोरी गावे तो मैं प्रसन्न होऊँ। वैसे अज्ञानी को क्रीड़ा में लोरी है, उसकी क्रीड़ा की बात करे तो प्रसन्न होवे। प्रभु! यह तो तेरे लग्न करने की बातें हैं! आहा...हा...! लगन लगाने की। आहा...हा...!

शान्ति... शान्ति... यह भगवान आत्मा, ये ज्ञेय लोकालोक... आहा...! गजब बात है। वास्तव में तो यह आत्मा, जो शरीर की अवस्था जिस क्षण जैसी होवे, उसके ज्ञेयाकार से ज्ञान परिणमें-वैसा यह आत्मा है। समझ में आया? यह शरीर रोगी हो तो उस प्रकार के ज्ञेयरूप से (ज्ञानाकार होता है)। रोग अर्थात् जड़ की पर्याय में रोग कहना किसे? समझ में आया? रोग कहना किसे? वह तो ज्ञेय की

पर्याय है। यह तो लोग निरोगता की अपेक्षा से उसे रोग कहते हैं; बाकी तो वह ज्ञेय है; उसकी उस क्षण में वही पर्याय होनेवाली है, हुई है; उसे यह आत्मा उस क्षण में अपने स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य द्वारा, पर के अस्तित्व में गये बिना, स्व के अस्तित्व में रहकर, स्व का और पर का ज्ञान (होवे) ऐसी स्व-पर प्रकाशक पर्याय प्रगट करता है। आहा...हा...! भाई! ऐसी बातें हैं। आहा...!

अर्थात् कि जिसने ज्ञातृतत्त्व जाना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हुआ, ऐसा ज्ञातृतत्त्व कैसा उसे प्रतीति में आया? आहा..हा..! और उसे ज्ञान में वह ज्ञान कितना है-वह कैसे ख्याल में आया? आहा...हा...! वह ज्ञातृतत्त्व भगवान ज्ञायकतत्त्व की अनुभव की दृष्टि होकर जो ज्ञानस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु, इस लोकालोक को जानना और जितने शब्द हैं (वे) सत् हैं, उन्हें जाननेरूप परिणमे, ज्ञेयाकारों के ज्ञानरूप परिणमें—ऐसा सम्यग्दृष्टि को प्रतीति में आया है। आहा...हा...! समझ में आया? बात तो अलौकिक है, बापू!

भगवान के दर्शन के समय भी ज्ञानी को उसका ज्ञान, वह ज्ञेय है, वैसा यहाँ ज्ञानरूप परिणमता है; वे मेरे हैं और मैं उनकी भक्ति करता हूँ; इसलिए राग मैं हूँ—ऐसा नहीं। वह राग होता है, उसका भी ज्ञेयाकार से ज्ञान करके परिणमता है। आगे कहेंगे अशुद्धनय और शुद्धनय। समझ में आया? आहा...हा...! राग भी होता है... चैतन्य सामान्य शब्द कहा न? उसमें राग भी होता है, वीतरागता भी होती है, अशुद्धता भी होती है, शुद्धता भी होती है। शुद्ध और अशुद्ध दोनों नय लिये हैं। शुद्धनय से त्रिकाली देखें तो वस्तु चैतन्यप्रकाश की मूर्ति है। अशुद्धनय से पर्याय में अशुद्धता है, उससे ऐसे देखे तो शुद्ध चैतन्यप्रकाश है। आहा...हा...! अरे रे! ऐसी बात! इतना आत्मा, वह इसे दृष्टि में नहीं आता। आहा! इस बिना सम्यक्-सत्यदृष्टि—जैसा सत्य है, वैसी दृष्टि कहाँ से होगी? आहा! समझ में आया? ऐई!

भगवान का विरह पड़ा, परन्तु भुला दिया—सन्तों ने विरह भुला दिया। जो भगवान को कहना था, वह ही स्वयं कह रहे हैं। आहा...हा...! प्रभु! तू कितना है? कि प्रभु! तू कितना है? ऐसा जिसने पूछा, उसे कहते हैं कि प्रभु! तू इतना है! आहा...हा...! कि लोकालोक और पंच परमेष्ठी आदि या निगोद के जीव, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि और अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध...

आहा...! वे ज्ञेय हैं, क्योंकि 'ज्ञेयशक्ति द्विविध प्रकाशी' आहा! 'तातैं वचन भेद भ्रम भारी' कि यह पर को प्रकाशित करती है, परन्तु वह पर को प्रकाशित नहीं करती; पर की चीज़ जैसी है, वैसा ज्ञान स्वयं परिणमता है, वह स्वयं को प्रकाशित करता है। समझ में आया? आहा...हा...!

युवाओं को भी जाननेयोग्य बात है, भाई! यह युवानी बिखर जाएगी, प्रभु! यहाँ तो कहते हैं कि जवानी की जो शरीर की पर्याय है, वह ज्ञेय में—विश्व में जाती है; इसलिए उसके ज्ञेय के आकाररूप ज्ञान परिणमे, ऐसा यह आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया? भाई! यह तो जवान (होवे या) बालक (होवे), बापू! सबको समझने योग्य बात है; और आत्मा बालक भी नहीं, जवान और वृद्ध भी नहीं। वह शरीर की अवस्था है, परन्तु वह शरीर की अवस्था जिस क्षण में जैसी है, वैसा वह ज्ञेय है; उसके आकार ज्ञान परिणमे, ऐसा तू है। आहा...हा...! यह रोग की अवस्था तू नहीं, परन्तु रोग की अवस्था का जो ज्ञेयपना है, उसके ज्ञानाकार ज्ञान परिणमें-उतना तू है। आहा...हा...! भगवान महात्मा-ऐसा कहा है न भाई ने? एक शब्द में कहीं है। एकरूप महात्मा कहें, दोपने त्रस और स्थावर —इत्यादि-इत्यादि शब्द हैं। एक के दश बोल लिये हैं न? वे तो सब होकर एक आत्मा—ऐसा गिनकर महात्मा लिया है।

यहाँ तो एक ही महात्मा प्रभु है। महत्-इतना आत्मा है। मह्-बड़ा या लोकालोक और शब्द को एक समय में ज्ञेयाकार को ज्ञानरूप परिणमे—ऐसा प्रभु पर्याय में इतना है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! भगवान के दर्शन के काल में जो शुभभाव होता है, वह उनसे हुआ नहीं। इसकी अशुद्ध पर्याय के नय से अशुद्धता हुई है और उस शुद्धनय से लक्ष्य करके अन्तर में देखे तो वह चैतन्य प्रकाश है—ऐसा देखने में आवे—ऐसा कहते हैं। वहाँ खड़ा नहीं रहना-राग में, निमित्त में अशुद्धता में न जाना-रहना, परन्तु वहाँ से हटकर चैतन्य को एक नय से अन्दर देखने जाए तो चैतन्यप्रकाश (दिखता है)। आगे कहते हैं न? भाई! नय से देखे तो वह अन्दर चैतन्यप्रकाशमय भगवान दिखता है, प्रमाण से देखे तो भी पूरा चैतन्यप्रकाश दिखता है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। दिगम्बर सन्तों के अलावा ऐसी बात कहीं मिले, ऐसा नहीं है। क्या कहें? आहा...हा...! परमात्मा को खड़ा किया है!

प्रभु! तू परमस्वरूप से (बिराजता है)। यह लोकालोक और शब्द, उनके ज्ञानरूप एक समय में गूँथ जाए, शामिल ज्ञान हो, इतना है। पर्याय में इतना है, हों! आहा...हा...! इस पर्याय में द्रव्य-गुण का ज्ञान आ गया। अपने द्रव्य-गुण का आ गया, पर के द्रव्य-गुण का आ गया। भले उस पर्याय में द्रव्य-गुण नहीं आते, परन्तु पर्याय में द्रव्य-गुण का ज्ञान आ गया। आहा...हा...! यह तो अपने अलिंगग्रहण में आ गया न? अलिंगग्रहण। भगवान-आत्मा, जब इसे वेदन की दशा में आता है, त्रिकाली को देखने पर, ध्रुव को ध्येय में लेने पर उसकी पर्याय में आनन्द का वेदन आता है। यह आनन्द वेदन है, वह द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहा...हा...! यह आत्मा वेदन में आया, यह आत्मा द्रव्य को स्पर्श नहीं करता—ऐसा कहते हैं। यह आत्मा, हों! वापस शब्द ऐसा है न? भाई! आत्मा (कहा)। आहा...हा...!

यह भगवान आत्मा, इसके ध्येय और ध्रुव में जहाँ दृष्टि पड़ी, तब उसके परिणमन में आनन्द का वेदन आया, अनन्त गुण व्यक्तरूप से (परिणमित हुए)। अनुभव में आनन्द की मुख्यता है। समझ में आया? 'अनुभव प्रकाश' में दीपचन्दजी ने कहा है। अनुभव में आनन्द की मुख्यता है, गौणता से सभी पर्याय का अनुभव है, परन्तु आनन्द की मुख्यता है। आहा...हा...! जिसे द्रव्य-आत्मा ध्रुव चिदानन्द प्रभु की जिसे, अन्तर्दृष्टि हुई, सम्यग्दर्शन (हुआ), आहा...हा...! उस ध्रुव के ध्येयवाले को पर्याय में आनन्द आता है। यह आनन्द आवे, वह आत्मा। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। आहा...हा...! इसलिए वहाँ ऐसा कहा है कि आनन्द के वेदनवाला आत्मा, सामान्य जो त्रिकाली द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आत्मा, हों! वापस, ऐसी भाषा है।

यह भगवान आत्मा ध्रुव के ध्येय और दृष्टि में गया, तब उसे पर्याय में आनन्द का, शान्ति का, स्वच्छता का, प्रभुता का वेदन आया; वह वेदन आत्मा और उस वेदन में आत्मा, वह सामान्य को स्पर्श नहीं करता। आहा...हा...! अरे...! अरे..! ऐसी बातें! क्योंकि वेदन में ध्रुव नहीं आता। आहा! अरे! ज्ञान की पर्याय में भी ज्ञेय सारा ऐसा पूर्ण तत्त्व, पर्याय में लोकालोक और द्रव्य-गुण स्वयं है, वह भी ज्ञानाकार में आ गया। स्वयं द्रव्य जितना है, उतना ज्ञानाकार में (ज्ञान में आ गया)। वह भी स्व-रूप से ज्ञेय है न? आहा! वह स्वज्ञेय जो द्रव्य जितना और गुण जितने हैं, अनन्त गुण (जितने हैं), ऐसा इसकी ज्ञान की पर्याय में ज्ञात हो गया। वह वस्तु,

पर्याय में नहीं आयी। समझ में आया? परन्तु पर्याय में कितनी ताकतवाला (तत्त्व) है, वैसा ज्ञान पर्याय में आ गया। आहा...हा...! और श्रद्धा में—सम्यग्दर्शन में वह चीज़ नहीं आयी, परन्तु वह चीज़ जितनी है, उतनी श्रद्धा, पर्याय में आ गयी। आहा...हा...! और वेदन पर्याय में ध्रुव आया नहीं, परन्तु पूरे ध्रुव की—शक्ति की जो ताकत है, उसकी पर्याय में—वेदन में पर्याय आ गयी। आहा...हा...! अरे! ऐसी बातें अब। भाई! इसमें कहाँ तुम्हारे वैष्णव-फैष्णव में कहीं (आता है)? यह (बात) कहाँ है? बापू! आहा...हा...! लोगों को बहुत कठिन लगता है। श्वेताम्बर और स्थानकवासी में जैनपना आया नहीं। यह जैनपना। आहा...हा...!

जिसे कहते हैं कि दया का भाव आया, उसे भी ज्ञेयाकार आत्मा ज्ञानरूप से परिणमे वह आत्मा है। दया का भाव है, वह तो राग है; वह वास्तव में तो स्वरूप की हिंसा है परन्तु इसे राग आया उस ज्ञेय में जाने पर उस सब ज्ञेय में लोकालोक और ज्ञेय में राग आ गया। आहा...हा...! वह राग ज्ञेयरूप से होकर, (परन्तु) है अपनी पर्याय में। नय परन्तु अशुद्धनय, परन्तु यह अशुद्ध है ऐसा ज्ञान करके अन्तर में जाये तो शुद्ध चैतन्यप्रकाशवाला है। आहा...हा...!

यह कहते हैं, वस्तुभगवान आत्मा ज्ञातृतत्त्व है, जाननेवाला तत्त्व है, वह इसकी पर्याय में... आहा...हा...! इसकी पर्याय में, हों! लोकालोक और शब्द भगवान के कहे हुए जितने सत् हैं, उन सबका ज्ञेयाकार से अपने में युगपद एक साथ ज्ञात हो जाने से उन दोनों के **अधिष्ठानभूत...** उन दोनों का आधार भगवान है। आहा...हा...! समझ में आया? यह संवर (अधिकार) में कहा है न? भाई! कि 'उपयोग में उपयोग है' जो निर्मल परिणति हुई है, उसमें आत्मा है, क्योंकि उसके द्वारा ज्ञात हुआ है। समझ में आया? यहाँ तो अशुद्ध राग भी साथ में लिया है, वह सब सामान्य द्रव्य है, उसमें अशुद्धता और शुद्धता, सब पर्याय का समूह है, परन्तु एक नय से जो अशुद्धता आदि जानने में आवे, वह नय किसकी? वह अशुद्धता कहाँ, किसमें, किसकी है? कि द्रव्य में। वह द्रव्य की पर्याय है। ऐसे पर्याय का लक्ष्य करके द्रव्य पर देखे तो उसे शुद्ध चैतन्य प्रकाश जानने में आवे। आहा...हा...! समझ में आया? अरे रे! प्रभु का विरह पड़ा, परन्तु वाणी ने विरह भुला दिया। आहा...हा...! निःसन्देह चीज़ यह है - ऐसा यहाँ विश्वास कराते हैं। आहा! और करने का तो यह है, भाई! (भाई) सबेरे कहते थे, करने का तो यह है। आहा...!

अरे! देह छूटेगी, प्रभु! कहाँ जायेगा? ऐसा आत्मा यदि दृष्टि में नहीं लिया, तो प्रभु! आत्मारूप से नहीं रह सकेगा। चार गति में भटकने में रहेगा। आहा...हा...!

यह अधिष्ठान कहा। समझ में आया? कौन? तीन शब्द हैं—सूत्र, अर्थ और पद। २६८ (गाथा) यह सूत्र अर्थात् शब्द; अर्थ अर्थात् लोकालोक पदार्थ; उसका पद, उसका आधार अधिष्ठान भगवान आत्मा है। आहा...! २६८ में है न? भाई! सूत्र, अर्थ और पद—तीन शब्द में यह है। सूत्र अर्थात् शब्द। 'है' ऐसा कहनेवाले शब्द। आहा! और अर्थ अर्थात् उनमें कहा गया, वाच्य पदार्थ, लोकालोक। उसे जाननेवाला अधिष्ठान भगवान आत्मा है। यह पद, पद का अर्थ वह है। सूत्र, अर्थ और पद—तीन का यह अर्थ है। आहा...हा...! कुन्दकुन्दाचार्य ने गजब काम किया है! प्रभु! आहा...! तीन शब्द में तो कितना भरा है! सूत्र में शब्दब्रह्म समा दिया है; अर्थ में लोकालोक-परमेश्वर, अपना आत्मा, परमेश्वर, अनन्त ज्ञेय लोकालोक समाहित कर दिये हैं। आहा...हा...! वह लोकालोक और शब्द को जाननेवाला पद अर्थात् आत्मा अधिष्ठान है। वे कहते हैं कि ईश्वर कर्ता है। यह कहते हैं कि सबका आधार जाननेवाला, वह अधिष्ठान आत्मा है। आहा...हा...! धन्य अवतार! आहा...हा..! मुनिपना होकर अवतार सफल किया। वह मुनिपना कैसा? बापू! आहा...हा...! ये क्रिया करो और यह करो और वह करो, नग्न होओ यह कोई मुनिपना है? आहा...!

यहाँ तो राग का भाव आवे और देह में नग्नपना हो, वह ज्ञेय है, उसके ज्ञेयाकाररूप आत्मा परिणमित हो, वह आत्मा है। समझ में आया? आहा...हा...! क्या वस्तु! वह अधिष्ठानभूत। अपने अभी यहाँ आया न? अधिष्ठाता, आहा...हा...! **चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता....** यह चलता विषय। वह तो आधार बताया था। विश्व का और शब्दों का स्वरूप जाननेवाला ज्ञान है, उन्हें करनेवाला नहीं। विश्व की किसी चीज़ को करनेवाला नहीं। ऐसे शब्द को करनेवाला नहीं। आहा...हा...! भाई! ऐसी वस्तु है। आहा! भगवान इतनी ताकतवाला है, इतना है कि पर्याय में लोकालोक और शब्द को जाननेवाला, उन्हें स्पर्श किये बिना, उनकी अस्ति है, इसलिए जानता है - ऐसा भी नहीं। अपनी अस्ति में, चैतन्य की पर्याय में लोकालोक को और शब्द को एक साथ जाननेवाला ऐसा यह भगवान अधिष्ठान है। आहा...हा...! है इसमें? हिन्दीवालों को समझ में आता है

या नहीं ? आहा... ! गुजराती में जैसा स्पष्ट आवे, वैसा हिन्दी में नहीं आता। आवे उसकी बात है न ? यह वाणी आती है, वह भी ज्ञेयरूप है। उसे सब ज्ञेयों को जानने में जैसे ज्ञेयाकार होते हैं, उसे भी जानने में ज्ञान ज्ञानाकार होता है। ज्ञेयाकार होकर, है न ? आहा... !

**वास्तव में चैतन्यसामान्य से....** सामान्य का अर्थ यहाँ अकेला द्रव्य (या) ध्रुव - ऐसा नहीं लेना। पूरा द्रव्य-गुण और पर्याय, वह सामान्य। उसमें अनन्त धर्म व्याप्त हैं। वहाँ तो अशुद्धता भी धर्मोंरूप से कहेंगे। आहा...हा... ! वहाँ तो व्यवहार से मोक्ष होता है -ऐसा भी कहेंगे। ऐसा एक धर्म गिनकर कहेंगे। वह एक साथ में, हों ! व्यवहार से किसी को होता है और निश्चय से (किसी को होता है) ऐसा नहीं। इस क्रियानय से और ज्ञाननय से होता है, यह भी एक समय में, यह योग गिनकर द्रव्य गिना है। किसी को क्रियानय से धर्म हो और किसी को ज्ञाननय से (हो) ऐसा नहीं है। कल आयेगा। आहा...हा... !

यहाँ तो एक समय में ज्ञान की पर्याय में ये सब जो रागादि क्रिया जो ज्ञेय है, आहा... ! उसे अपने स्वभाव से शब्दों को और उन ज्ञेयों को ज्ञेयाकार होकर जाने- ऐसा यह आत्मा है। जाने ऐसा आत्मा है। भले अशुद्धता हो, परन्तु अशुद्धता को जाने, ज्ञेयाकाररूप से (ऐसा आत्मा है)। मुझमें अशुद्धता है—ऐसा जाने और यह राग होता है, उसका कर्ता मैं हूँ। यह दृष्टि का विषय अलग है, अभी ज्ञान का विषय अलग है। राग जो परिणमित होता है, वह मुझमें एक धर्म है, ऐसी योग्यतावाला (धर्म है)। आहा...हा... ! उसे ज्ञान जानता है। यह राग परिणमित होता है, जीव रागरूप परिणमित होता है और राग का भोक्ता है, वेदन करता है-ऐसा एक नय है, उसका अधिष्ठाता भगवान है। आहा...हा... ! ऐसी बात है। बहुत गूढ़ बात ! आहा.... ! सन्तों ने तो कमाल कर दिया है !! आहा... ! जिसकी पात्रता है, ऐसा उसका प्रश्न हो, उसके लिये यह कहने में आया है। आहा... !

**अधिष्ठाता ( स्वामी )....** देखो ! यह राग होता है, उसका यह स्वामी है। सैंतालीस शक्ति में एक स्व-स्वामी (शक्ति) ली है। वहाँ आगे, यह अशुद्धता नहीं आती। वहाँ दृष्टिप्रधान, शक्तिप्रधान, द्रव्यप्रधान का कथन है। वहाँ स्वस्वामीसम्बन्धशक्ति (में) अशुद्धता नहीं आती। वहाँ तो द्रव्य-गुण और पर्याय स्व जो शुद्ध, उसका यह स्वामी है, ऐसा एक इसमें गुण है। उसमें इस अशुद्धता का

स्वामी, यह द्रव्यदृष्टि में नहीं आता। ज्ञान में आवे। दृष्टि होने पर साथ में जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान, अशुद्धता मुझमें है और अशुद्धता का धर्म-योग्यता मैंने रखी है, परन्तु उसका भी मैं ज्ञानाकार हूँ, ज्ञान ज्ञेयाकार में ज्ञानरूप परिणमे ऐसा मैं हूँ, ऐसी बातें अब, भाई! तेरा प्रभुत्व कोई अलग चीज़ है। तेरी प्रभुता की बातें कोई अलौकिक है। जगत् की प्रभुता में प्रभु! तू नहीं आता। जगत् की प्रभुता को भी ज्ञेयरूप से ज्ञान में जाने, ऐसा यह भगवान है। आहा...हा...! चक्रवर्ती का राज, इन्द्र का इन्द्रासन, करोड़ों अप्सरायें, कहते हैं कि वह सब ज्ञेय है। उस ज्ञेय के ज्ञानाकार परिणमे, वैसा भगवान आत्मा है, वह किसी चीज़ को मेरी माने और दूसरे से मुझे सुख होता है, वह आत्मा नहीं। आहा...हा...! दूसरे से मुझे कुछ सुख होता है... आहा...हा...! और दूसरे मेरे होते हैं-ऐसा आत्मा में नहीं परन्तु जिसे वह मेरा मानता है, वे ज्ञेयरूप से रहकर उनका ज्ञानाकार हो-ऐसा यह आत्मा है। आहा...हा...! यह मेरी स्त्री है और ये मेरे लड़के हैं (-ऐसा इसमें नहीं है)। आहा...हा...! वे सब ज्ञेय में गये। लोकालोक जो ज्ञेय हैं, उसमें गये। आहा...!

उन सब धर्मों में व्याप्त ऐसा **अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है,...** एक द्रव्य है। अनन्त गुण में व्याप्त होनेवाला परन्तु द्रव्य एक है। **क्योंकि अनन्त धर्मों में....** यह समझ में आये ऐसी सादी भाषा है। प्रभु! बहिनों, लड़कियों, माताओं को भी पकड़ में आये ऐसा है। अरे! इसे गरज हो, बापू! यह भव-भ्रमण करके दुःखी है, यह कहाँ सुख के सबड़का बाह्य में लेता है? प्रभु! सुख तो प्रभु! तुझमें भरा है न! अरे... प्रभु! तुझे उत्साह किसका आता है? पर में उत्साह आवे, वह शमशान में जल जाये ऐसा उत्साह है। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं, कदाचित् ज्ञानी को अशुद्धता भी आयी, परन्तु वह धर्म मेरा है, व्यापक है परन्तु उसे जानता हुआ ज्ञान, द्रव्य पर जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

**अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय...** अर्थात् एक-एक नय एक-एक धर्म को जानता है। ऐसे अनन्त धर्म आत्मा में हैं। धर्म अर्थात् धार रखे हुए भाव। धर्म अर्थात् धार रखे हुए भाव। फिर शुद्धता हो या अशुद्धता, परन्तु वह धार रखा हुआ भाव है। समझ में आया? आहा...हा...! अनन्त धर्म... धर्म अर्थात् पर्यायरूप से, गुणरूप से, द्रव्यरूप से धर्म है, (वे) इसके धार रखे हुए हैं। आहा! ऐसे अनन्त धर्म; धर्म अर्थात् शुद्धता एक धर्म, अशुद्धता भी एक धर्म। आहा...हा...!

ये सब इसके अपने में धार रखे हैं। यहाँ पर के कारण कोई बात नहीं है। आहा...हा...! अशुद्धता भी कर्म से हुई है, यहाँ बात नहीं है। अशुद्धता भी मुझमें मैंने धार रखी है, ऐसा एक धर्म मुझमें है। आहा...हा...! ये सब विवाद है कि नहीं, अशुद्धता होती है, वह कर्म के कारण होती है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** भावकर्म स्वयं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** भावकर्म भी अपनी पर्याय का अपना धर्म है। धर्म अर्थात् यह मोक्ष का मार्ग, ऐसा धर्म नहीं। धार रखी हुई पर्याय का ऐसा मेरा धर्म है। अब इस बनिये को फुर्सत नहीं मिलती। सत्य की तुलना करके निर्णय करना। आहा...हा...! लड़के आये हैं या नहीं? लड़के आये हैं, बापू! यह तो गजब किया। बापू! ऐसी बात है। भाई!

तू कितना है? कौन है? यह लोकालोक और शब्द को ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान करे, उतना तू है, किसी का कुछ कर दे और किसी से ले-ऐसा तू नहीं है। आहा...हा...! गुरु, देव, और शास्त्र, वे भी लोकालोक में-ज्ञेय में गये। समझ में आया? उस ज्ञेय को ज्ञानाकाररूप से ज्ञान जाने, उतना तू है। **अनन्त नय हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप....** अब एक-एक धर्म है, उसे जाननेवाला एक नय। परन्तु अनन्त-सब धर्म हैं, सामान्य और विशेष, सबको जाननेवाला **श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण....** पूरा श्रुतज्ञान प्रमाण। नय है, वह प्रमाण का एक अवयव है। श्रुत प्रमाण है, वह अवयवी है। जैसे यह शरीर पूरा है, वह अवयवी है और हाथ-पैर हैं, वे अवयव हैं। इसी प्रकार श्रुतज्ञान प्रमाण है, वह पूरे लोकालोक और पूरे द्रव्य-गुण-पर्याय सबको एक साथ जानता है-पर्याय को जाने, द्रव्य को जाने— ऐसा वह प्रमाण अनन्त धर्मों को एक साथ जानता है, उसे यहाँ प्रमाण कहने में आता है। सूक्ष्म है, प्रभु! तेरी बातें कठिन, भाई! आहा...हा...! यह दुर्लभ है, परन्तु अशक्य नहीं। बोधिदुर्लभभावना कहा है न? बोधिदुर्लभ। परन्तु तेरे लिये अशक्य नहीं, प्रभु! तू कितना है? आहा...हा...!

**अनन्त नय हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से...** प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से, **( वह आत्मद्रव्य ) प्रमेय होता है ( ज्ञात होता है )।** उस प्रमाणपूर्वक आत्मद्रव्य प्रमेय (होता है)। प्रमाण स्वयं और प्रमेय द्रव्य होता है। उस प्रमेय में तो अशुद्धता भी आयी, शुद्धता

भी आयी। सैंतालीस नय हैं, ऐसे अनन्त नय, (वे सब आ गये)। आहा...हा...! उस श्रुतज्ञान प्रमाण द्वारा। भावश्रुतज्ञान, हों! ये शब्द-बब्द नहीं, ये शब्द तो पर में गये। आहा...हा...! यह तो जहाँ-तहाँ अभिमान (करता है), यह मैंने समझाया, मेरी भाषा, मैं वक्ता, मुझे बहुत कण्ठस्थ रहता है। अरे! प्रभु! क्या करता है तू यह? कण्ठस्थ - यहाँ गले में रहता है। तेरे आत्मा में है नहीं। आहा...हा...!

**प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य)....** आहा...हा...! **प्रमेय होता है...** प्र-मेय—मेय (अर्थात्) ज्ञान में ज्ञात होता है। प्रमाण ज्ञान द्वारा पूरा प्रमेय; प्र-विशेष से, मेय-माप में आ जाता है। पूरी चीज़ इसके प्रमाण ज्ञान के माप में आ जाती है। जैसे माप में दस सेर मण माप है न? इसी प्रकार इस प्रमाण के माप में सारा प्रमेय आ जाता है। इसे यहाँ आत्मा कहने में आता है।

विशेष नय कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## नय - १ से ४

**तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् १। पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम् २। अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्र-कालभावैरस्तित्ववत् ३। नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्था-लक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्र-कालभावैर्नास्तित्ववत् ४।**

वह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से चैतन्यमात्र है, जैसे वस्त्र वस्त्रमात्र है, तदनुसार) ।१.

आत्मद्रव्य पर्यायनय से, तन्तुमात्र की भाँति, दर्शनज्ञानादिमात्र है (अर्थात् आत्मा पर्यायनय से दर्शनज्ञानचारित्रादिमात्र है, जैसे वस्त्र तन्तुमात्र है।)२.

आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है— लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधानदशा में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति। (जैसे कोई बाण स्वद्रव्य से लोहमय है, स्वक्षेत्र से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित है, स्वकाल से संधान-दशा में है, अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खेंची हुई दशा में है, और स्वभाव से लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्वनय से स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है।)३.

आत्मद्रव्य नास्तित्वनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला है— अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धानदशा में न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण अन्य बाण के द्रव्य की अपेक्षा से अलोहमय है, अन्य बाण के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित नहीं है, अन्य बाण के काल की अपेक्षा सन्धानदशा में नहीं रहा हुआ और अन्य बाण के भाव की अपेक्षा से लक्ष्योन्मुख है, उसी प्रकार आत्मा नास्तित्वनय से परचतुष्टय से नास्तित्ववाला है।)४.

**प्रवचन नं. २६०, नय १ से ४**

**भाद्रपद शुक्ल १२ सोमवार, ०३ सितम्बर १९७९**

'प्रवचनसार', नय का अधिकार है। आत्मा है, वह अनन्त गुण और पर्याय में व्यापक है। उसमें एक-एक धर्म एक-एक नय से ज्ञात होता है, परन्तु एक-एक नय एक-एक धर्म को जानते हुए भी उसका लक्ष्य वापस द्रव्य पर जाना चाहिए। आहा...हा...! एक नय से एक धर्म को देखे तो भी उस द्रव्य पर दृष्टि जानी चाहिए और प्रमाण से सारे नय के समुदाय को देखे तो भी उसे अन्तर द्रव्य पर, चैतन्यप्रकाश में जाना चाहिए। आहा...हा...! अरे! यह करनेयोग्य है, बाकी सब बातें हैं। आहा...हा...! स्व-सन्मुख होने का है। यह आयेगा। भाव में यह लक्ष्य में आया। भाई! आहा...हा...!

पहले दो बोल हैं। पहले आ गया न? **आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त...** चैतन्यसामान्य अर्थात् पूरी वस्तु द्वारा। द्रव्य और पर्याय। **अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता...** भाई ने इसमें—'श्रीमद्' में से निकाला था, मैंने कहा था और उसमें है। अधिष्ठान-वह अधिष्ठान आत्मा हृदय में देखता हूँ, वह अधिष्ठान, ऐसा कहा है। आहा...हा...! है? देखो!

**जगत का कोई अधिष्ठान होना चाहिए....** (२४ वाँ वर्ष, २१८ पत्र)। 'सोभागभाई' के प्रति पत्र है। 'परम पूज्य श्री सोभागभाई'—ऐसा शब्द है। आहा! **सत्, सत् है, सरल है, सुगम है, उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है।** और **सत् है, उसे काल से बाधा नहीं है, वह सर्व का अधिष्ठान है...** पहले आता है। वह अन्तिम आता है, वह पहले आता है। सर्व का अधिष्ठान है। आहा...हा...! 'श्रीमद्' का क्षयोपशम बहुत! छोटी उम्र में बहुत लेकर आये थे। आहा! भाषा तो देखो! **सत् है, उसे काल से बाधा नहीं है, सर्व सर्व का अधिष्ठान है...** यहाँ कहा न? भाई! अधिष्ठान है-कहा न यह? अपने कल यह हाथ नहीं आया था। (यह भाई ने) निकाला।

अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता है। आहा...हा...! गुण और पर्यायें जो अनन्त हैं, उनका वह आधार—अधिष्ठाता, स्वामी है। चाहे तो राग हो या अशुद्धता हो या शुद्धता (हो), वह उसका धर्म है, उसमें है। आहा...हा...! पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जो भगवान आत्मा अधिष्ठान है। अर्थात् कि विश्व और विश्व को कहनेवाला शास्त्र सत्, उसे ज्ञेयाकार में ज्ञानाकाररूप होना, दोनों का एक समय में ज्ञान (होना), ऐसा वह अधिष्ठान जीवद्रव्य है। इसमें ('श्रीमद् राजचन्द्र' में) यह लिया है। ***वाणी से अकथ्य है, उसकी प्राप्ति होती है और उस प्राप्ति का उपाय है।*** फिर अन्त में ***जगत् का कोई अधिष्ठान होना चाहिए ऐसा बहुत से माहात्माओं का कथन है और हम भी ऐसा ही कहते हैं कि अधिष्ठान है और वह अधिष्ठान, यह हरि भगवान है। जिसे बारम्बार हृदय देश में देखते हैं।*** यह यहाँ है। ऐसा कि कोई ईश्वरकर्ता मानते हों तो बदल डाला है। आहा...हा...! इस हृदयदेश में बारम्बार देखते हैं। आहा...हा...!

चैतन्य का नाथ भगवान पूर्णानन्द प्रभु.... विकार भले हो परन्तु वह विकारी पर्याय और गुण आदि तथा निर्विकारी पर्याय का वह स्वामी-अधिष्ठाता है। आहा...हा...! ज्ञानप्रधान कथन है न! दृष्टिप्रधान कथन में स्वस्वामीसम्बन्ध नाम का गुण है, परन्तु वह गुण, विकार का स्वामी है-ऐसा नहीं। वहाँ तो स्वद्रव्य, स्वगुण और स्व निर्मलपर्याय, वह स्व और उसका स्वामी—ऐसा एक गुण अन्दर है। गुण त्रिकाल की बात करनी है न? यहाँ तो पर्याय और गुण दोनों का अधिष्ठाता भगवान आत्मा है। आहा...हा...! इस आत्मा का कोई कर्ता है नहीं-ऐसा सिद्ध करना है। आहा...हा...!

इसीलिए तो यहाँ शब्द लिया है (कि) सत् सत् है, सरल है, सुगम है। प्रभु-वस्तु वहाँ है। आहा...हा...! उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है। चाहे जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव (हो)। नरक में हो, स्वर्ग में हो, मनुष्य में हो; एकेन्द्रिय में हो तो अलग बात है, परन्तु तिर्यंच पशु में हो, वहाँ भी प्रभु सत् है। उसकी प्राप्ति हो सकती है। आहा...हा...! यहाँ कहते हैं कि वह अधिष्ठान हरि भगवान है। दूसरों को लगे कि हरि भगवान, दूसरा कोई होगा; इसलिए यहाँ कहा कि ***'जिसे बारम्बार हृदयदेश में देखते हैं।'*** आहा...हा...! अन्तर का असंख्यात प्रदेशी जो भाव, वस्तु—उसे अन्दर में देखते हैं कि यह हरि भगवान, वह अधिष्ठान है।

यह यहाँ कहा, **अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता....** है। **क्योंकि अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं....** आहा...हा...! अनन्त नय। .**उनमें व्याप्त होनेवाला....** रहनेवाला **जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से ( वह आत्मद्रव्य ) प्रमेय होता है ( ज्ञात होता है )।** भावश्रुतज्ञान के प्रमाण द्वारा भगवान अनन्त धर्मों का व्यापक प्रभु, वह प्रमेय होता है। प्रमाण में वह ज्ञात होता है। आहा...हा...! समझ में आया? राग है अवश्य, परन्तु वह ज्ञात होता है राग द्वारा, राग से नहीं—ऐसा कहते हैं। एक नय से उसमें राग है, परन्तु उसे जानने में तो भावश्रुतज्ञान द्वारा वह प्रमेय ज्ञात होता है। जो द्रव्य जितना, जितनी पर्याय है, वह सब भावश्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात होता है। आहा...हा...! इस पर्यूषण में तो करने का यह है, कहते हैं। किसी भी काल में, यह पर्यूषण क्या? किसी भी काल में इसे... आहा...हा...! पर से विमुख होकर स्व से सन्मुख होना है। यह पूरा एक सिद्धान्त है। बाकी सब बातें चाहे जो हों। आहा...!

**वह आत्मद्रव्य, द्रव्यनय से,....** आत्मद्रव्य, वस्तु तो आत्मद्रव्य ली है। द्रव्यनय से जो त्रिकाली द्रव्य है, उसे जाननेवाले ज्ञान के अंश से **पटमात्र की भाँति,....** जैसे वस्त्र पूरा एकरूप है, जैसे वस्त्रमात्र पूरा एक है, वैसे **पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है ....** भगवान चिन्मात्र है। द्रव्यनय से-वस्तु की दृष्टि के नय से वह चिन्मात्र वस्तु है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** .....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** त्रिकाल द्रव्य है, वह चिन्मात्र वस्तु है। ज्ञानस्वभावमात्र है। ज्ञान के साथ अनन्त गुण अबिनाभावी है। समझ में आया? आहा...हा...! अरे! ऐसी वस्तु अनन्त काल में अनजाने पड़ी रही। जानना होने पर वह अन्दर प्रगट है, कहते हैं।

**आत्मद्रव्य....** वस्तु **द्रव्यनय से....** यह एक धर्म है, हों! यह एक धर्म है। द्रव्यनय से अर्थात् यह एक धर्म है। ऐसे-ऐसे तो अनन्त धर्म आत्मा में हैं। आहा...हा...! वीतराग तीन लोक के नाथ, वे यह पुकारते हैं कि प्रभु! अनन्त नय हैं, तुझमें अनन्त धर्म अर्थात् धार रखे हुए भाव तथा पर्यायें हैं। राग भी भले तूने धार रखा हुआ तेरा धर्म है। आहा...हा...! धर्म अर्थात्? यह मोक्ष का मार्ग-ऐसा नहीं। तेरी चीज़ में है। राग-विकार, वह भी एक तुझमें धार रखा हुआ तेरा धर्म है। धर्म

अर्थात् कि यह मोक्ष का मार्ग—वह यहाँ अभी नहीं। अन्दर धार रखा हुआ तत्त्व है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं, बापू! अरे! इसमें झगड़ा... झगड़ा... झगड़ा... जगत का। वे कहें—तुम्हारा एकान्त नय है, तुम्हारा ऐसा है। अरे...! प्रभु! सुन न भाई!

यह भगवान है, इसे एक नय से देखें, द्रव्यनय से देखें, त्रिकाली द्रव्यनय से देखें... पर्यायनय से बाद में बात लेंगे। वह भी एक धर्म है; परन्तु अभी तो एक धर्म जो द्रव्य-त्रिकाली चिन्मात्र वस्तु से देखें... आहा...हा...! तो वस्त्र की भाँति ज्ञानमात्र, अनन्त गुणस्वभावमात्र द्रव्य है। अनन्त गुणस्वभावमात्र द्रव्य है। आहा! अरे! ऐसा उपदेश अब। सन्त... आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्य का ये कथन है। प्रवचनसार की टीका तो की, ऊपर कलश चढ़ाया! कलश तो अन्दर थोड़े थे, उसमें फिर यह बड़ा कलश चढ़ाया। आहा...हा...!

प्रभु! तुझे ऐसी जिज्ञासा हो कि आत्मा कैसा है? और कैसे प्राप्त हो? यह यदि तेरी जिज्ञासा हो... आहा...हा...! दूसरा कैसे प्राप्त हो? और कैसे छूटे? और लक्ष्मी कैसे मिले और स्वर्ग कैसे मिले? पुण्य कैसे मिले? यह प्रश्न नहीं किया। आहा...हा...! शिष्य की पात्रता की योग्यता से प्रश्न उठा है। आहा...हा...! प्रभु! यह आत्मा कैसा है? और जितना है, उतना किस विधि से प्राप्त होता है? आहा...हा...! भाई! आहा...हा...! भाग्यशाली है, बापू! ऐसी वीतराग की वाणी, भाई! आहा...!

प्रभु! तुझमें एक द्रव्यनय से देखें... आहा...हा...! द्रव्यनय से देखें, ऐसा कहा न? आहा...हा...! **द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है....** आहा...हा...! द्रव्यनय से वह तो ज्ञानस्वभावी वस्तु है, द्रव्य वह है। आहा...हा...! **( अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से चैतन्यमात्र है, जैसे वस्त्र वस्त्रमात्र है, तदनुसार )।** वस्त्र के भेद नहीं; ताना-बाना यह (नहीं), अभी द्रव्यनय में ये नहीं। आहा...हा...! वे पर्यायनय में आयेंगे। पर्यायनय से वह भी उसका एक धर्म है। द्रव्यनय भी इसने एक धार रखा हुआ भाव है। आहा...हा...!

दूसरा—**आत्मद्रव्य पर्यायनय से,....** देखो! वापस पर्यायनय से (ऐसा लिया)। ज्ञात होता है तो श्रुतज्ञान में प्रमाण और नय से (ज्ञात होता है)। वह तो पर्याय है—श्रुतज्ञान तो पर्याय है और नय भी एक पर्याय है। आहा...हा...! ऐसी बात! प्रभु! तुझे संसार का छेद होकर वस्तु कैसे प्राप्त हो—इसके लिये यह बात है।

आहा! बाकी सब चाहे जो चीज़ हो। आहा! पर्याय में रागमात्र और पर्यायमात्र देखें... आहा...हा...! अनन्त पर्यायें पूरी लेना। वह आत्मद्रव्य, परन्तु द्रव्य-वस्तु। पर्यायमात्र से देखें तो **तन्तुमात्र की भाँति,...** जैसे वस्त्र में ताना-बाना है; वैसे आत्मा में अनन्त पर्यायें हैं। आहा...हा...! द्रव्यनय में वस्तु, वस्तुमात्र है, वस्त्र की भाँति। पर्यायनय से तंतुमात्र जैसे वस्त्र है; वैसे भेद में सब पर्यायभेद है। आहा...हा...! ऐसी व्याख्या अब। वे कहे—व्रत करो, अपवास करो, सीधा सट्ट था। वह तो भटकने का था, बापू! वे तो राग की बातें हैं, भाई! आहा...हा...!

अरे! ऐसा मनुष्यपना मिला, जिसे छहढाला तो ऐसा कहे-निगोद में से निकलकर त्रस-लट हो (तो) चिन्तामणि रत्न मिला—ऐसा कहते हैं। छहढाला है न? आहा...हा...! चिन्तामणि! त्रस, त्रस, निगोद के जीव, देखो न! आहा...हा...! ये नीम के फूल, एक इतना फूल, उसमें असंख्य तो औदारिकशरीर और एक-एक शरीर में अनन्त जीव हैं, बापू! आहा...! यह तीन लोक के नाथ कथन है। प्रभु! उसमें से निकलकर त्रस होओ (तो वह चिन्तामणि रत्न समान है) अनन्त जीव निगोद में पड़े हैं। अभी तक अनन्त काल गया, परन्तु अनन्त पड़े हैं। उसमें से थोड़े त्रस हुए, बाकी तो अनन्त त्रस हुए बिना पड़े हैं। आहा...हा...! और अनन्त काल होगा तो भी अभी त्रस में आयेंगे नहीं - ऐसे कितने ही जीव पड़े हैं। आहा...हा...!

भाई! तुझे मनुष्यपना मिला, यहाँ तो कहते है, त्रसपना मिले... आहा...हा...! दो इन्द्रिय हो, एक इन्द्रिय में से निकलकर दो इन्द्रिय हो... आहा...हा...! (वह) चिन्तामणि प्राप्त हुआ। तो प्रभु! तुझे मनुष्यपना मिला, उसका क्या कहना? कहते हैं। आहा...हा...! उसमें भी जैनधर्म के सम्प्रदाय में जन्म और उसमें भी जैनवाणी सुनने की दुर्लभता। आहा...हा...! ऐसी दुर्लभता में तो यह जानने जैसी चीज़ है, कहते हैं। आहा!

द्रव्यनय से द्रव्यमात्र चिन्मात्र है, ऐसा देखकर चैतन्यमात्र का अनुभव करना। उस प्रकाश को अन्दर (देखना) आहा...हा...! चैतन्यमात्र भगवान द्रव्य का अनुभव करना, उसे देखना। पर्यायनय से देखने पर भी आत्मद्रव्य, पर्यायनय से देखने पर जैसे वस्त्र में अनेक तन्तु हैं, वैसे पर्यायें अनेक हैं। उस नय से देखने पर भी देखना है द्रव्य में। आहा...हा...!

अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त, केवली के पथानुगामी हैं। एक-दो भव में केवल (ज्ञानी) होनेवाले हैं। अभी स्वर्ग में हैं। कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य... आहा...हा...! ये पद्मप्रभमलधारिदेव, सब एक भव में (मोक्ष जायेंगे)। ये तो फिर तीर्थंकर होनेवाले हैं, ऐसी अन्दर शैली है। ऐसा पढ़ते हुए लगा था कि ये तो तीर्थंकर होंगे, ऐसी नियमसार में शैली है। क्योंकि नियमसार कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने भाव (भावना) के लिये बनाया और इन्होंने उसकी टीका की। आहा...! और टीका में तो अन्दर ऐसी कितनी ही शैली है... आहा...हा...! अमुक में भावी तीर्थंकर लिखा है, भाई! है, इस शब्द में से आया है। बात दूसरी है परन्तु फिर भी भावी तीर्थंकर लिखा है। भाई! उस समय मस्तिष्क में (यह आया था)। अधिकार कुछ दूसरा है, परन्तु भावी तीर्थंकर को ऐसा है, ऐसा (लिखा है)। आहा...हा...! इसलिए उसमें से मस्तिष्क में ऐसा आया था कि ये भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले लगते हैं। इन दिगम्बर सन्तों की क्या बातें, बापू! परमेश्वर! आहा...हा...! जिन्हें आनन्द का उछाला उछला है, जिन्हें अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार पर्याय में आता है, उसे मुनि कहते हैं, भाई! आहा...! अरे रे! अभी भगवान का विरह पड़ा, ऐसे मुनि रहे नहीं। अरे रे! समझ में आया?

(यहाँ) कहते हैं कि **पर्यायनय से, तन्तुमात्र की भाँति, दर्शनज्ञानादिमात्र है...** दर्शन-ज्ञान आदि भेद हैं - ऐसा (कहते हैं)। दर्शन-ज्ञान-चारित्र आनन्द ये भेद हैं। इस पर्यायनय से देखें तो भेदमात्र दिखता है परन्तु भेदमात्र देखकर भी जाना है द्रव्य देखने में। यहाँ अटकना नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! भेद का ज्ञान हो, तथापि उसे वहाँ अटकना नहीं है। इस भेद का ज्ञान किया, भेद है, अस्तित्व है-ऐसा ज्ञान करके अन्दर जाना है। चैतन्य भगवान बादशाह बिराजता है। आहा...हा...!

**(अर्थात् आत्मा पर्यायनय से दर्शनज्ञानचारित्रादिमात्र है,...)** भेद। **(जैसे वस्त्र तन्तुमात्र है।)** आहा...हा...!

अब सात अस्तित्व आदि नय आते हैं। जरा सूक्ष्म बात है। **आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से....** सत्ता के, अस्तित्व के नय से। **स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है...** अपने द्रव्य से अस्तित्ववाला, क्षेत्र से सत्तावाला, काल से अस्तित्ववाला, भाव से भी अस्तित्ववाला (है)। आहा...हा...! अरे! मुनियों ने

करुणा करके ऐसी बातें की हैं। करुणा का विकल्प आया है (कि) अरे जगत... तथापि उस विकल्प के कर्ता नहीं हैं, उसके ज्ञातादृष्टा हैं। आहा...हा...! तो टीका के शब्दों के तो कर्ता कहाँ से होंगे? आहा...हा...! वह तो परमाणु की पर्याय है। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा अस्तित्वनय से है, अपने अस्तित्व से (है)। द्रव्य से अस्तित्व है, क्षेत्र से अस्तित्व है, काल से अस्तित्व है, भाव से (अस्तित्व है)। जैसे **लोहमय,...** बाण। लोहमय बाण वह द्रव्य। लोहे का बाण। किसी ने (यहाँ) रखा है, किसी ने रखा है। देखो! यह लोहे का है न? यह लोहमय पूरा बाण, हों! और **डोरी और धनुष के मध्य में स्थित,...** इस डोरी और धनुष के अन्तर में क्षेत्र है न? क्षेत्र। क्षेत्र बताना है न? यह डोरी और धनुष, इसके अन्तर में रहा हुआ पूरा, वह क्षेत्र। किसने रखा है? यह धनुष वह द्रव्य है और यह उसका क्षेत्र है। यह डोरी और यह बीच का सब उसका क्षेत्र है। है न? **डोरी और धनुष के मध्य में स्थित,...**

**संधानदशा में रहे हुए....** यह काल। यह है न संधान अवस्था? **और लक्ष्योन्मुख...** जो यह द्रव्य है, इससे जो ऐसा करना है न, जिस पर इसका लक्ष्य सन्मुख है। यहाँ मारना है, यह लक्ष्य के सन्मुख है ऐसा।

**( जैसे कोई बाण... )** भाई ने लिखा है। **( स्वद्रव्य से लोहमय है,... )** स्वद्रव्य से पूरा लोहमय है। **( स्वक्षेत्र से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित है,... )** आहा...हा...! **( स्वकाल से संधान-दशा में है, अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खेंची हुई... )** है न यह? यह ऐसे खींचते हैं न? ऐसे जब खिंचे, वह उसका काल है। **( स्वकाल से संधान-दशा में है, अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खेंची हुई दशा में है,... )** यह ऐसे चढ़ाया है न? ऐसे देखो, ऐसे। **( और स्वभाव से लक्ष्योन्मुख है.... )** जहाँ लक्ष्य है न, वहाँ इसका ऐसा जाना है। अब अपने यहाँ आत्मा में उतारने की बात है।

**( उसी प्रकार आत्मा अस्तित्वनय से स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है। )** स्वचतुष्टय अर्थात्? स्वद्रव्य है, उस द्रव्य से अस्तित्व है। उसकी चौड़ाई असंख्यात प्रदेशी है, वह उसका क्षेत्र है। उसकी वर्तमान पर्याय है, वह उसका काल है और द्रव्य के सन्मुख में भाव रहा हुआ है कि यह ऐसे है। उसका (मुख) ऐसे (परतरफ) है, इसका मुख (अन्तर में) है। आहा...हा...! भाव है, वह लक्ष्य के सन्मुख है।

भाव, वह द्रव्य के अन्दर में भाव है, वहाँ अन्दर जाता है। आहा...हा...! मुनियों ने भी गजब काम किया है न! जंगल में रहकर ताड़पत्र पर लिखा है। वहाँ देखा है न? सूरत के समीप सजोद है, सजोद है, है न तुम्हारे? गये थे, दो बार गये थे। सजोद में दो हजार वर्ष पहले की मूर्ति है। पुरानी दिगम्बर मूर्ति! घर बहुत थोड़े हैं। (तुम) कभी गये थे? हम तो दो बार जाकर आये। सजोद बहुत पुराना गाँव है। दो हजार वर्ष पहले की मूर्ति अन्दर नीचे भँवरें में है। नीचे है, ऐसा खुला है। वहाँ जंगल में ताड़पत्र बहुत हैं, बहुत ताड़पत्र! उसमें सन्त रहते थे और ताड़पत्र पड़े हों, उनमें यह लिखा हुआ है। सब देखा है न!

यहाँ कहते हैं कि भगवान! तुझे द्रव्य से देखें तो वस्तु है; क्षेत्र से देखें तो असंख्य प्रदेश में रहा हुआ है; काल से देखें तो वर्तमान पर्यायमात्र है; भाव से देखें तो द्रव्य के लक्ष्य सन्मुख रहे हुए भाव, उसमय है। आहा...हा...! दूसरा प्रश्न तो मस्तिष्क में ऐसा आया था कि यह भाव है, वह लक्ष्यसन्मुख है, ऐसी दृष्टि होने पर परिणति में भाव प्रगट हों-ऐसा यह आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया? भाव को जानने लक्ष्य द्रव्य पर जाता है, तब परिणति में वीतरागता उत्पन्न होती है। उस लक्ष्यसन्मुख से परिणति वहाँ उत्पन्न हुई। वह परिणति है, स्वकाल। आहा...हा...! पूर्णानन्द के नाथ के भाव भरे हुए हैं, वह भाव लक्ष्य-सन्मुख है। द्रव्य के सन्मुख में है, परसन्मुख नहीं। आहा...हा...! वह भाव लक्ष्य के सन्मुख में है ऐसा अन्दर देखने से परिणति में सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की वीतरागदशा हो, यह इसका स्वकाल है। आहा...हा...! भाई! यह कोई कथा-वार्ता नहीं, प्रभु! आहा...हा...! यह तो वीतरागी कथा है।

इसे देखना स्व में है-ऐसा कहते हैं। क्योंकि स्वसन्मुख भाव सब वहाँ पड़े हैं। वे भाव परसन्मुख नहीं हैं। आहा...हा...! और स्वसन्मुख की भाव की दृष्टि से देखने पर इसकी परिणति में वीतरागता उत्पन्न होती है, आनन्द की धारा आती है, ऐसा स्वकाल वहाँ पकता है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। अरे! इस दुनिया के काम में पड़कर जगत् ने जिन्दगी गँवायी है। कहो, क्या आया यह सब? ए ई! इसका एकाक्षरी नाम है। एकाक्षरी है या नहीं? काना, मात्रा, बिन्दी कुछ नहीं। ऐसा विचार पहले आया था, हों! आहा...हा...! भगवान की वाणी एकाक्षरी है। ओम ध्वनि खिरती है। आहा...हा...! ऐसी भगवान की वाणी एकाक्षरीपना है,

वैसे एक अक्षर को उत्पन्न करनेवाला विकल्प है, सर्वज्ञ को वह विकल्प नहीं है। सर्वज्ञ को ओमध्वनि स्वतः उत्पन्न होती है। आहा...हा...! उस वाणी के, भाषा के काल में वह ओमध्वनि उठती है; भगवान ओम में कारण नहीं है। आहा...हा...! आहा...हा...!

**( उसी प्रकार आत्मा अस्तित्वनय से स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है। )**

इस प्रकार वस्तु से द्रव्य है; क्षेत्र से असंख्य प्रदेश हैं। इन असंख्य प्रदेश को पंचास्तिकाय में एक प्रदेश भी कहा है, भाई! असंख्य प्रदेशी एक प्रदेशी। एक वस्तु है न, इसलिए एक प्रदेश कहा। जैसे द्रव्य एक है, वैसे प्रदेश भी, असंख्य प्रदेश को एक प्रदेशी कहा है। पंचास्तिकाय में है। समझ में आया? आहा...हा...! वहाँ तो यहाँ तक कहा है कि नयी पर्याय स्वकाल है, वह होती है, वह संयोग है और पुरानी पर्याय जाती है, वह उसका वियोग है। परचीज़ का संयोग-वियोग आत्मा में नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, उसमें ध्रुवपना तो कायम है परन्तु उसकी पर्याय में... आहा...हा...! पर्याय उत्पन्न होती है, वह तो उसे संयोग हुआ। वस्तु में नहीं थी और उसे यहाँ संयोग हुआ। केवलज्ञानपर्याय उत्पन्न हुई, वह संयोग हुआ-ऐसा कहते हैं। द्रव्य में वह पर्याय उत्पन्न हुई, यह संयोग हुआ। अरे! दया, दान के विकल्प के संयोगीभाव का तो यहाँ क्या कहना? परन्तु उसमें द्रव्य के लक्ष्य में जाने पर जो पर्याय उत्पन्न हुई, वह पर्याय, द्रव्य को-ध्रुव को संयोग हुआ, कहते हैं और जो पूर्व की पर्याय का व्यय हुआ, वह द्रव्य में उसे वियोग हुआ। आहा...हा...! बाहर की चीज़ के संयोग-वियोग तो किसी गिनती में नहीं है। वे तो उनके कारण आते और जाते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

यहाँ तो द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव चार भाव से द्रव्य प्रकाशमय देखे। चार भाव का ज्ञान करे परन्तु देखना वहाँ चैतन्यद्रव्य को है। आहा...हा...! जहाँ प्रभु पूर्ण पड़ा है, वहाँ प्रभु! तुझे देखना है। आहा...हा...! भले इन चारपने का ज्ञान करे, परन्तु यह ज्ञान करके जाना कहाँ है? त्रिकाली ज्ञायकभाव को देखे वह। आत्मद्रव्य चाररूप से अस्तित्व है-ऐसा जो ज्ञान किया, उसका लक्ष्य द्रव्य पर जाता है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं, बापू! वीतराग तीन लोक के नाथ परमेश्वर महाविदेह में फरमाते हैं। आहा..हा...! उसे यहाँ सन्त प्रसिद्ध करते हैं (कि) परमात्मा ऐसा कहते थे। आहा...हा...! यह तीसरा बोल हुआ।

अधिक तो यहाँ स्वभाव से लक्ष्योन्मुख है न? उस तीर का कहा था न कि लक्ष्य -उन्मुख है, सामने चीज़ है उस पर (लक्ष्य है)। ऐसे खिंचा हुआ है, वह काल है परन्तु जिस पर डालना है, उसका लक्ष्य है। वैसे यहाँ जिस पर लक्ष्य करना है, उसके सन्मुख भाव, उसके सन्मुख ही पड़ा है। आहा...हा...! त्रिकाली गुण को कहना है न? पर्याय है, रागादि भले हों उन्हें जानकर भी जाना वहाँ है। यहाँ तो स्व अस्तित्वरूप, स्व चतुष्टयरूप है। आहा...! स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव इसरूप से वह अस्ति है। स्वचतुष्टयरूप है, उसे जानकर भी इसे जाना है द्रव्य पर। इन चारों भेदों को जानकर भेद में खड़ा नहीं रहना है-ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! अब ऐसी कथा! अभी तो पूरी बात में बहुत फेरफार हो गया, बापू! सत्य बात बाहर आयी, तब विरोधी लोग पुकार करते हैं-एकान्त है... एकान्त है। प्रभु! सुन, भाई!

**मुमुक्षु :** लोग नहीं कहते, अज्ञानी कहते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वे अज्ञानी हैं, उन्हें पता नहीं है। अज्ञानी क्या न करे, आहा...हा...! एक बार वहाँ राजकोट में कहा था न? भाई! जेल में (सम्बोधन देने) गये थे न? जेल में सब चोर थे (उन्होंने) बड़ों से कहलवाया कि महाराज गाँव में आये हैं, उनके दर्शन करना है। जेल में बहुत अपराधियों को डाला हुआ था। बड़ी जेल थी, तो उन्हें पता कि मैं वहाँ जाऊँ, बारम्बार जाऊँ, इसलिए उन्हें पता था कि महाराज गाँव में हैं और लोग बहुत जाते हैं, सुनते हैं। हमें दर्शन करना है; इसलिए उनके प्रमुख हों उनके (पास जाकर) माँग की, उन्होंने छूट दी। जेल के दो दरवाजे होते हैं, इसलिए जब यह खुले, तब वह बन्द रखे और वह खोले, तब यह बन्द रखे, वरना वे भाग जायें तो! दो दरवाजे होते हैं।

हम गये। वह अलग और वह अलग, (था) नहीं? वे बड़े थे, वे दूसरे। दूसरे बड़े अपराधी थे। लुटेरे! कहाँ? बेगम वहाँ थी, परन्तु यहाँ हम गये तो बेचारे सब सुनने बैठे थे। भाई! वहाँ लिखा था - अज्ञान जैसा कोई दोष नहीं। बापू! अज्ञानरूप से यह सब हुआ, बेचारे बहुत प्रेम से (सुनते थे) बहुत से अपराधी (थे)। बापू! यह देखो, क्या लिखा है? भाई! आत्मा के अज्ञानरूप से दोष होते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! वहीं वह था न एक (जिसे) फाँसी देनेवाले थे? बीच में वह था, एक युवक था, (उसने) एक महिला को मार डाला, खून कर दिया। एक कमरा था और उसमें एक छोटा वस्त्र था, नहीं तो गले में फाँसी खाये

तो ? एक वस्त्र पहने था। जवान मनुष्य लट्ठ जैसा। ऐसे निकला तो बेचारा पैर लगा। जेलर साथ में था। अरे देखो न, अज्ञानरूप से क्या होता है ? फाँसी देने का निश्चित हो गया था। फाँसी बाद में दी। हम वहाँ थे। (फिर फाँसी दी) जवान मनुष्य लट्ठ जैसा। कहा, बापू! अरे रे! क्या हो ? अज्ञानरूप से आत्मा क्या न करे ? जेल में दस मिनिट व्याख्यान दिया। कहा, यह लिखा है न ? इसमें लिखा है, इसमें देखो! अज्ञानरूप से क्या नहीं होता ? इसलिए आत्मा को पहिचानना कि जिसके ज्ञान से फिर दुःख नहीं होता।

वहाँ गये थे। कहा न ? 'बेगमगंज' वहाँ सब बड़े डकैत थे। बड़े लाखों लूटे हुए, बहुत लाखों लूटे हुए, बड़े डकैत। डकैतों को पता पड़ा कि महाराज आये हैं। वहाँ हम नजदीक में जेल के निकट उतरे हुए थे। बड़े-बड़े डकैत, हों! नाम कुछ नहीं। बड़े डकैत बड़ी लूटपाट, लाखों की लूट करके कितनों को मार डाला, फिर गुनाहगार को पकड़ा, उसने इतना माना, छूट दी कि तुम्हारे अमुक समय जाना हो तो जाओ परन्तु वापस यहाँ जेल में आना। वे सब जेल में थे। दरवाजा खोला और अन्दर पड़े। बेचारे सब आये। डकैत, बड़े से बड़े डकैत परन्तु सबको यह कहा। आहा! ये अपराध होते हैं, वे अज्ञान से अनादि से करता है, बापू! भगवान को अपराध है नहीं। वह तो गुणवाला है, गुनाहवाला नहीं। आहा...हा...! सुनते थे, बेचारे स्वीकार करते थे। आहा! फिर कुछ चढ़ाया था, नहीं ? माला दी थी। माला थी और वह रखी होगी। डकैतों ने खड़े होकर (चढ़ाई) बड़ा डकैत, बड़ा! बहुत पाप किये थे। महिलाओं के, आदमियों के खून किये थे परन्तु फिर सरकार पकड़ने लगी तो पकड़े जाने की सब तैयारी थी; इसलिए फिर स्वयं ही बाहर आये। इसलिए फिर सरकार न उन्हें जेल में (रखा)। अमुक समय तुम्हें बाहर जाना हो तो जाओ, उस समय सुनते थे। यह बात बेचारे (कहाँ सुनें) ? महापाप किये थे, भाई! भगवान अन्दर आत्मा है, वह पूर्णानन्द का नाथ है। उसे यह अपराध नहीं होता, उसे राग की क्रिया कर्ता हूँ, यह नहीं होता। सुनते थे।

यहाँ परमात्मा वस्तु से है, क्षेत्र से है, काल से है, भाव से है। आहा...हा...! उस भाव का ज्ञान कब होता है ? कि द्रव्य के लक्ष्य में जाये, तब भाव का ज्ञान होता है, ऐसा वह भाव है। उस काल का भी भान कब होता है ? कि द्रव्य के लक्ष्य में जाये, तब काल का भान होता है। क्षेत्र का भान कब होता है ? आहा...हा...!

भगवान चैतन्यमूर्ति, ज्ञायक... आहा...हा...! उसे देखने पर उसके क्षेत्र, काल, भाव का ज्ञान होता है। उसे देखने पर द्रव्य का ज्ञान यथार्थ होता है। ऐसी बातें हैं। अरे! दुनिया को दुःख लगता, भाई! रस नहीं चढ़ता। बाहर अन्य रस चढ़ गया है न, इसलिए यह बातें कठिन पड़ती हैं परन्तु बापू! मार्ग तो यह है। सुख के पंथ में जाना हो तो यह है। दुःख के पंथ में तो लग ही रहा है, प्रभु! आहा...हा...! यह भाव, निशान के सन्मुख है-ऐसा लिया न? आहा...हा...! लक्ष्य-सन्मुख है। है न? निशान के सन्मुख है। लक्ष्य-सन्मुख का अर्थ किया-स्वभाव से, लक्ष्य-सन्मुख अर्थात् निशान के सन्मुख है। ऐसा जो (द्रव्य का) लक्ष्य करना है, उसमें ही भाव भरे हैं। आहा...हा...! द्रव्य का लक्ष्य करना है तो द्रव्य में सन्मुखरूप से भाव पड़ा है। आहा...हा...! ऐसी बातें अब। अभी यह बात पड़ी रही। व्रत करो, अपवास करो, तपस्या करो, मन्दिर बनाओ, पूजा करो और भक्ति (करो) धमाल! ज्ञानमार्ग रहा दूर। क्या कहा? धाम-धूम—धमाधम चली, ज्ञानमार्ग रहा दूर। या तो मन्दिर में प्रतिमा में चमत्कार होता है और अमुक होता है-ऐसा करके जगत् को मार डाला है!

**मुमुक्षु :** प्रतिमा के मुख में से पानी झरता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह कुछ पानी डाला, उसमें से पानी झरा, चमत्कार हुआ... धूल भी नहीं, अब उसमें, सुन न! आत्मा आनन्द के लक्ष्य में जाये और आनन्द झरे, वह चैतन्य की प्रतिमा का झरना है। वह अपनी घर की प्रतिमा हो, उसे विशेष बताना हो, इसलिए (ऐसा कहते हैं।) उसमें हुआ था और इसमें चमत्कार हुआ था और अमुक हुआ था... आहा...हा...! यह चमत्कार तो चैतन्य चमत्कार भगवान अन्दर है। आहा...हा...! उसके लक्ष्य से पर्याय में आनन्द का झरना-पानी आवे, उसका नाम चमत्कार है। आहा...हा...!

चौथा बोल। **आत्मद्रव्य नास्तित्वनय से...** (अर्थात्) पर के अभावस्वभावनय से **परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से....** नहीं है। यह परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव से भगवान नहीं है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है परन्तु पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। आहा...हा...! **अलोहमय,...** धनुष अलोहमय नहीं - ऐसे (धनुष में) अलोहमयपना नहीं। अलोहमय-पर का लोहमयपना नहीं। अलोहमयपना है। अलोहमयपना, जो पर का लोहपना है, उसका इसमें अलोहमयपना

है। द्रव्य की नास्ति (बतायी)। आहा...हा...! **डोरी और धनुष के मध्य में...** यह क्षेत्र (लिया)। (उसमें) **नहीं स्थित,...** आहा...हा...! पर की अपेक्षा से डोरी और धनुष के अन्तराल में उसका क्षेत्र नहीं है। पर के क्षेत्र की अपेक्षा से स्वयं का क्षेत्र नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! सम्मेदशिखर, गिरनार और शत्रुंजय का क्षेत्र, उस पर के क्षेत्र से (स्व) भगवान नहीं है, कहते हैं। सिद्ध का क्षेत्र है, लो न! उस सिद्ध के क्षेत्र से आत्मा नहीं है। आहा...हा...! अपने क्षेत्र से है और पर के क्षेत्र से नहीं है। आहा...हा...! जहाँ सिद्ध बिराजते हैं, वहाँ निगोद जीव हैं। क्या कहा? जहाँ सिद्ध बिराजते हैं, वहाँ निगोद के जीव सिद्ध भगवान के पेट में-क्षेत्र (में) हैं। क्या कहा? समझ में आया?

जैसे भगवान ऋषभदेव पाँच सौ धनुष के हैं, बाहुबली सवा पाँच सौ धनुष के हैं, वैसा आकार वहाँ है। उतनी लम्बाई में भगवान स्वयं आनन्द में, आनन्द के अनुभव में स्वद्रव्य में है। इस जिस क्षेत्र में भगवान हैं, उस क्षेत्र में अन्दर निगोद के जीव हैं। पूरे लोकरूप है न? तो वहाँ भी है परन्तु वह भगवान का क्षेत्र है, वह उन निगोद के क्षेत्र से अभावरूप है। समझ में आया? पर लोहे के क्षेत्र से, पर लोहे के भाव से स्व का क्षेत्र नास्तिरूप है। अरे... अरे...! ऐसी बातें हैं। बाद में लेंगे, हों!

**सन्धानदशा में न रहे हुए....** पर की अवस्था है तद्नुसार आत्मा में अवस्था नहीं। सन्धान अवस्था में यह नास्ति है। **और अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति।** वह लक्ष्योन्मुख है, यह अलक्ष्योन्मुख है। ऐसा पर जो है, उससे अभावस्वरूप है। आहा...हा...! अब ऐसी बातें। इसमें करना क्या परन्तु? परन्तु यह करने के लिये है, बापू! सुन न! तेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में परद्रव्य-क्षेत्र-काल (भाव नहीं है)। त्रिलोक नाथ का द्रव्य है, वह भी तुझमें नहीं। आहा..हा...! सिद्ध का क्षेत्र है, वह भी तुझमें नहीं। आहा...! पर के केवलज्ञान की पर्याय का जो परकाल है, वह तुझमें नहीं और पर के जो गुण हैं, वे तुझमें नहीं; इसलिए उन गुण का तुझमें अभाव है। वह पर्याय पर की है, उसका तुझमें अभाव है, अकाल है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बात है, भाई!

तेरे अस्तित्व में तू है और पर के अस्तित्व में तू नहीं। पर के अस्तित्वरूप, पर का द्रव्य, पर का क्षेत्र, पर का काल, उसके अस्तित्वरूप तू नहीं है। आहा...हा...!

आत्मा के क्षेत्र में कर्म का क्षेत्र पड़ा है, उस कर्म के क्षेत्ररूप तू नहीं है। तू तेरे क्षेत्र में अस्तिरूप है, कर्म के क्षेत्रपने का तुझमें अभाव है। आहा...हा...! समझ में आया? इसी प्रकार सम्मेदशिखर, गिरनार वह परक्षेत्र है; परक्षेत्र का तुझमें अभाव है। आहा...हा...! हम मानो गिरनार जायेंगे तो धर्म हो जायेगा... सुन न अब! गिरनार जाये तो वहाँ शुभराग होता है। वह शुभराग होता है, वह राग तेरी पर्याय में है। इसे जानने पर अन्दर जा। उसे जानकर अन्दर में जा-ऐसा नहीं। आहा...हा...! गिरनार और गिरनार की प्रतिमाएँ तथा सम्मेदशिखर की प्रतिमाएँ, उन्हें देखकर अन्दर में जा - ऐसा नहीं, क्योंकि वे जो हैं, वे तुझमें हैं नहीं। तुझे तेरे में देखना है। जो चीज़ तुझमें नहीं तो उसे देखना नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें, लो! है न?

**( जैसे पहले का बाण अन्य बाण के द्रव्य की अपेक्षा से अलोहमय है,... )** लोहमय है, वह अस्ति अपने से है। दूसरे की अपेक्षा से तो अलोहमय है। **( अन्य बाण के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित नहीं है,... )** अन्तर जो मध्य में पर है, वह यहाँ नहीं **( अन्य बाण के काल की अपेक्षा सन्धानदशा में नहीं रहा हुआ... )** आहा...हा...! दूसरे का धनुष जो ऐसा सन्धान अवस्था में है, उसका तुझमें (इस धनुष में) अभाव है। ऐसी बातें हैं, बापू! यह तो सम्यग्ज्ञान की बातें हैं, भाई! आहा...हा...! भगवान अन्दर है, वह अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। चाहे तो तीन लोक का नाथ सामने हो, उस द्रव्य से यह द्रव्य नहीं; उस क्षेत्र से यह क्षेत्र नहीं; उनके स्वकाल से यह काल नहीं; उनके भाव से इसमें भाव नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

एक बार मुम्बई में प्रश्न हुआ था। स्थानकवासी थे न? कि यह मनुष्य यात्रा करने जाता है न? कहा, भाई! सुन! यह वहाँ जाकर हेतु दूसरा है। वे सिद्ध भगवान ऊपर बिराजते हैं। वहाँ जायें, तब याद करें कि यहाँ ऊपर (बिराजते हैं)। ऐसे विकल्प के लिये वहाँ (जाते) हैं। समझ में आया? जैसे यह शत्रुंजय, तो वहाँ जाकर, यहाँ ऊपर परमात्मा—भीम, अर्जुन, धर्मराज (युधिष्ठर), यहाँ मेरे ऊपर बिराजते हैं। इसके लिये बात है। यह भी एक विकल्प है। आहा...! मुम्बई में एक स्थानकवासी था (उसने पूछा था)। उससे कहा—बापू! इस यात्रा का हेतु यह है। वहाँ स्मरण होता है कि परमात्मा मेरे सिर पर बिराजमान हैं। इस क्षेत्र से मोक्ष हुआ है, उसके स्मरण के लिये विकल्प है। समझ में आया? आहा! वह क्षेत्र और वह

विकल्प होता है, वह स्वभाव में नहीं है। आहा...हा...! पर्याय में विकल्प भले है, परन्तु त्रिकाल द्रव्य में वह नहीं है। जहाँ देखना है, उसमें वह विकल्प और वह क्षेत्र दोनों नहीं हैं। आहा...हा...! अरे! ऐसी बातें, लो!

**( बाण के काल की अपेक्षा सन्धानदशा में नहीं रहा हुआ और अन्य बाण के भाव की अपेक्षा से.... )** अन्य धनुष का जो भाव-शक्ति, गुण है, उसकी अपेक्षा से असन्मुख है, उसके सन्मुख नहीं। आहा! **( उसी प्रकार आत्मा नास्तित्वनय से परचतुष्टय से नास्तित्ववाला है। )** परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मुझमें नहीं है - ऐसा नास्तित्वभाव है, वह भी अपना गुण है, वह भी अपना एक धर्म है। अपना अस्तित्व है, वह भी एक धर्म है। धर्म अर्थात् धारा हुआ भाव और पर से नहीं - ऐसा नास्तित्व भी एक धर्म है। धर्म अर्थात् धारा हुआ भाव। धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन ऐसा नहीं। आहा...हा...!

विशेष कहेंगे.... ( **श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## नय - ५ से १४

**अस्तित्वना-स्तित्वनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्त-रालवर्तिसंहिताव स्थासंहिता-वस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुख प्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्व-नास्तित्ववत् ५। अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्त-रालवर्त्य गुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखा-लक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ६। अस्तित्वावक्तव्य-नयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखायो-मयानयोमयगुणकार्मुकान्त रालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम् ७। नास्तित्वावक्तव्य-नयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्य-गुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्र-कालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च नास्तित्ववदवक्त्व्यम् ८। अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्य-नयेनायोमय-गुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखान-योमयागुणकार्मुकान्त-रालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायो-मयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तराल-वर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुख-प्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्व-नास्तित्ववदवक्तव्यम् ९। विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत् सविकल्पम् १०। अविकल्पनये-नैकपुरुषमात्रवदविकल्पम् ११। नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि १२। स्थापनानयेन मूर्तित्ववत् सकलपुद्गलालम्बि १३। द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि १४।**

---

आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्वनय से क्रमशः स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वनास्तित्ववाला है—लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण क्रमशः स्वचतुष्टय की तथा परचतुष्टय की अपेक्षा से लोहमयादि और अलोहमयादि है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्वनय

से क्रमशः स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्ववाला और नास्तित्ववाला है।)५.

आत्मद्रव्य अव्यक्तव्ययन से युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है—लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण युगपत् स्व-चतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से युगपत् लोहमयादि तथा अलोहमयादि होने से अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा अवक्तव्यनय से युगपत् स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।)६.

आत्मद्रव्य अस्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला-अवक्तव्य है—(स्वचतुष्टय से) लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्व-परचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। [जैसे पहले का बाण (१) स्वचतुष्टय से तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) लोहमयादि तथा (२) अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-अवक्तव्यनय से (१) स्वचतुष्टय की तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अस्तित्ववाला तथा (२) अवक्तव्य है।] ७.

आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला-अवक्तव्य है—(परचतुष्टय से) अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। [ जैसे पहले का बाण (१) परचतुष्टय की तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अलोहमयादि तथा

(२) अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा नास्तित्व-अवक्तव्यनय से (१) परचतुष्टय की तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) नास्तित्ववाला तथा (२) अवक्तव्य है।] ८.

आत्मद्रव्य अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव से, पदद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला-नास्तित्ववाला अव्यक्त है—(स्वचतुष्टय से) लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे—(परचतुष्टय से) अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे—(परचतुष्टय से) अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, सन्धान अवस्था में न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा प्रत्यञ्चा और धनुष के मध्य में स्थित, सन्धान अवस्था में रहे हुए तथा सन्धान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। [जैसे पहले का बाण (१) स्वचतुष्टय की, (२) परचतुष्टय की तथा (३) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) लोहमय, (२) अलोहमय तथा (३) अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय से (१) स्वचतुष्टय की, (२) परचतुष्टय की तथा (३) युगपत् स्व-परचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अस्तित्व-वाला, (२) नास्तित्ववाला तथा (३) अवक्तव्य है।] ९.

आत्मद्रव्य विकल्पनय से, बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे एक पुरुष की भाँति, सविकल्प है (अर्थात् आत्मा भेदनय से, भेदसहित है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे भेदवाला है।) १०.

आत्मद्रव्य अविकल्प से, एक पुरुषमात्र की भाँति, अविकल्प है (अर्थात् अभेदनय से आत्मा अभेद है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे भेदरहित एक पुरुषमात्र है।) ११.

आत्मद्रव्य नामनय से, नामवाले की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है (अर्थात् आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म से कहा जाता है, जैसे कि नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है।) १२.

आत्मद्रव्य स्थापनानय से, मूर्तिपने की भाँति, सर्व पुद्गलों का अवलम्बन

करनेवाला है (अर्थात् स्थापनानय से आत्मद्रव्य की पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है, मूर्ति की भाँति) १३.

आत्मद्रव्य द्रव्यनय से बालक सेठ की भाँति और श्रमण राजा की भाँति, अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से भावी और भूत पर्यायरूप से ख्याल में आता है, जैसे कि बालक, सेठपने स्वरूप भावी पर्यायरूप से ख्याल में आता है और मुनि, राजास्वरूप भूतपर्यायरूप से ख्याल में आता है।) १४.

**प्रवचन नं. २६१, नय ५ से १४**

**भाद्रपद शुक्ल १३ मंगलवार, ०४ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, चार नय की बात हो गयी है। पाँचवें (नय में) ऐसी (बात) है कि आत्मद्रव्य अस्ति-नास्ति क्रम से कहा जाता है—ऐसा भी अन्दर एक धर्म है। अपने से है और पर से नहीं। वह एक-एक बोल तो भिन्न स्वतन्त्र (है ही)। यह तो एकसाथ स्व से है और पर से नहीं—ऐसा ज्ञान करके भी द्रव्य वस्तु है, वहाँ इसे जाना। आहा...हा...!

फिर पाँचवाँ अवक्तव्य है। अस्ति है, नास्ति है—यह एकसाथ नहीं कहा जा सकता (इसलिए) अवक्तव्य है। ऐसा भी एक धर्म है, परन्तु वक्तव्य है—ऐसे धर्म का लक्ष्य करके द्रव्य में जाना। ऐसे कठिन बातें।

इस प्रकार अस्ति अवक्तव्य। (अर्थात्) है और कहा नहीं जा सके—ऐसा एक भंग है। बाद में एक नास्ति अवक्तव्य। पर से नहीं, ऐसा कहा नहीं जा सके, ऐसा है। फिर अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। स्व से है, पर से नहीं और अवक्तव्य है। ऐसे करके सात बोल हुए। यह तो इन्हें पढ़ लेना। दो में सब आ गया। अब अपने यहाँ दसवाँ बोल। दसवाँ बोल है न? समझ में आता है या नहीं? ये सात समेट दिये। आहा...हा...! **आत्मद्रव्य...** आहा...हा...!

यह दस लक्षण की पुस्तक सवेरे सबको दी न? वह पहले आत्मधर्म में आ

गया है—सभी लेख आत्मधर्म में आ गये हैं और यह सबको भेंट देनेवाले हैं। हिन्दी और गुजराती आत्मधर्मवालों को भेंट देनेवाले हैं। क्षयोपशम जोरदार... है! एक ब्रह्मचर्य की व्याख्या की है कि इस शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, इतना यदि ब्रह्मचर्य होवे, स्पर्श इन्द्रिय (हो) और चार इन्द्रिय अन्दर से भिन्न न रहे तो वह वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं है। एक तो यह बात की है। स्पर्श इन्द्रिय अखण्ड है और चार इन्द्रिय खण्ड-खण्ड है। मस्तिष्क-क्षयोपशम बहुत! बहुत तर्क उठाये हैं, ऐसे उठाये हैं और फिर भी नरम व्यक्ति; बुद्धि का घमण्ड नहीं। यह स्पर्श इन्द्रिय पूरे शरीर में अखण्ड है। स्पर्श-इन्द्रिय के भोग को जीते तो इसका अर्थ कि बाहर की ओर का लक्ष्य छूटकर अखण्ड आत्मद्रव्य में जाए। कहो, भाई! अकेले शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। वह ब्रह्मचर्य नहीं। ब्रह्म अर्थात् भगवान आत्मा अखण्ड इन्द्रिय के लक्ष्य में से छूटकर अखण्ड भगवान आत्मा की दृष्टि में जाए, तब आत्मरमणता हो, उसे ब्रह्मचर्य कहा जाता है। कल का दिन है न? कल का ब्रह्मचर्य का दिन है। आहा...हा...! तर्क गजब किये हैं! यदि अकेली रसेन्द्रिय को जीतने से धर्म हो तो जिसे रस-इन्द्रिय नहीं है, उसे धर्म होना चाहिए। भाई! एकेन्द्रिय को रसेन्द्रिय नहीं है। आहा...हा...!

(समयसार की) ३१ वीं गाथा में तो यही कहा न? यह तो उन्होंने नहीं डाला। पाँच जड़ इन्द्रियाँ, भावेन्द्रिय क्षयोपशम और उनका सब विषय—देव-शास्त्र-गुरु, स्त्री-कुटुम्ब सब, यह सब इन्द्रियाँ। आहा...हा...! इसलिए सब इन्द्रियों को जीतना। इसका अर्थ कि सब भाव की ओर से लक्ष्य छोड़ देना। आहा...हा...! अकेला ब्रह्मचर्य पालन किया और बाल ब्रह्मचारी है-ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? लोगों में रूढ़ व्यवहार ऐसा हो गया, परन्तु ये तो कहते हैं कि बाल ब्रह्मचारी (अर्थात्) ब्रह्म—ऐसे भगवान आत्मा का ज्ञान हो और ज्ञान होने के पश्चात् उसमें रमणता हो, परन्तु जिसे अभी आत्मज्ञान नहीं, उसे अन्तर (स्वरूप) की रमणता, इन्द्रियों को जीतकर होना, यह हो नहीं सकती। आहा...हा...! क्षयोपशम बहुत! पीछे जरा दूसरी बात की है कि यह स्पर्श है, वह अखण्ड है और उसका विषय कहीं एक ही नहीं है, आठ विषय है। ठण्डा-गर्म-उष्ण (ऐसे) आठ हैं। आहा...हा...! उन सबको जीतना अर्थात् उन सबसे लक्ष्य छोड़ देना। आहा...हा...! समझ में आया? पहले 'आत्मधर्म' में आया होगा, हमने कुछ पढ़ा नहीं था, क्योंकि

वह तो... परन्तु यह थोड़ा आज आया और एक दिया था, (इसलिए) देखा। सबको-सभी को आनेवाला है, हों! आत्मधर्म जो मँगाते हैं, उन सबको आयेगा, सभी ग्राहकों को आयेगा।

यहाँ तो कहना है कि आहा...हा...! यहाँ तो यह विषय लेंगे कि **आत्मद्रव्य विकल्पनय से...** आहा...हा...! **बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे पुरुष की तरह, सविकल्प है....** आहा...हा...! परन्तु उसका लक्ष्य छोड़कर... आहा..हा...! बालक, युवा, वृद्ध का लक्ष्य छोड़कर, जानने में लेना कि ऐसा उसका धर्म है। समझ में आया? भेदवाला धर्म। बाल, युवा तो जड़ की अवस्था है। इसी प्रकार आत्मा में भेदनय है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि भेद है, परन्तु भेद का लक्ष्य छोड़कर...। आहा...हा...!

अखण्ड स्पर्श तो पूरे शरीरप्रमाण है। उसे जीतना अर्थात् अखण्ड-सबमें से लक्ष्य छोड़ देना। पाँच इन्द्रिय के विषयों से लक्ष्य छूटकर... आहा...हा...! उनने एक दृष्टान्त दिया है, व्याकरण में है न? जयसेनाचार्य की टीका में है। काम, भोग, बन्धकषाय। दो और तीन पाँच। कामभोग। संस्कृत टीका में है, भाई! समयसार। है यहाँ समयसार? संस्कृत है। चौथी गाथा है न? कामभोग बन्ध कथा। '**कामरूपभोगाः कामभोगाः अथवा कामशब्देन स्पर्शनरसनेंद्रिय**' स्पर्श और रस इन्द्रिय, ये दो काम; भोग अर्थात् '**घ्राणचक्षुः श्रोत्रत्रयं**' इन पाँच को कामभोग (कहा)। अर्थात् पाँचों की ओर का लक्ष्य छोड़कर। आहा...हा...! और अनीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका ज्ञान करके, समकित / श्रद्धा करके, उसमें रमना। आहा...हा...! समझ में आया? उसका नाम सत्य ब्रह्मचर्य कहा जाता है। आहा...हा...! कल सवेरे थोड़ा आयेगा।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु, अरे...! कहाँ खबर है? बेचारा प्राणी, अज्ञान अनादि से, मूढ़ बाह्य की प्रवृत्ति में रूक गये, परन्तु अन्दर क्या चीज़ है? (उसकी खबर नहीं)। आहा! पाँचों इन्द्रियाँ हैं, उनका जो विषय है, उससे भगवान आत्मा भिन्न है। पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर का लक्ष्य छूटकर, पाँच इन्द्रियों का लक्ष्य छोड़कर, भावेन्द्रियों का लक्ष्य छोड़कर; अनीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा है, उसका ज्ञान करके, उसकी प्रतीति करके, उसमें जमना, इसका (नाम) धर्म है, इसका नाम ब्रह्मचर्य है। आहा...हा...! अरे! दुनिया कहाँ भटकती है चौरासी के अवतार में! उसे यह चीज़ कहाँ है?

भगवान तीन लोक का नाथ जिनेश्वरदेव तीर्थंकर का इन्द्रों और गणधरों के बीच का यह फरमान है। आहा! सभा में इन्द्र और गणधर, सिंह, बाघ और नाग, ...सिंह, बाघ और नाग सभा में बैठे होते हैं। वर्तमान (में) महाविदेह (में है)। भगवान वहाँ बिराजते हैं। उनके बीच भगवान का यह फरमान है।

भगवान! तू बाल, युवा और वृद्ध जो देह की अवस्था है; वैसे तुझमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद की अवस्था है। उसे जानकर अन्दर जा। यह भेद का एक धर्म है। समझ में आया? आहा...हा...! इसकी एक योग्यता है। एक अंश है, परन्तु अन्दर जो द्रव्य -स्वभाव है, परमानन्द की मूर्ति प्रभु (है), वहाँ जो तो तुझे समकित होगा, धर्म होगा और ज्ञान होगा। आहा...हा...! कहो, भाई! ऐसी बातें हैं। वे पैसा-फैसा में रुक गये। आहा...हा...! यहाँ तो पैसा तो आँख का विषय है। यह स्पर्श का विषय है, रूप का विषय, गन्ध का विषय आदि पाँचों इन्द्रियों की ओर का जो झुकाव है, वह भोग और विकार और मिथ्यात्वभाव है। आहा...हा...! उससे छूटकर द्रव्यस्वभाव (सन्मुख जाना)। यहाँ तो भेद की बात की है। यहाँ कामभोग की की है। काम शब्द से स्पर्श रस इन्द्रिय। स्पर्श और रसनेन्द्रिय, दो को काम कहा जाता है और भोग को घ्राण, चक्षु, श्रोत—नाक, आँख और कान, इन्हें भोग कहा जाता है। इस कामभोग की वार्ता छोड़ दे। कामभोग—पाँचों इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य छोड़ दे।

जैसे यहाँ कहा कि जैसे बाल, युवा, वृद्ध अवस्था है, तथापि वह पुरुष की अवस्था है। इसी प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भेद अवस्था है। वह भगवान आत्मा की है। ऐसे भेद का ज्ञान करके भी अभेद पर दृष्टि (कर)। आहा...हा...! तब इसने भेदनय से आत्मा को जाना। आहा...हा...! यह अभेद और भेद नयवाला पर्याय में है, परन्तु उसका लक्ष्य छोड़कर अन्तर में जाना। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बातें। लोगों को कहाँ बेचारों को पूरे दिन पाप... पाप... और पाप... धन्धा और... ऐ ई! पूरे दिन धन्धा... धन्धा... अलग हुए इसलिए... हुआ; शामिल थे तब (दूसरा भाई) कुछ करता। अब सब मजदूरी में चढ़ गये। ऐई! यहाँ दोनों जने आये हैं। आहा...हा...! धन्धे में लाखों की आमदनी होती है। ऐई! वहाँ (रुक जाते हैं)। धूल की आमदनी है। आत्मा की आमदनी तो तब होती है कि भेदनय का ज्ञान करके भी अन्तर में जा। आहा...हा...!

पाँचों इन्द्रियाँ, ये जड़ और भावेन्द्रियाँ तथा विषय, उनका ज्ञान कर, जानकर

अन्तर में जा। आहा...हा...! तब तुझे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होगा। तब इसे धर्म की शुरुआत होगी, भाई! ऐसी बातें हैं, बापू! सन्तों की वाणी... आहा...हा...! 'शान्ति प्राप्त कराये, उन्हें सन्त कहिये, उनके दासानुदास होकर रहिये।' आहा...हा...! आता है न अन्यमत में? परन्तु इसका पता नहीं। आता है—'शान्ति प्राप्त कराये, उन्हें सन्त कहिये।' सन्त शान्ति प्राप्त हुए होते हैं, अकषाय शान्ति को प्राप्त हुए होते हैं और ऐसी ही बात जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहा...हा...!

प्रभु! तुझे शान्ति चाहिए हो... आहा...हा...! तो सम्पूर्ण स्पर्शेन्द्रिय को... उसमें से कहा, भाई! स्पर्श इन्द्रिय के आठ विषय हैं न? ठण्डा-गर्म, हल्का-भारी, उसका भी मोह छोड़ दे। आहा...हा...! आहा...हा...! तब स्पर्श इन्द्रिय की ओर का उसका विषय है, आहा...हा...! उसका भी लक्ष्य छोड़ दे; तब तुझे अनीन्द्रिय ऐसा भगवान आत्मा दृष्टि में आयेगा। आहा...हा...! समझ में आया? भाषा तो सादी है, बापू! भाव ऐसा है। लोग तो बेचारे अकेले बाहर में (लग गये हैं)। धन्धे के कारण घण्टे भर निवृत्त हो तो फिर यह कुछ पूजा करनी, भक्ति करना, और यात्रा करना, थोड़ा पढ़ लेना, हो गया धर्म! धूल भी नहीं। अरे!

यहाँ तो यह कहते हैं, काम, भोग शब्द प्रयोग किया है न, यह इन्होंने वहाँ लिया है। स्पर्श, रस यह काम; घ्राण, आँख और श्रवण (ये भोग)। पाँचों इन्द्रियों के विषयों की ओर का लक्ष्य छोड़ (देना)। यह सब काम-भोग की कथा है। आहा...हा...! '**सुदपरिचिदाणुभूदा**' यह बात तूने सुनी भी है, पाँच इन्द्रिय के भोग की, विषय की (बात)... आहा...हा...! सुनी भी है, परिचय में भी आ गयी है, अनुभव में भी आयी है। एक भगवान आत्मा, पाँच इन्द्रिय के विषयों से पृथक् अन्दर भगवान '**एयत्तस्सुवलंभो**' एकत्व की प्राप्ति तुझे कभी एक समय भी नहीं हुई। आहा...हा...! समझ में आया? शरीर से ब्रह्मचर्य पाला और स्त्री का सेवन नहीं किया तो हो गया ब्रह्मचर्य न? आहा...हा...! उस प्रकार का शुभभाव भले हो परन्तु वह कहीं ब्रह्मचर्य नहीं है। आहा...हा...! पाँचों इन्द्रियों की ओर के लक्ष्य को और उनके विषय के भाव के लक्ष्य को छोड़कर अनीन्द्रिय ऐसा भगवान आत्मा है, उसके समीप में जाकर दृष्टि, सम्यग्ज्ञान हो और उसमें रमणता हो, तब इसने पाँच इन्द्रियों को जीता, ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा मार्ग है। अरे! सम्प्रदाय में तो सुनने को भी नहीं मिलता; इसलिए एकान्त है, ऐसी पुकार

करते हैं। सोनगढ़ का एकान्त है। कहो, बापू! प्रभु! तू प्रभु है, भाई! तुझे तेरी प्रभुता का पता नहीं है। आहा!

अन्दर चैतन्य रत्नाकर अनन्त गुण का भण्डार भरपूर भगवान है। आहा...हा...! उसकी खान में अनन्त गुण भरे हैं। ऐसा वह आत्मतत्त्व, उसकी दृष्टि बिना, उसके ज्ञान बिना सब व्यर्थ है। चाहे तो व्रत पाले, और भक्ति करे तथा शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, वे सब बिना एक के शून्य हैं, कहते हैं। आहा...हा...! शरीर से विषय सेवन नहीं किया, इसलिए प्रसन्न-प्रसन्न हो गया... रागी हुआ, वह प्रसन्न होकर रागी हुआ। आहा...हा...! क्या भगवान की शैली! आहा...हा...! तीन लोक के नाथ! आहा...हा...!

(नियमसार) १२७ (गाथा में) यह कहा, **'जस्स संणिहिदो'** जिसके संयम और तप तथा इन्द्रिय के दमन में भगवान आत्मा समीप वर्तता है, जिसके आश्रय में भगवान वर्तता है... आहा...हा...! जिसके अवलम्बन में प्रभु ध्रुव चैतन्य वर्तता है, उसे समता और संयम होता है, उसे सामायिक होती है। यह सामायिक उसे होती है। यह तो आठ वर्ष की लड़की दो-तीन सामायिक करे, (उसे) सब सेठ रुपया-रुपया दे (तो) प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये कि हमने कुछ धर्म किया नहीं परन्तु धर्म को मदद की। भाई! अरे! कहाँ धर्म था? बापू! सामायिक किसे कहना? इसकी खबर बिना... आहा...हा...! सामायिक तो यह आत्मा...

यहाँ कहते हैं कि भेदविकल्प जो है कि ज्ञान-दर्शन और चारित्र, है? **बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे एक पुरुष की भाँति, सविकल्प है (अर्थात् आत्मा भेदनय से, भेदसहित है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे भेदवाला है।)** ज्ञानदर्शन के भेदवाला है, परन्तु भेदवाला है-ऐसा एक धर्म गिनकर, लक्ष्य में ले जाना है अन्दर द्रव्य में। आहा...हा...! उसका उतारा (निवास) वहाँ करना है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बातें अब। है?

**मुमुक्षु :** आपने निकाला है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** इसमें है न यह? वह बात इनने बहुत स्पष्ट की है! बहुत क्षयोपशम है! दस धर्म का वर्णन ऐसा किया है कि पण्डितों ने गुणगान किया है। (दूसरे बड़ विद्वान ने) महिमा की है, नहीं तो वह तो यहाँ का जरा विरोधी है और

उन्हें पता है कि ये तो वहाँ के पण्डित हैं, फिर भी उन्होंने महिमा की है कि ओहो...हो... ! (भाई ने) दसलक्षण का जो कथन विस्तार से किया, ऐसा कहीं है नहीं। लोगों को समझने के लिये बहुत सरस किया है, ऐसा कहा। बहुत पण्डितों ने महिमा की है। स्पर्श, यह एक जड़ स्पर्श, इसे स्पर्श इन्द्रिय के साथ भोग नहीं लिया, इससे ब्रह्मचर्य हो गया ? समझ में आया ? आहा... ! एक इन्द्रिय को स्पर्श इन्द्रिय तो है परन्तु स्पर्श इन्द्रिय से उसे कहीं स्त्री का (भोग) नहीं, तो हो गया ब्रह्मचर्य ? आहा...हा... ! गजब बातें हैं, बापू ! तीन लोक के नाथ की बातें, सन्त-दिगम्बर मुनि जो प्रसिद्ध करते हैं। आहा...हा... ! सन्तों की बात है। आहा...हा... ! यह दसवाँ बोल हुआ।

ग्यारहवाँ, **आत्मद्रव्य अविकल्प से,....** देखा ? विकल्पनय भी, भेद भी एक धर्म है। उसका भेदवाला एक धर्म धार रखा है, वैसे अभेद भी उसका एक धर्म है। **आत्मद्रव्य अविकल्प से, एक पुरुषमात्र की भाँति,....** एक पुरुष। बालक, युवा और वृद्ध नहीं। आहा.. ! भगवान आत्मा कैसा है ? ऐसा आया था न ? पूछा था न ? कैसा है ? कितना है ? कैसे प्राप्ति हो ? फिर बात करेंगे परन्तु इसमें आ जाता है परन्तु विस्तार से बाद में कहेंगे। यह भगवान आत्मा अविकल्पनय से... आहा...हा... ! अरे रे ! **एक पुरुषमात्र की भाँति,....** वापस एक पुरुष; बालक, युवक और वृद्ध भी नहीं। आहा...हा... ! अविकल्प है भगवान।

**( अर्थात् अभेदनय से आत्मा अभेद है,... )** आहा ! ऐसी भी एक इसकी धर्म की दशा धार रखी है। धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन ऐसा नहीं। ऐसा एक इसकी योग्यता का धर्म धार रखकर भगवान पड़ा है। आहा...हा... ! **( जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे भेदरहित... )** एक पुरुष... पुरुष... पुरुष, बस ! बालक, युवा और वृद्ध नहीं। **( भेदरहित एक पुरुषमात्र है। )** आहा !

वास्तव में तो राग और विषय है, वे मेरे हैं (ऐसा मानता है), वहाँ तक वह अज्ञानी बाल है। यह बाल नहीं, शरीर (नहीं) भाव बाल है। ये दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम मेरा कल्याण करेंगे और ये मुझे धर्म हैं-ऐसी दृष्टिवन्त वह बालक है। आत्मा से बालक है। आहा...हा... ! और जो राग से तथा इन्द्रियों के विषयों से और इन्द्रियों से भिन्न पड़कर अन्तर आत्मा आठ कर्म के मध्य में अन्दर भगवान भिन्न बिराजमान है। आहा.. ! अन्तर-आत्मा आठ कर्म के रजकणों के मध्य

में अन्दर अरूपी चीज़ है। अन्तर-आत्मा! उसका जो ज्ञान और श्रद्धा करता है, वह युवक है, वह युवक है। धर्मी, वह युवक है। आहा...हा...! यह युवक, बाल नहीं और जो अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा को साधकर परमात्मदशा, केवलदशा पूर्ण करता है, वह आत्मा वृद्ध है। कहो, भाई! यह वृद्ध (कहते हैं)। शरीर की अवस्था ६०, ७०, ८० वर्ष (हो गयी, वह वृद्ध नहीं)। आहा...हा...! ये तो बातें दूसरी हैं, बापू! आहा...हा...!

अन्तर भगवान आत्मा... आहा...हा...! अभेद अर्थात् एकरूप है—ऐसे एक धर्म का ज्ञान करके, पश्चात् सम्पूर्ण आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, उसे देखना-जानना, वह उसका परिणाम और फल है... अन्य लोग कहते हैं कि भक्ति से धर्म होता है। भाई! यह (सच्ची) भक्ति है; अन्य तो व्यवहार विकल्प है, व्यवहारभक्ति, पुण्य है। अन्तर भगवान आत्मा अभेदनय का लक्ष्य करके फिर अन्दर में जाना। आहा...! क्योंकि अभेद तो एक नय है न? और भगवान तो अनन्त धर्म का धारक है। आहा...हा...! इसलिए अभेद को एक को देखना, ऐसा नहीं, कहते हैं। अभेदनय एक धर्म है, उस एक धर्म का लक्ष्य करके फिर पूर्ण अभेद है वहाँ जाना। अरे...अरे...! ऐसी बात। अब लोगों ने बेचारों ने सुना न हो, किया न हो, उन्हें ऐसा सुनना। यह अप्रतिबुद्ध को कहते हैं न? आहा...हा...! (कोई) कहता है कि यह समयसार तो मुनि को होता है। अरे... भगवान! क्या कहता है यह? जो पूछता है कि यह आत्मा कितना है? कैसे प्राप्त होता है? उसे तो यह कहा जाता है। समयसार कहो, प्रवचनसार कहो, आहा...हा...! अरे! मूल चीज़ की दृष्टि आये बिना... आहा...हा...! सब व्यर्थ, संसासर है। आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं, अभेदनय से... आहा...हा...! आत्मा एक अभेद है। जैसे एक पुरुष बाल, युवा, वृद्ध—ऐसे भेदरहित पुरुषमात्र है; वैसे भगवान आत्मा है—ऐसा अभेदनय का लक्ष्य करके अन्तर में अनन्त धर्मवाला भगवान... आहा...हा...! पाताल में प्रभु पड़ा है, उसे देखना, कहते हैं। आहा...हा...! पर्याय के पाताल में द्रव्य है, ध्रुव है। आहा..हा...! ये ग्यारह बोल हुए।

**आत्मद्रव्य...** भगवान आत्मा वस्तु **नामनय से, नामवाले की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है....** भाषा देखो! अर्थात् शब्दब्रह्म से कहा जाता है। बिल्कुल नहीं कहा जाता-ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

वचनातीत है, तथापि वक्तव्य से कहा जा सकता है कि यह चीज़ यह है, ऐसा। आहा...हा...! यदि ऐसा न हो तो दिव्यध्वनि से आत्मा ज्ञात न हो, दिव्यध्वनि निमित्त होगी ही नहीं। यहाँ तो नामनय से भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है। धर्म अर्थात् स्वभावभाव, कि नामवाले की भाँति शब्दब्रह्म को कहनेवाला, यहाँ स्पर्श करनेवाला (लिखा है) उसका अर्थ कहनेवाला है। **( आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म से कहा जाता है,.... )** देखा? स्पर्श करनेवाला है अर्थात् (यह)। आहा...हा...! कथंचित् वक्तव्य है और कथंचित् अवक्तव्य है। जब परमार्थ से कहना हो, तब (ऐसा कहते हैं) वचनातीत है। यदि निमित्त कथनमात्र (भी) न हो तो फिर कहना और अन्य को समझना कुछ रहता नहीं। आहा...हा...!

जैसे अमुक का ऐसा नाम है, अमुक का ऐसा; वैसे आत्मा का शब्द से नाम पाड़कर कहा जाय ऐसा है। आत्मा... ऐसा शब्द है। इस शब्दनय से नामवाले की भाँति आत्मा को बतलाते हैं। आहा...हा...! ऐसी बातें। नामवाले की भाँति नाम शब्द से कहा जाता है, ऐसा यह धर्म है, उसका लक्ष्य करके इतने नाम के धर्म में न रुककर, अन्दर चैतन्य प्रकाश, जिसके समीप में-पर्याय के समीप में वर्तता है, वहाँ जाना। अरे...! जहाँ पूर्ण ब्रह्म परमात्मा परमेश्वर स्वयं है। आहा...हा...! यह परमेश्वर है, वहाँ जाना। ऐसी बातें हैं। इन क्रियाकाण्डियों को तो यह ऐसा लगता है कि ये तो हमारी सब बातें मिथ्या करते हैं। भगवान ऐसा कहते हैं बापू! तू मान या मत मान। आचार्य कहते हैं, महासन्त-दिगम्बर वीतरागी मुनि... आहा! वीतरागी आनन्द में-लहर में रहनेवाले ऐसा कहते हैं। मुनि छद्मस्थ हैं परन्तु तीन कषाय के अभाव के आनन्द का वेदन है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** मुनि में और सिद्ध में कहाँ अन्तर है?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह जरा भी अन्तर नहीं किया। यह नियमसार में कहा, भगवान में और (मुनि) आत्मा में राग का जरा अन्तर है। फिर कहते हैं—कुछ भी अन्तर माने, वह जड़ है। नियमसार में आता है। आहा...हा...! जिन्होंने परमेश्वर पद प्रगट किया, सन्तों ने-आचार्यों ने, उपाध्यायों ने शुद्ध उपयोग को ग्रहण किया है। यह प्रवचनसार में पहले आता है। यह मोक्षमार्गप्रकाशक में (आता है कि) मुनिपना और आचार्य, उपाध्याय अर्थात् क्या? जिन्होंने शुद्ध उपयोग अंगीकार किया है। शुभराग, दया, दान, और व्रत अंगीकार किया है-ऐसा नहीं लिया है। समझ में

आया? इसके (प्रवचनसार के) पहले अधिकार में (आता है) और उसमें-मोक्षमार्गप्रकाशक में है। है मोक्षमार्गप्रकाशक? आहा...हा...!

टोडरमलजी कहते हैं, देखो ***आचार्य, उपाध्याय और साधु का स्वरूप*** टोडरमलजी कहते हैं। ***जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह छोड़कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके....*** पंच महाव्रत अंगीकार करके, यह नहीं।

**मुमुक्षु :** चौथे काल के मुनि के लिये कहा है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** तीनों काल के। यह किसने कहा? बात तो सच्ची। पंचम काल के लिये कहा, मुनि है, भले पंचम काल के हों या चौथे काल के हों, या महाविदेह के हों। मुनि उन्हें कहते हैं... आहा...हा...! जिन्होंने आचार्य, उपाध्यायपना... ***विरागी होकर....*** राग और पुण्य से भिन्न पड़कर ***समस्त परिग्रह छोड़कर...*** वस्त्र का टुकड़ा भी जिन्हें नहीं होता। यह आचार्य, उपाध्याय, साधुपद! और ***शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म...*** शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म। पंचम महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुणरूप मुनिधर्म-ऐसा नहीं कहा। समझ में आया? एक (साधु) है (वह ऐसा कहता है कि) टोडरमल नहीं, बनारसीदास नहीं, राजमल का नहीं, क्योंकि इन लोगों ने स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि ये शब्द इनके घर के नहीं हैं। प्रवचनसार की पहली गाथा में है। आचार्य, उपाध्याय और साधु कैसे हैं? कि परम शुद्धोपयोग जिन्होंने अंगीकार किया है। देखो! यहाँ भी ऐसा है न? ***शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके...*** आहा...हा...!

उसमें 'परम' (शब्द है), यह तो इतना कहा ***अन्तरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं....*** आहा...हा...! यह मुनि और आचार्य-उपाध्याय इन्हें कहते हैं।

यहाँ तो अभी (एक साधु) यह कहता है कि अभी शुभोपयोग ही होता है अर्थात् अभी समकित और मुनिपना नहीं होता, उसका अर्थ (तो यह हुआ है) आहा...हा...! अर र! यहाँ तो (कहते हैं) ***शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके...*** देखा? ***शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपने को अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते...*** आहा...हा...! उसमें है न अपने? इस प्रवचनसार

में है। पहली पाँच गाथा, सातवाँ पृष्ठ, यहाँ है, चिह्न किया है। ***जिन्होंने परमशुद्ध-उपयोगभूमिका को प्राप्त किया है....*** सातवाँ पृष्ठ, है ? यह मुनि इन्हें कहते हैं, बापू! ***जिन्होंने परमशुद्धउपयोग...*** भाषा है ? परमशुद्धउपयोग टोडरमलजी ने शुद्धोपयोग (लिखा है)। यह तो अमृतचन्द्राचार्य महाराज आचार्य मुनि (कहते हैं)।

मुनि और आचार्य-उपाध्याय उन्हें कहते हैं कि जिन्होंने परमशुद्ध उपयोग भूमि-परमशुद्ध उपयोगदशा ***प्राप्त की है....*** आहा...हा...! ***ऐसे श्रमणों को-कि जो आचार्यत्व, उपाध्यायत्व और साधुत्वरूप विशेषों से विशिष्ट ( भेदवाले ) हैं, उन्हें प्रणाम करता हूँ...*** यह अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। अरे! ऐसी बात लोगों ने बदल डाली है। बस, नग्न होओ, पंच महाव्रत लो, यह मुनिपना... आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि परमशुद्ध उपयोग... शुभ तो राग है, विकार है, दुःख है। आहा...हा...! राग से भिन्न पड़कर शुद्ध उपयोग निर्मल पवित्र परमात्मा को पकड़ने के योग्य शुद्धोपयोग है। आहा! उस शुद्धोपयोग में सम्यग्दर्शन होता है। शुद्ध उपयोग में ज्ञान और चारित्र होता है, शुद्ध उपयोग में आचार्य, उपाध्याय और मुनिपना आता है। उस शुद्धोपयोग की तो बात ही नहीं, यह महाव्रत करो और यह करो, राग और शुभक्रिया (करो)। भाई! है न ? परमशुद्धउपयोग को अंगीकार किया, उनका नाम मुनि है। आहा..हा...! इन्हें शुद्ध उपयोग की गन्ध भी नहीं, यह क्रिया करना, वह शुभोपयोग, वह हमारा मुनिपना (ऐसा मानते हैं)। आहा...हा...!

दो बातें की हैं न ? टोडरमलजी ने भी ऐसा कहा कि आचार्य, उपाध्याय, साधु कैसे ? कि जिन्होंने शुद्धोपयोग अंगीकार किया है। जबकि यह अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं परमशुद्ध उपयोग। आहा...हा...! वीतरागी उपयोग अंगीकार किया है। अलिंगग्रहण में आता है न ? भाई! अलिंगग्रहण में। जिसे विकार नहीं, जिसे विकार नहीं। आहा...हा...! शुद्ध उपयोगरूप आत्मा है। अलिंगग्रहण में है, शुद्ध उपयोगरूपी आत्मा है। शुभ, वह आत्मा नहीं; शुभ, राग वह अनात्मा है। ऐसी बातें हैं। आहा...हा...! समझ में आया ?

द्रव्यसंग्रह में एक लेख है कि मुनिपने के उपयोग के कितने भेद ? फिर व्रत और तप के सब भेद लिये हैं परन्तु वे तो निश्चय के हैं। टीका है। यह प्रश्न पहले हो गया था। उसमें ऐसा कहा है न ? परन्तु क्या कहा है वह ? निश्चयव्रत, निश्चयसमिति, निश्चयगुप्ति, उसे ऐसा कहा है। देखो, टीका देखो! ये सब धर्म के

भेद को कहा है। यह पाँच महाव्रत के परिणाम, दया, दान और भक्ति ये कहीं धर्म के भेद हैं ही नहीं; ये तो अधर्म है। आहा...हा...! यह कठिन लगता है। भाई ने निकाला था न? अधर्म शब्द निकाला था न? भाई! (एक साधु) कहता है, पुण्य को अधर्म कहाँ कहा है? अरे! प्रभु! धर्म नहीं, वह अधर्म। आहा...हा...!

यह पुकार तो (संवत्) १९८५ में पौष महीने में सम्प्रदाय में थे, (तब किया था)। हजारों लोग, बोटाद (में) बड़ी सभा। तीन सौ घर, और हमारा नाम तो बहुत प्रसिद्ध था न? बोटाद सम्प्रदाय में तो जहाँ देखो वहाँ मकोड़ों की तरह लोग एकत्रित होते। उपाश्रय में समाते नहीं, गली होती है न, गली? खिड़की के (पास बैठकर) पढ़ता होऊँ, गली में लोग समाते नहीं। आहा...हा...! है न? भाई कहाँ गये? गये? उनकी माँ। वह इतना छोटा था। (संवत्) १९८० में हम पढ़ते थे (तो लोग) उपाश्रय में तो समाते नहीं। उन बहिन को याद है, मुझे याद है। इतने लोग कि समाते नहीं। तब एक बार संवत् १९८५ में कहा था। 'महाव्रत के परिणाम धर्म नहीं है। जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे, वह धर्म नहीं है।' उसमें (सम्प्रदाय में) थे उस समय सब सेठ सुनते, हमसे छोटा एक साधु था, उसे जँचता नहीं, वह कहे, वोसरे... वोसरे... वोसरे.. ऐसा कहकर उठ गया। कौन सुने तेरा? सुना है? सभा बड़ी, पन्द्रह सौ लोग, लोग समाते नहीं। मुझे पता है। वोसरे... वोसरे... अर्थात् हमें नहीं चाहिए। १९८५ की बात है। जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे, वह भाव धर्म नहीं, भाई! तब तुम कहाँ थे? इनके पिता थे। आहा...हा...! सभा में कोई खलबलाहट नहीं। उसे (साधु को) पता (यह क्या)? तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भी बन्ध का भाव है, यह धर्म होगा? धर्म से बन्ध पड़ता है? तीर्थंकरगोत्र का बन्ध पड़ता है, वह धर्म से पड़ता है? धर्म से बन्ध पड़े तो छूटना किस प्रकार? वह तो शुभभाव अधर्म है, उससे तीर्थंकर प्रकृति बँधती है। आहा...हा...! दशाश्रीमाली, बीसाश्रीमाली के दोनों सेठ सुनते थे। तब तो (एक को) ठीक था, फिर बेचारे को पक्षघात हो गया।

यहाँ यह कहा ओहो...हो...! क्या कहा? ***ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारसहित होने से जिन्होंने परमशुद्ध उपयोगभूमिका को प्राप्त किया है...*** ऐसा तो प्रवचनसार का स्पष्टीकरण है। है न? ***ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार सहित होने से...*** आचार्य, उपाध्याय, मुनि ***जिन्होंने परमशुद्ध उपयोगभूमिका को प्राप्त***

***किया है...*** आहा...हा...! शुद्ध उपयोगभूमि के बिना मुनिपना-चारित्र तीन काल में नहीं हो सकता। आहा...हा...! यह शुद्ध उपयोग है, वह धर्म है तथा शुभ और अशुभ परिणाम हैं, वे अधर्म हैं; धर्म नहीं।

यहाँ कहा, नामनय से शब्द ब्रह्म को कहनेवाला है। आहा! **( जैसे कि नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है। )** भगवान को आत्मा, परमात्मा, परमेश्वर, ऐसे शब्द से कहा जाता है - ऐसा भी एक धर्म इसमें है परन्तु उस धर्म का लक्ष्य करके... आहा...हा...! अन्दर चैतन्यप्रकाश को देखना। द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि करना, वह इसका परिणाम है। आहा.! ऐसी बातें, लो! यात्रा करने निकले हों और उसे ऐसा कहे कि तेरा यात्रा का भाव राग है, धर्म नहीं। गिरनार की यात्रा, शत्रुंजय की यात्रा, सम्मेदशिखर की यात्रा, यह तेरा यह गिरनार यहाँ नहीं प्रभु बड़ा? उसमें आरूढ़ हो न, वह यात्रा है। गिरनार (यात्रा का) शुभभाव होता है, वह शुभ है, पुण्य का कारण है, बन्ध का कारण है। आहा...हा...! धर्म नहीं। आहा...हा...! अरे रे! आत्मा अन्दर क्या चीज़ है? कितना है? उसे यहाँ वर्णन करते हैं। इतना है बड़ा ऐसा! ऐसे अनन्त धर्मों को धार रखनेवाला भगवान इतना बड़ा है। आहा...हा...! नाम से कहा।

**आत्मद्रव्य स्थापनानय से, मूर्तिपने की भाँति, सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है ( अर्थात् स्थापनानय से आत्मद्रव्य की पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है,... )** आहा..हा...! यह निमित्त का कथन है। **मूर्तिपने की भाँति, सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है....** सब, जितने परमाणु हैं, उन परमाणुओं को अवलम्बन कर मूर्ति, मन्दिर होता है। यह भगवान की (मूर्ति की) परमाणु की स्थिति है। आहा...हा...! ऐसे स्थापनानय से आत्मा को स्थापित किया जा सकता है कि यह आत्मा ऐसा है। स्थापनानय से आत्मा आकारवाला ऐसा है-ऐसा स्थापित किया, तथापि उसका लक्ष्य छोड़कर द्रव्य पर दृष्टि करना। यह सिद्ध को नहीं? सिद्ध... सिद्ध... सिद्ध का आकार। यह स्थापनानय का आकार है। आत्मा का, सिद्ध का (आकार) है न अपने? मन्दिर में सिद्ध है। पूरा चद्दर पीतल का है, फिर दो हाथ का भाग ऐसा खाली रखा, ऐसा खाली भाग रखा, भरा हुआ है- ऐसा नहीं। आहा...हा...! है या नहीं? इसी प्रकार यह आत्मा स्थापित किया जा सकता है, ऐसा कहा जा सकता है कि आत्मा ऐसा है, ऐसे आकार से है, ऐसा है

परन्तु उसका लक्ष्य करके जाना है अन्दर में, वहाँ रुकना नहीं है-ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! ज्ञानप्रधान कथन है न? जाननेवाला है न? स्थापना होती है, यह भी वह जानता है कि आत्मा ऐसा है और यह स्थापित करते हैं, तथापि उसका लक्ष्य छोड़कर अन्तर्मुख चैतन्यस्वरूप के प्रकाश को देखना-जानना। आहा...हा...! ऐसी बातें कभी सुनी नहीं होगी।

**मूर्तिपने की भाँति, सर्व पुद्गलों का...** शब्द कैसा लिया है? अनन्त बार ऐसे पुद्गलों से सिद्ध जैसा आकार होकर और अनन्त-अनन्त पुद्गलों से वैसा इसे स्थापित कर बताया है। सर्व पुद्गल लिये हैं न? अर्थात् एक बार आत्मा का आकार (ऐसा) होता है, ऐसा अपने बताया न? ऐसा अनन्त बार, इस प्रकार अनन्त पुद्गलों के आकार से बताया है। आहा...हा...! ऐसा कहने का आशय यह है कि जितने पुद्गल हैं, उन पुद्गलों द्वारा स्थापना करके बताया जा सकता है। अनन्त-अनन्त पुद्गल हैं—ऐसा आकार अनन्त बार बताया है, ऐसी स्थापना से कहा जा सकता है परन्तु फिर भी उसका लक्ष्य छोड़कर अन्दर में जाना है। आहा...हा...! ऐसा है।

**( स्थापनानय से आत्मद्रव्य की पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है... )** पुद्गल से ख्याल में दिया जा सकता है कि आत्मा (ऐसा)। शरीर को आत्मा का आकार बताते हैं न? उसमें आता है, पुस्तक नहीं? बालपोथी! बालपोथी में आता है कि यह (आत्मा)। बालपोथी में आता है, देखा है? यह शरीर और यह आत्मा - ऐसा बताया है। दोनों अलग बताये हैं। यह स्थापना से बताया है। ऐसी स्थापना अनन्त बार अनन्त पुद्गलों से हो चुकी है। आहा...हा...! उस स्थापना का लक्ष्य छोड़कर... आहा...हा...! अन्दर भगवान चैतन्यप्रकाश ध्रुव की दृष्टि करके उसे अनुभव करना। आहा...हा...! यह नय का विषय चाहे जितनी बार करे, परन्तु विस्तार का पार नहीं। आहा!

चौदहवाँ, **आत्मद्रव्य द्रव्यनय से बालक सेठ की भाँति...** बालक हो, उसे सेठ कहते हैं न? **श्रमण राजा की भाँति,....** राजा हो, वह साधु हुआ हो अथवा बालक, सेठ होगा और श्रमण पहले राजा था। **अनागत और अतीत....** है न? पहले बालक था, उसे वर्तमान सेठ कहते हैं। श्रमण पहले राजा था, उसे वर्तमान श्रमण कहते हैं। उसे राजा कहते हैं। अनागत में बालक आया और अतीत में श्रमण राजा की बात ली कि यह महाराज राजा थे। यह गत काल का। यह

द्रव्यनय से योग्यता थी। ये मुनि राजा थे, ये मुनि सेठ थे। यह बालक सेठ होगा। सेठ होगा नहीं, वर्तमान सेठ है - ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? वर्तमान बालक को अनागत की अपेक्षा से सेठ कहा जाता है। आहा...हा...! और साधु को भूतकाल की अपेक्षा से राजा कहा जाता है। इस सेठ ने दीक्षा ली-ऐसा कहा जाता है न? ये सेठ हैं, यह भूतकाल का अथवा भविष्य का आरोप देकर बात की। आहा...हा...!

**अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है...** यह तीर्थंकर है— ऐसा द्रव्यनय से कहा जाता है। समझ में आया? भविष्य में होनेवाले हों, उसे द्रव्यनय से वर्तमान तीर्थंकर कहा जाता है और वर्तमान अभी तीर्थंकर न हुये हों और भविष्य में होंगे, उन्हें भी तीर्थंकररूप से जन्मे - ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...! वरना तो तीर्थंकर तो तेरहवें गुणस्थान में होंगे परन्तु जन्मे, तब से कहा जाता है कि ये तीर्थंकर हैं। तीर्थंकर का जन्मकल्याणक करते हैं न? जन्में तब कहाँ तीर्थंकर हैं? तीर्थंकर तो केवल (ज्ञान) हों, तब होते हैं। नैगमनय से एक नय से उन्हें तीर्थंकर कहा जाता है। समझ में आया? भविष्य में होनेवाले हैं इस अपेक्षा से। आहा...हा...!

इससे अपने यहाँ कहा न? कहा न इसमें? भावी तीर्थाधिनाथ! आहा...हा...! जो भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं, उन्हें वीतरागता होती है, उन्हें आत्मा समीप में वर्तता है, ऐसा कहते हैं। वह इसमें आ गया न? आहा...हा...! कितने पहलू पड़ते हैं? लोग इसमें निर्णय करने का समय नहीं लेते। आहा...! वास्तविक तो यह निर्णय करना। जगत के माल के भाव पूछ-पूछकर कितना निर्णय करता है? कि इस जगह कम भाव में मिलता है और इस जगह अधिक भाव है। माल लेने जाये तब करता है या नहीं? इसमें यह भाव किसका है? यह पर्याय क्या है? यह गुण क्या है? द्रव्य क्या है? इसके भाव का इसे निर्णय करना पड़ेगा या नहीं? आहा...!

**( आत्मा द्रव्यनय से भावी और भूत... )** है न? अनागत अर्थात् भावी; भूत अर्थात् अतीत काल। **( जैसे कि बालक सेठपने स्वरूप भावी पर्यायरूप से ख्याल में आता है.... )** देखा? **( बालक सेठपने स्वरूप भावी पर्यायरूप से.... )** अर्थात् यह तो सेठ है, सेठ है। **( और मुनि राजास्वरूप भूतपर्यायरूप से आता है। )** यह तो राजा है। यह भूत और भविष्य की पर्याय से जानने में, ख्याल में आता है। वैसे आत्मद्रव्य द्रव्यनय से इस प्रकार है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## नय - १५ से २०

**भावयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि १५। सामान्यनयेन हारस्त्रग्दाम-सूत्रवद्व्यापि १६। विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि १७। नित्यनयेन नटवदवस्थायि १८। अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि १९। सर्वगतनयेन विस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति २०।**

आत्मद्रव्य भावनय से, पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति, तत्काल (वर्तमान) की पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्मा भावनय से वर्तमान पर्यायरूप से प्रकाशित होता है, जैसे कि पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री पुरुषत्व-रूपपर्यायरूप से प्रतिभासित होती है।) १५.

आत्मद्रव्य सामान्यनय से, हार-माला-कण्ठी के डोरे की भाँति, व्यापक है, (अर्थात् आत्मा सामान्यनय से सर्व पर्यायों में व्याप्त रहता है, जैसे मोती की माला का डोरा सारे मोतियों में व्याप्त होता है।) १६.

आत्मद्रव्य विशेषनय से, उसके एक मोती की भाँति, अव्यापक है (अर्थात् आत्मा विशेषनय से अव्यापक है, जैसे पूर्वोक्त माला का एक मोती सारी माला में अव्यापक है।)१७.

आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है (अर्थात् आत्मा नित्यनय से नित्य-स्थायी है, जैसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वाँग धारण करता हुआ भी नट तो वह का वही नित्य है।) १८.

आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भाँति, अनवस्थायी है (अर्थात् आत्मा अनित्यनय से अनित्य है, जैसे नट के द्वारा धारण किये गये राम-रावणरूप स्वाँग अनित्य हैं।)१९.

आत्मद्रव्य सर्वगतनय से, खुली हुई आँख की भाँति, सर्ववर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला) है। २०.

**प्रवचन नं. २६२, नय १५ से २०**

**भाद्रपद शुक्ल १४, बुधवार, ०५ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, नय अधिकार, चौदह बोल चले हैं। पन्द्रह, इस एक-एक नय से एक-एक धर्म है और एक-एक नय का विषय जानकर, अन्दर ज्ञायक चैतन्य है, उस ओर दृष्टि करना, यह इसका परमार्थभूत (अर्थ) है। एक-एक धर्म को जानना, परन्तु वापस इसका जोर वहाँ अन्दर द्रव्यस्वभाव में जाना चाहिए। आहा...हा...! ज्ञायकभाव चैतन्यबिम्ब प्रकाश, ज्ञान में प्रकाश का पूर, नूर है, वहाँ इसकी दृष्टि जाना चाहिए। आहा...! तब इस नय का फल इसे प्राप्त होता है। आहा! सूक्ष्म बातें, बापू! यह मार्ग कोई (अलग है)। अभी तो 'भावनय' आया है। विषय जरा, दृष्टान्त जरा वैसा (कठिन) है। सन्तों को सत्य कहने में... आहा...हा...!

**आत्मद्रव्य...** वस्तु जो है वह, **भावनय से...** अन्तर में जो वीतरागीदशा प्रगट हुई—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (प्रगट हुए), ऐसे भावनय से। आहा...हा...! **पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति...** आहा...हा...! क्या सन्तों को वीतरागता है न! जैसे नीचे स्त्री और ऊपर पुरुष (होता है), परन्तु यह तो पुरुष नीचे और स्त्री ऊपर—ऐसा भी होता है। यह दृष्टान्त दिया है। शान्ति से, धीरज से सुनना, बापू! पुरुष, स्त्री को विषय करता है तो पुरुष तो ऊपर होता है, स्त्री नीचे होती है। यह तो पुरुष नीचे और स्त्री ऊपर। ऐसे प्रकार के सेवन में,... प्रकार हों तो ऐसा भी बनता है, ऐसा। यह तो दृष्टान्त (हुआ)। आहा...हा...!

**पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति...** ओहो...! सन्तों को दृष्टान्त देकर भी सिद्ध क्या करना है? **तत्काल (वर्तमान) की पर्यायरूप से उल्लसित...** है। जो वस्तु में स्वभाव है, वह पर्याय में उल्लसित होता है-बाहर आता है। आहा...! समझ में आया? जो वस्तु में शक्ति और स्वभावरूप है, वह भावनय से उस शक्ति

की व्यक्तता प्रगट होती है। इस भावनय से वह शक्ति जो है, वह पर्याय में उल्लसित होती है। है ? **( वर्तमान ) की पर्यायरूप से उल्लसित...** है। ओहो...हो... ! जिसने भावनय से, भाव की पर्याय जो है, उसका लक्ष्य किया है, परन्तु लक्ष्य करके द्रव्य में से भाव आया है ( -ऐसे) वापस द्रव्य पर दृष्टि जाती है। उस द्रव्य पर दृष्टि जाने से, द्रव्य में जो स्वभाव है, वह पर्याय में उल्लसित होता है, ऐसे बाहर आता है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो मोक्ष का मार्ग, इस भावनय से-वर्तमाननय से उसे देखने पर, उसका आश्रय नहीं। उसका लक्ष्य करके द्रव्यस्वभाव सन्मुख जाने से वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान उल्लसित होता है—पड़ा है, वह बाहर आता है। आहा ! समझ में आया ? आहा...हा... ! सन्तों को सत्य सिद्ध करना है। उन्हें कहीं इस जगत की भाषा नहीं होती। आहा...हा... ! पुरुष की भाँति स्त्री ऊपर रहती हो, ऐसे यह भाव है। समझ में आया ? वीतराग... वीतराग... प्रभु ! ये तो वीतराग हैं। भावनय से तीन पर्याय प्रगट हुई है, वह एक प्रकार का धर्म है, परन्तु कहते हैं कि अन्तर में वस्तु पड़ी थी, वह उल्लसित होकर बाहर आयी है। केवलज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र, ( वे बाहर आये हैं )। आहा...हा... !

क्षमा में भी वास्तव में ऐसा है कि आत्मा क्षमास्वरूप है, अर्थात् चारित्रस्वरूप है। इसे, चारित्रस्वरूप है, उसका आश्रय करने पर, पर्याय में क्षमा अर्थात् शान्ति और चारित्र की पर्याय प्रगट होती है, उसे उत्तमक्षमा कहते हैं। बाकी आत्मा के आश्रय बिना जितनी क्रोध की मन्दता आदि दिखती है, वह कोई उत्तमक्षमा नहीं है। उत्तमक्षमा इसलिए प्रयोग की है कि सम्यग्दर्शनसहित अर्थात् जो वीतरागमूर्ति प्रभु शान्तरस से भरपूर भगवान, उसका आश्रय लेकर जो क्षमा प्रगट होती है, उसे उत्तमक्षमा कहते हैं। बाकी बाहर से ऐसे क्रोध की मन्दता दिखे, बाहर से शान्त दिखे... आहा...हा... ! वह भी अन्तर का ( स्वभाव का) आश्रय लेकर क्रोध और मान आदि मिटे नहीं, उसे उत्तमक्षमा और उत्तममार्दव नहीं कहते। आहा...हा... ! जिसे चमड़ी उतारकर नमक छिड़कने पर भी क्रोध की अरुचिता-गुस्सा न दिखायी दे, तथापि वह क्रोधी है; क्योंकि जिसे आत्मा की रुचि नहीं, अरुचि है, वही क्रोध है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

बाहर में आया नहीं, जो भरा हुआ भगवान है ( अन्दर) वीतरागस्वरूप से,

चारित्रस्वरूप से, अकषायस्वरूप से शान्त... शान्त... शान्तरस से भरपूर भगवान है, वह शान्तरस पर्याय में उल्लसित होकर न आवे, तो उसे भावनय से दशा प्रगट हुई है—ऐसा नहीं कहा जाता। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...! क्या शैली! कहते हैं कि भावनय से उसे कहते हैं भाव प्रगट हुआ है, उसे भावनय (कहते हैं)। द्रव्यनय तो आ गया है, पर्यायनय भी आ गया है, परन्तु यहाँ तो भावनय से। यह पर्याय जो है, प्रगट हुई है, भावनय से, वह उसका एक धर्म है, परन्तु वह धर्म... धर्म अर्थात् धारा हुआ भाव। वह धर्म, द्रव्य में था, वह उल्लसित होकर बाहर आया है, फूला है-फला है, हुआ है। आहा...हा...! जो परमानन्दमूर्ति प्रभु स्वभाव है, उसका आश्रय लेकर जो भाव फला है, उसे यहाँ भावनय कहते हैं। आहा...हा...! भरपूर भगवान-शान्त वीतरागस्वभाव से भरपूर प्रभु का आश्रय लेने पर पर्याय में जो शान्ति उछलती है, आहा...हा...! उल्लसित होती है, विलसती है... आहा...हा...! प्रकाशित होती है, प्रतिभासित होती है... आहा...हा...!

**(अर्थात् आत्मा भावनय से वर्तमान पर्यायरूप से प्रकाशित होता है,...)** देखा? है तो वस्तु पूरी त्रिकाल, परन्तु वर्तमान पर्याय से वह भावदशा प्रगट होती है। आहा...हा...! और वह प्रगट कैसे होती है? कि जिसकी द्रव्य पर दृष्टि है और इस नय का विषय लक्ष्य में लेकर भी अन्दर द्रव्य को देखना है—ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! चैतन्य भगवान परमानन्द की मूर्ति प्रभु,... यह पर्याय प्रगटी है, उसका लक्ष्य करने पर भी उसे जाना है अन्दर में; जिसमें से आयी है उसमें। आहा...हा...! भाई! ऐसी बातें कहाँ थीं? कलकत्ता में तुम्हारे पैसे में है कहीं? आहा...हा...! उल्लसित हुआ है, कहते हैं। जैसे स्त्री ऊपर रही और पुरुष नीचे है, वैसे भाव द्रव्य नीचे है और भाव उल्लसित हुआ है। आहा...हा...! ये तो गज़ब बातें हैं, भाई! प्रसन्नता बाहर आयी है, कहते हैं। राग के अभाव-स्वभावरूप प्रसन्नता उल्लसित हुई है, वह भावनय से है, परन्तु वह भावनय उल्लसित हुआ है किसमें से? भरा भण्डार उल्लसित हुआ है।

जैसे घड़ा भरा हो, वह छलककर (बाहर आता है)। आहा...हा...! भगवान अनन्त गुण के स्वभाव से भरा घड़ा है। आहा...हा...! उस पर दृष्टि जाने से, जो शक्ति है, वह पर्याय में उल्लसित होती है, प्रकाशित होती है, प्रतिभासित होती है, उसे यहाँ भावनय का विषय वर्तमानदशा प्रगट हुई है। द्रव्य में वह तो योग्यता कही,

परन्तु भगवान जन्में तो भी उन्हें तीर्थंकर कहना, यह तो भावीनय को वर्तमान में कहना है; और साधु हुआ—राजा, बड़ा सेठ दीक्षित हुआ, तो भी उसे सेठ और राजा कहना, यह भूतकाल की अपेक्षा से। यह तो वर्तमान-अपेक्षा से (बात है)। वह भूत और भविष्य की योग्यता गिनकर कहा। आहा...हा...!

**आत्मद्रव्य भावनय से, पुरुष-समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति तत्काल के ( वर्तमान ) पर्यायरूप उल्लसित...** आहा...हा...! शक्तिरूप स्वभाव है, वहाँ दृष्टि पड़ने पर तत्काल उसकी पर्याय प्रगट होती है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी कठिन बातें हैं, भाई! लोग बेचारे बाहर में—प्रवृत्ति में पड़े हैं, यह दया और व्रत (में चढ़ गये हैं)। यहाँ तो कहने का आशय यह है कि जिसे द्रव्य का आश्रय नहीं हुआ, उसे सच्चा भाव प्रगट होता ही नहीं। यह शुभाशुभभाव तो अध्धर से हुआ है, यह कोई इसकी चीज़ में नहीं है। दया, दान, व्रतादि शुभ-अशुभभाव, यह कोई इसका भाव नहीं। आहा...हा...! उसमें भाई ने जरा डाला है। कहा था न? उसमें अधर्म कहा है। दश प्रकार के धर्म में शुभाशुभभाव को अधर्म कहा है। परन्तु वह तो पण्डित ने लिखा है (-ऐसा) कहते हैं।

यहाँ तो धर्म जो भावनय का धर्म, उससे विरुद्ध पुण्य-पाप, वह अधर्म है। वह द्रव्य में से प्रगट नहीं हुआ है। वह द्रव्य फला-फूला नहीं है। वह द्रव्य फला नहीं। द्रव्य फले और फाले वह तो शुद्धता की पर्याय से फाले, वह द्रव्य फला कहलाता है। आहा...हा...! क्या शैली! गजब बात! सन्तों को अन्तर के अभिप्राय से क्या कहना है, (वह) गजब है!! अहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! परन्तु समझ में न आये ऐसी नहीं है। आहा...हा...!

**तत्काल की ( वर्तमान ) पर्यायरूप से...** आहा...हा...! अन्दर से ऊपर आयी। स्वभाव में जो शान्ति, वीतरागता, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र थे, वे पर्याय में उल्लसित होकर बाहर आये हैं। आहा! उसे भावनय से तत्काल प्रगट हुई दशा को भावनय का विषय कहा जाता है। आहा...हा...! तथापि वह एक ही धर्म है। ऐसे तो अनन्त धर्मों का धारक द्रव्य है। अधिष्ठाता कहा है न? इस एक ही पर्याय को धारता है—ऐसा नहीं। आहा...हा...! अनन्त-अनन्त पर्यायों को (धारा है), उसका स्वामी है। यहाँ तो राग का भी स्वामी है- ऐसा कहना है। समझ में आया? आहा...हा...! परन्तु राग है, वह कोई अन्तर के द्रव्य का उल्लसित (भाव) नहीं

है, परन्तु पर्याय में जितनी निमित्त-आधीन दशा होती है,... आहा...हा...! वह भी यहाँ भावनय गिनकर (कहा है)। वह द्रव्य फला नहीं परन्तु पर्याय में फसल आयी है। आहा...! यह तो फिर आयेगा। इसे जानते हुए भी इसका लक्ष्य दृष्टि में जाना चाहिए। आहा!

बाहुबलीजी और भरत। भरत ने बाहुबलीजी को मारने का चक्र चलाया, तथापि उन्हें उत्तमक्षमा है, क्योंकि समकित हो, वह समकितदृष्टि है; इसलिए उन्हें मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का नाश हुआ है; इस कारण उन्हें सम्यग्दर्शन और शान्ति का अंश क्षमा प्रगट हुई है। आहा...हा...! और (मिथ्यादृष्टि) जैनमुनि अट्ठाईस मूलगुण पालन करे, पंच महाव्रत पालन करे, नग्नपना (हों), वस्त्र का टुकड़ा नहीं, उसके लिये बनाया गया आहार-पानी, प्राण जाए तो भी न ले, परन्तु वह राग की क्रिया द्रव्य में से आयी नहीं है; वह तो निमित्ताधीन होकर आयी है। आहा...हा...! समझ में आया? इस कारण उसे सम्यग्दर्शन नहीं है। उसमें कहा न? 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो; पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' आहा...हा...! उसे वहाँ धर्म नहीं। भावनय का जो धर्म है, वह धर्म वहाँ नहीं। आहा...हा...!

भावनय का जो धर्म है, वह तो द्रव्य के आश्रय से, द्रव्य उल्लसित होता है। आहा...हा...! द्रव्य फलता है, द्रव्य फलता है, फसल देता है। ऐसी बात!

**मुमुक्षु :** द्रव्य, पर्यायार्थिकनय से...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** इस पर्यायार्थिक में द्रव्य फलता है। द्रव्य में द्रव्य कहाँ फले? इसे भावनय कहा न? वर्तमान भाव। आहा! त्रिकाली भाव की बात नहीं, यह तो प्रगट हो, उसकी बात है। त्रिकाली भाव की बात नहीं। त्रिकाली भाव तो पर्याय में उल्लसित होता है। अरे रे...!

कहते हैं कि चाहे जो क्रिया करता हो, दया, दान, व्रत, भक्ति (करता हो), तथापि उसे द्रव्य का आश्रय नहीं, इसलिए उसे धर्म है ही नहीं। उस द्रव्य की दृष्टि होने पर जो शुद्धपर्याय फलती है, वह धर्म है, और वह भावनय का विषय है, परन्तु फिर भी उस पर लक्ष्य रखना नहीं है। आहा! ऐसा जो धर्म है, वह भी एक योग्यता का धर्म है। उसका लक्ष्य रखना नहीं है। उसे जानकर तो द्रव्य में जाना है।

आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसी बात है, बापू ! तीन लोक के नाथ वीतराग ने यह वर्णन किया है। यह सन्त अनुभवकर कहते हैं। चारित्रसहित है न ? ये दस भेद हैं, वे चारित्र के हैं न ! उत्तम क्षमा आदि चारित्र के भेद हैं और चारित्र तो सम्यग्दर्शन हो और फिर रमणता (हो), वह चारित्र है। सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना उत्तम क्षमा आदि धर्म नहीं होता। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं **( पुरुषत्व-रूपपर्यायरूप से प्रतिभासित होती है। )** इसी प्रकार भगवान आत्मा पर्याय में उल्लसित होता है, निर्मल पर्याय से परिणमता है, वह भावनय का विषय कहने में आता है। यह पन्द्रह (वीं नय हुआ)। आहा...हा... ! (अब) १६।

**आत्मद्रव्य सामान्यनय से,...** यह माला है। **सामान्यनय से, हार-माला-कण्ठी...** उसका डोरा, सलंग डोरा सामान्यनय से, ऐसी बातें ! क्या कहते हैं ? अमृतचन्द्राचार्य महाराज दिगम्बर सन्त हैं, वे जगत को धर्म की प्रसिद्धि करते हैं। भाई ! आत्मा में एक सामान्य स्वभाव है, वह सामान्य अर्थात् क्या ? कि जैसे हार, माला और कण्ठी का डोरा है, वैसे आत्मा में सलंग सामान्य ध्रुव है, वह सामान्य स्वभाव है। आहा...हा... ! सलंग डोरा जो है, वैसे ध्रुव अनादि-अनन्त ध्रुव पड़ा है, वह सामान्य है। इस सामान्यनय से... भाई ! धर्म बहुत महँगी चीज़ है, दुर्लभ है परन्तु अशक्य नहीं है। भाई ! जगत् के जीव कहीं कुछ मानकर पड़े हैं। अरे !

यहाँ तो कहते हैं कि सामान्यनय भी एक धर्म गिना है। समझ में आया ? वापस विशेष नय है, भेदनय है, अभेदनय है। **सामान्यनय से, हार-माला-कण्ठी के डोरे की भाँति,...** पूरा डोरा **व्यापक है,...** प्रत्येक पर्याय में ध्रुव सामान्य व्यापक है। प्रत्येक पर्याय है, यह प्रत्येक मोती है, उसमें डोरा पूरे में व्यापक है, वैसे अनन्त पर्यायें जो क्षण-क्षण में (होती है), उसमें सामान्य स्वयं पर्याय में व्यापक है परन्तु सामान्य त्रिकाल है। आहा...हा... !

**सामान्यनय से, हार-माला-कण्ठी...** यह तो तीन एक ही। हार कहो, माला कहो, कण्ठी कहो। अन्दर लाईन है न ? इसलिए हार कहो, माला कहो, कण्ठी कहो, उसके डोरे की भाँति **व्यापक है, ( अर्थात् आत्मा सामान्यनय से सर्व पर्यायों में व्याप्त रहता है,... )** आहा...हा... ! एकरूप सामान्य होने पर भी

पर्याय में, अनेकपने की पर्याय में व्यापक है - ऐसा उसका सामान्य धर्म है। अरे... अरे! यह ध्रुव जो है, वह सामान्य एक धर्म है क्योंकि इसमें तो पर्याय धर्म विशेष धर्म बहुत है न! अशुद्धता की योग्यता, शुद्धता की (योग्यता ऐसे) धर्म बहुत हैं।

व्यवहार से मोक्ष होता है, निश्चय से होता है—ऐसी योग्यताएँ इसमें अनन्त है। आहा...हा...! इसमें जरा विवाद है। व्यवहार से मोक्ष होता है, इसका अर्थ (कि) ऐसी एक योग्यता गिनी, परन्तु निश्चय से मोक्ष होता है—ऐसी भी योग्यता है, वह एक साथ है। किसी को व्यवहार से होता है और किसी को निश्चय से होता है—ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? यह किस प्रकार की बातें? बापू! ऐसा मार्ग है। समझ में आया? आगे कहेंगे, व्यवहार से मोक्ष होता है, व्यवहारनय से मोक्ष होता है और निश्चय से (होता है) - ऐसा कहेंगे। व्यवहारनय से होता है, (किसी को) राग की क्रिया से और किसी को वीतराग से होता है - ऐसा है? वह तो एक समय की पर्याय में राग का भाव था और उससे हुआ—ऐसी व्यवहारनय से योग्यता एक धर्म गिनकर कहा। परन्तु उसी समय निश्चय से होता है, वैसी योग्यता (रूप) धर्म साथ में है। नय है न? नय, एक-एक धर्म को लक्ष्य में लेता है। आहा...हा...! प्रमाण तो अनन्त धर्म का पिण्ड प्रभु, उसे पर्यायसहित लक्ष्य में लेता है। आहा!

**( सामान्यनय से सर्व पर्यायों में व्याप्त रहता है,.... )** भगवान ध्रुव सामान्य, कण्ठी, माला, और हार के डोरे की भाँति सबमें व्यापक है। वैसे ध्रुव सामान्य सभी पर्यायों में व्यापक है। आहा...हा...! **जैसे मोती की माला का डोरा सारे मोतियों में व्याप्त होता है।)** है न? यह मार्ग ऐसा सूक्ष्म है। लोग बाहर की दृष्टि से ऐसे के ऐसे क्रियाकाण्ड में पड़े हैं। यह व्रत किया और यह तो सब मिथ्यात्वभाव है, मिथ्यात्व का पोषण है, उसमें धर्म मानते हैं न (इसलिए)। आहा! वह अशुद्धनय का विषय है। अशुद्धनय का विषय तो यहाँ भेद पाड़ना, वह अशुद्धनय का विषय है। द्रव्य में पर्याय का भेद पाड़ना, वह अशुद्धनय का विषय है और द्रव्य का सामान्य में रखना, वह शुद्धनय का विषय है, वह अन्त में आयेगा। आहा...हा...!

**( जैसे मोती की माला का डोरा सारे मोतियों में व्याप्त होता है। )** सामान्य ऐसा यह त्रिकाली ध्रुव धर्म है परन्तु वह एक ही धर्म नहीं, ऐसे अनन्त धर्मों

का स्वामी भगवान है। ऐसा जो ज्ञायकभाव है, उसे सामान्यनय से जानकर, फिर वापस द्रव्यस्वभाव में जाना है। अकेला सामान्य स्वभाव लक्ष्य में लेकर जाना है वापस द्रव्य में। आहा! समझ में आया? यह सोलह (वाँ नय) हुआ।

**प्रश्न :** सामान्य....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सामान्य है तो ध्रुव परन्तु एक अंश रहा न? नय है न? नय का विषय अर्थात् अंश है। प्रमाण का विषय पूरा द्रव्य है। द्रव्य और पर्याय, वह प्रमाण का विषय, वह द्रव्य और यह द्रव्य है, वह नय का विषय है अर्थात् एक अंश है। सूक्ष्म बात है भाई! नय है, वह एक अंश को जानता है और प्रमाण है, वह पूरे द्रव्य और पर्याय दोनों को जानता है। भले द्रव्य है, निश्चयनय का विषय द्रव्य है परन्तु वह अंश है। सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो संसार का अभाव करने की बातें हैं। आहा...हा...!

कोई ऐसा कहे कि सामान्य का आश्रय लेना, वह तो यथार्थ है परन्तु सामान्य वह तो यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है, वह सामान्य भी एक नय का अंश है। एक नय का एक अंश-धर्म है। पूरा अंशी इसमें नहीं आया। द्रव्य और पर्याय दो नहीं आये। ज्ञानप्रधान कथन है न! आहा...हा...! यह क्या कहा? कि वस्तु जो सामान्य है, वह स्वयं प्रत्येक पर्याय में व्यापक है—ऐसा एक सामान्यनय है, परन्तु वह सामान्य है, वह तो ध्रुव है, किन्तु ध्रुव है, वह नय का अंश है। निश्चयनय एक अंश को विषय करता है। सामान्य भी एक अंश है। अरे, समझ में आया? ऐसी बातें! वीतराग त्रिलोकनाथ ने (कहा हुआ) यह प्रवचनसार है। भगवान की दिव्यध्वनि का मक्खन है। भाई! जरा शान्ति से अभ्यास करना चाहिए। समझ में आया? आहा...हा...!

त्रिकाली है, वह निश्चयनय का विषय है, तथापि वह नय का विषय है। नय है, वह एक अंश को पकड़ता है। ध्रुव को-एक अंश को (पकड़ता है) परन्तु विशेष का लक्ष्य रखकर सामान्य में जाना-ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहा!

अब पर्यायनय से, विशेष स्थापित किया। यह विशेषनय भी एक अंश है। **उसके एक मोती की भाँति, अव्यापक है...** मोती एक जगह एक ही है, सर्वव्यापक नहीं। वैसे आत्मा में एक पर्याय एक क्षण में एक समय में है। अनन्त

पर्याय सर्वव्यापक नहीं। सामान्य व्यापक है, वैसे एक समय की पर्याय सब में व्यापक है - ऐसा नहीं। ऐसी बातें हैं। **विशेषनय से...** आत्मद्रव्य, द्रव्य तो पहले लिया, उसे विशेषनय से। आहा...हा...! **उसके एक मोती की भाँति, अव्यापक है...** मोती पूरे में व्यापक नहीं। **( अर्थात् आत्मा विशेषनय से अव्यापक है, जैसे पूर्वोक्त माला का एक मोती सारी माला में अव्यापक है। )** आहा...हा...! विशेष अर्थात् पर्याय, भेदविशेष, इस नय से ये विशेष एक ही पर्याय में है। वह विशेष सभी पर्यायों में व्यापक नहीं है। सामान्य है, वह सबमें व्यापक है। विशेष है, वह एक में (व्यापक है) डोरा सबमें व्यापक है और एक मोती एक ही मोती में है। अरे... ऐसी बात। अरे... प्रभु! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है, भाई! सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि कोई अलौकिक है। आहा!

कहते हैं कि पर्यायनय से इसकी एक-एक समय की जो पर्याय है, वह सबमें व्यापक नहीं है। मोती का एक-एक मोती एक-एक में ही है और डोरा तो सबमें व्यापक है। सामान्य सभी पर्यायों में व्यापक है और पर्याय एक ही समय में व्यापक है। एक ही समय में सबमें व्यापक नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें!

बनियों को जैनधर्म हाथ आया और ऐसी बातें! भाई! इसे धन्धे के कारण फुरसत नहीं मिलती। तुलना करने का (अवकाश नहीं) कि हमने जो सुना है अथवा कहते हैं और यह क्या कहते हैं? दोनों की तुलना करने का समय चाहिए न? पूरे दिन धन्धा-पानी। आहा...हा...! यह क्या कहते हैं? और हमने क्या माना है? और दूसरे क्या कहते हैं? उसमें क्या अन्तर है? ऐसा निर्णय करने का काल कहाँ है? आहा..! और करना तो यह है। आहा...हा...! समझ में आया?

**आत्मद्रव्य विशेषनय से,... ( माला का एक मोती सारी माला में अव्यापक है। )** ऐसे समय की पर्याय है, वह पूरे में व्यापक नहीं है। विशेषनय है, वह भी एक धर्म है। सामान्य भी एक धर्म है, विशेष भी एक धर्म है। ऐसे अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता भगवान है। उन अनन्त धर्मों का स्वामी वह आत्मा है। आहा...हा...! यहाँ तो विकारी पर्याय है, उसका वह धर्म है (और उसका) स्वामी आत्मा है, द्रव्य है। भले वह धर्म नहीं परन्तु अधर्म की पर्याय का स्वामी आत्मा है। अर र! समझ में आया? इन अनन्त धर्मों का अधिष्ठान-आधार आत्मा है। आहा...हा...!

एक ओर कहें कि राग, आत्मा के आश्रय से नहीं होता, पर के आश्रय से

होता है। दूसरी ओर कहते हैं कि राग, आत्मा के आश्रय से होता है। प्रवचनसार में आता है न? यहाँ कहते हैं कि राग, वह आत्मा के आश्रय से हुआ आत्मधर्म, आत्मा की योग्यता का वह धर्म है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** आत्मा, राग करे तो निश्चयनय का विषय - ऐसा इसमें कहा है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** निश्चय का विषय है, इसकी पर्याय है न! इसकी पर्याय है या नहीं? पर वह व्यवहार और यह द्रव्य, अपनी पर्याय, वह निश्चय। आहा...हा...! ग्यारहवीं गाथा में यह कहा है कि व्यवहारनय अभूतार्थ है, तो पर्याय को गौण करके अभूतार्थ कहा। पर्याय नहीं - ऐसा नहीं। त्रिकाली ज्ञायक भगवान आत्मा का आश्रय करने पर सम्यग्दर्शन होता है; इसलिए उस पर्याय को अभूतार्थ कहकर खोटी है, गौण करके 'नहीं है'—ऐसा कहा, तथापि वह पर्याय भूतार्थ का आश्रय लेती है। ऐसी बातें हैं। समझ में आया इसमें?

भाई! समय लेना चाहिए (निवृत्ति लेना चाहिए) भाई! यह अवसर मिला है। अरे रे! अनुभव करने का अवसर मिला है, भाई! वह चीज़ क्या है? उसे अनुसरण कर होने का काल है। आहा...हा...! प्रवचनसार में तो ऐसा कहा है न कि आज ही करो! आहा...हा...! आचार्यों की भाषा तो देखो! अन्त में है। यह बात कहते हैं, आज ही करो! बाद में करूँगा... बाद में करूँगा - ऐसा रहने दे! आहा! दो जगह (आता है), आज ही (आता) है न अन्त में? अन्त में है। अन्तिम दो लाईन। ***आत्मा आज ही...*** एकदम अन्तिम और अन्तिम दो लाईनें हैं। हैं? ***चैतन्य को ही चैतन्य आज प्रबलरूप से -उग्ररूप से अनुभव करो...*** है? एकदम अन्तिम, एकदम अन्तिम, पृष्ठ पर अन्तिम नहीं, अधिकार के अन्त में। ५०५ (पृष्ठ) है? ***उस चैतन्य को ही.... उस चैतन्य को ही चैतन्य आज ही प्रबलरूप से...*** आहा...हा...! वायदा करना नहीं, कहते हैं। यदि तुझे रुचता हो तो आज ही अनुभव कर। आहा...हा...! है? तथा इस ओर।

एक इस ओर, ५०४ पृष्ठ, वहाँ है? देखो, ***आज ही...*** अन्तिम शब्द है। इस श्लोक का अन्तिम शब्द है। पूरे शाश्वत् स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज ही (जनों) अव्याकुलरूप से नाचो... है? दो जगह आज ही कहा, तुझे रुचे तो आज ही अन्दर जा। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। है? यह अमृतचन्द्राचार्य का कलश है। आहा..हा...! समझ में आया? देखो! इसमें है न? २१ है न? २१ है न यह? '**वल्गत्वद्य**' तीसरी

लाईन का शब्द है, 'अद्य' है न? भाई! है न? तीसरी लाईन का पहला शब्द- 'अद्य', और इसमें (२२ कलश में) '**तदुच्चैंश्चिच्चिदेवाद्य**' तीसरी लाईन का नीचे से पहला अद्य शब्द पड़ा है। आज ही! आहा...हा...! हाथ आता है? कलश में शब्द है। आहा...हा...! आचार्यों ने कितनी करुणा की है! भाई! (एक मुमुक्षु) नहीं कहते कि करना तो यह है, एक ही करना है। आहा...हा...! वह भी आज ही कर, कहते हैं। आहा...हा...! फिर निवृत्ति लूँगा और फिर लड़के-बड़के ठीक पड़ेंगे, लड़के आवें फिर करूँगा, भाई! फिर मर जायेगा, देह छूट गया तो क्या करेगा? आहा...हा...! आज ही, कहा। भाई! यह पंचम काल है, और तुम कहते हो कि सम्यग्दृष्टि जीव बहुत थोड़े होते हैं। तो थोड़े होते हैं उसमें जा न, (उसमें) मिल जा न! आहा...हा...!

जैसे वे सब जहाज समुद्र में डूब गये, उसमें एक-दो जहाज बाहर आये। सेठ को पता पड़ा, (इसलिए कहा कि) देखो, वह मेरा जहाज होगा बाहर, देखो! मेरा पुण्य है, मुझे दिखता है, वह मेरा जहाज डूबेगा नहीं। देखे वहाँ उसका जहाज बाहर आया, दूसरे का डूब गया और उसका बाहर आया। आहा...हा...! इसी प्रकार प्रभु! तेरा काल आज ही पके ऐसा है, कहते हैं। आज ही पके, उसमें तू जा, मिल जा। आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों का डंका तो कैसा, देखो तो सही! डंके की चोट पर कहा कि दया, दान, व्रत, तप-फप ये सब क्रियायें राग हैं। यह चैतन्यस्वरूप है, उसमें आज ही अन्दर जा! भाई! देखो! ये मुनि! अरे! यह कहाँ है? बापू! आहा...हा...!

यहाँ तो पर्यायनय से सर्व में-पर्याय व्यापक नहीं (ऐसा कहा)। यह १७ (नय पूरा हुआ)। १८।

**आत्मद्रव्य नित्यनय से,...** लो! वह सामान्य कहा और यह विशेष कहा। फिर नित्य और अनित्य (कहते हैं)। कायम रहनेवाला और क्षण में रहनेवाला। आहा...हा...! ऐसा एक वापस सामान्य की अपेक्षा नित्य का एक धर्म अलग है। सामान्य अकेला है या विशेष में व्याप्त नहीं और नित्य है, वह कायम रहनेवाला है। आहा...हा...! समझ में आया?

**आत्मद्रव्य...** भगवान आत्मा द्रव्य-वस्तु वह **नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है....** नट की भाँति स्थिर है, त्रिकाल है। आहा...हा...! किस प्रकार? **( आत्मा नित्यनय से नित्य-स्थायी है,... )** देखा? काल। नित्य टिकनेवाला है।

सामान्य है (उसमें) इतनी बात है कि पर्याय में व्यापक है इतना; और यह तो नित्य टिकनेवाला है, यह एक धर्म अलग है। आहा...हा...! ऐसी बातें कहीं (सुनने को नहीं मिलतीं)। कहाँ गये हमारे पालेजवाले? कहाँ गया? धन्धे के कारण फुरसत नहीं मिलती। कहाँ गया? पीछे है? आहा...हा...! (उसकी) एक दुकान में गये थे न एक बार? सब थैलियाँ भरी हुई। यहाँ से (जाकर) उस ओर बाहर निकले। आहा...हा...! कहा, यह बड़ा गोदाम भरा, इसमें से निवृत्त कहाँ से होगा? (उसकी) दुकान में उस ओर बाहर निकला जाता है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तू तो नित्य है न! वह नित्य भी एक योग्यता का धर्म गिना है। यह नित्य एक ही धर्म नहीं, ऐसे तो अनन्त धर्म हैं। धर्म अर्थात् इसकी योग्यता, लायकात। इस **नित्यनय से,...** आहा...हा...! **नट की भाँति,... ( आत्मा नित्यनय से नित्य-स्थायी है, जैसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वाँग धारण करता हुआ भी... )** आहा...हा...! एक का एक (नट) बहुत स्वाँग धारण करे, तथापि नट तो नटरूप है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! अनेक प्रकार के राग के स्वाँग धरे, निर्मल पर्याय के स्वाँग धरे परन्तु नित्यरूप से नट तो वह का वह है। भले राग, रावण के रूप धारण करे। आहा...हा...!

हमारे पालेज में एक बार यह बना था। भर्तृहरि का नाटक था, परन्तु वह हम थे तब। वे लोग फिर जन्मे। उसमें उसका जो नायक था, वह पिंगला होकर आनेवाला था। पिंगला! और वही जो नायक था, वापस भर्तृहरि होकर आनेवाला था। उसमें वहाँ मुसलमान का जोर था, पूरे गाँव पालेज में मुसलमान हैं। देखने मुफ्त में आ जायें, बिल्कुल पैसा दें नहीं, ऐसे जोरदार लोग। इसमें उसे बाहर निकलना पड़ा। स्त्री का वेश धारण किया हुआ (वह पहनकर) ऐसा का ऐसा बाहर निकला। सिर खुला और कपड़े पहने हुए। किसी ने कहा यह कौन है? यह नायक है। यह पिंगला का वेश धारण करके आता है और फिर भर्तृहरि का लेकर आयेगा यही।

इसी प्रकार आत्मा एक बार मनुष्य का देह धारण करे, ऐसी योग्यता, एक बार देह धारण करे, एक बार राग धारण करे, एक बार द्वेष धारण करे, एक बार शुद्धपर्याय धारण करे, एक बार अशुद्धपर्याय धारण करे, आहा...हा...! तथापि नित्य वस्तु तो वह की वह है। अरे! ऐसी बातें कहाँ है? भाई! अब (१९)।

**आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भाँति, अनवस्थायी है...** आहा...हा...! रावण का रूप धारण किया, फिर वह का वह वापस तीर्थंकर होगा। रावण तीर्थंकर होगा और सीताजी गणधर होंगी। आहा...हा...! भिन्न-भिन्न पर्यायें हैं। अब यहाँ (रावण) व्यभिचारी। सीता को कलंक देने आता, सीता को उठाकर ले गया। अब वह स्वयं तीर्थंकर होगा। परिणाम की विचित्रता है न! और यह सीताजी हैं, वे गणधर होंगी। तो सीताजी का वेश और गणधर का वेश दोनों, परन्तु वस्तु नित्य है। इसी प्रकार रावण का वेश, नरक का वेश और तीर्थंकर वेश; पर्याय भिन्न-भिन्न होने पर भी वस्तु तो नित्य है। आहा...हा...!

**आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भाँति, अनवस्थायी है...** अनवस्थायी है। एकरूप नहीं, ऐसा। **( अर्थात् आत्मा अनित्यनय से अनित्य है, जैसे नट के द्वारा धारण किये गये राम-रावणरूप स्वाँग अनित्य हैं। )** एक ही स्वाँग है—ऐसा नहीं, भिन्न-भिन्न स्वाँग है। वे सब स्वाँग अनित्य हैं। आहा...हा...! अनित्यनय से जानने पर भी; पर्याय एकरूप नहीं, भिन्न-भिन्न है—ऐसा लक्ष्य में लेने पर भी, उसे ज्ञायकस्वभाव पर जाना चाहिए। उसका परिणाम यह आना चाहिए। अनित्य है, तथापि इसे ज्ञायकभाव पर जाना। अनित्य है—ऐसा लक्ष्य में रखना। १४ वीं गाथा में नहीं कहा? १४ वीं गाथा में (कहा कि) पर्याय नहीं, ऐसा नहीं। पर्याय है, उसका ज्ञान में लक्ष्य रखना। १४ वीं गाथा में भावार्थ किया है। आहा..हा...! पर्याय नहीं—ऐसा कहा, परन्तु पर्याय है-ऐसा ज्ञान में रखना। नहीं (कहा वह तो) गौण करके, दृष्टि के विषय की अपेक्षा से 'नहीं' ऐसा कहा है परन्तु पर्याय है, राग है, वह ज्ञान में तो लक्ष्य में रखकर द्रव्य का आश्रय लेना। पर्याय नहीं—ऐसा भूलकर द्रव्य का आश्रय नहीं हो सकेगा। क्योंकि द्रव्य का आश्रय करनेवाले तो वापस पर्याय हैं। यदि पर्याय है ही नहीं तो द्रव्य का आश्रय करेगा कौन? आहा...हा...! ऐसे पहलू हैं।

वहाँ ऐसा कहा कि (पर्याय) नहीं न? (तो कहते हैं) है, है; नहीं तो क्यों कहा था? वह तो पर्याय का लक्ष्य छुड़ाने को, पर्याय को गौण करके असत्य कहा, असत्य कहा परन्तु पर्याय, पर्यायरूप से सत्य है। ज्ञान की पर्याय, राग की पर्याय, उस पर्यायरूप से पर्याय है, उसे लक्ष्य में रखकर, द्रव्य का आश्रय करना। पर्याय का आश्रय छोड़ना, परन्तु पर्याय नहीं —ऐसा लक्ष्य करने जायेगा तो नास्ति हो

जायेगी, तो निश्चयाभासी हो जायेगा। जैसे वेदान्त पर्याय को नहीं मानता, (वह) निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! कठिन बातें, भाई!

सुधरेल में अभी वेदान्त बहुत प्रसिद्ध है। क्योंकि बातें करना कि सर्व व्यापक है, सर्व व्यापक है। एक चैतन्य, कहते थे, कहा नहीं? कैम्प में... एक राजपूत था। सब छोड़ दिया, एक वस्त्र पहना था। व्याख्यान सुनने आवे, सुने। एक... एक... ऐसा कहता था। सुरेन्द्रनगर!.... आहा...हा...! उसे ३६ वर्ष हुए... राजपूत था। अरे... भाई! एक कहाँ है? एक होय तो एकपने का निर्णय करनेवाला कौन? किसका निर्णय करना—ऐसा भेद पड़ गया। एक है—ऐसा निर्णय नहीं था और एक है—ऐसा निर्णय किया तो यह तो पर्याय हो गयी। इसमें एक है, ऐसा कहने पर एक का निर्णय करनेवाला और एक का निर्णय नहीं करनेवाला, ये दो पर्याय हो गयी। यह तो वह इनकार करता है कि आत्मा और आत्मा का अनुभव, ये दो क्या? ऐसे वह इनकार करता है। द्वैत हो जाता है न? आत्मा और आत्मा का अनुभव। अरे सुन! अनुभव है, वह पर्याय है और आत्मा है, वह त्रिकाल द्रव्य है। दोनों चीज़ है।

अनित्यनय से पर्याय, पर्याय पलटती है, तथापि नित्यपने का नाश नहीं करता, नित्य तो नित्य है, वह भी एक धर्म है। अनित्य भी इसका धर्म है। शरीर अनित्य है, वह बात यहाँ नहीं है। शरीर अनित्य है, वह तो जड़ की बात है। यह तो आत्मा की पर्याय अनित्य है। समझ में आया? आहा...हा...!

पंचाध्यायी में ऐसा कहा है कि सर्वगत माने तो वह मिथ्यात्व है। प्रवचनसार में ऐसा कहा है कि सर्वगत (अर्थात्) सर्व को जानता है, इस अपेक्षा से सर्वगत कहलाता है परन्तु वह सर्वगत सर्व व्यापक है, इस अपेक्षा से। यहाँ सर्वगत एक नय लिया है, मुझे ऐसा कहना है। आहा...हा...! पंचाध्यायी में कहते हैं कि सर्वगत व्यापक है (ऐसा माने वह) मिथ्यात्व है। प्रवचनसार में पहले लिया है कि आत्मा सर्वगत है अर्थात् सर्व को जानता है, इसलिए सर्वगत है और इसलिए वे सर्वचीज़ें मानों ज्ञान में प्रविष्ट हो गयी हों, इस अपेक्षा से उसे सर्वगत कहते हैं। प्रवेश नहीं होती, उस सम्बन्धी का ज्ञान होता है।

यहाँ कहते हैं कि **सर्वगतनय से, खुली हुई आँख की भाँति,...** ऐसे खुली आँख हो। **सर्ववर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला) है।** अर्थात् सबको जाननेवाला

है। सर्वगत का अर्थ इतना, हों! सबमें व्यापनेवाला अर्थात् सबको जाननेवाला है। आहा...हा...! सबमें व्यापे या सबमें वह चला जाता है? आहा...हा..! कितने नय! यह तो वस्तु का धर्म है, हों! ऐसे जो विकल्प से नय करे, उसे इन्द्रजाल कहा है। प्रभु! तेरे विकल्प के नय इन्द्रजाल हैं। यह इन्द्रजाल नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप है। आहा...हा...! सर्ववर्ती—सबमें व्यापक है, अर्थात् सबको जानता है। खुली आँख ऐसे सबको जानती है, जानती है, वह अपनी सत्ता में जानती है परन्तु ऐसे सबको जानती है, इस अपेक्षा से सर्वगत कहने में आता है।

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## ऐसे होते हैं हमारे जैन मुनि महाराज!

**मुनिराज को वीतरागता फली-फूली है;** जिस प्रकार फूल की कली खिल उठती है, उसी प्रकार वीतरागता खिल उठी है। श्रेणिक राजा ने यशोधर मुनि के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया था; करोड़ों चीटियाँ शरीर पर चढ़ गयी और जगह-जगह काटा — ऐसे उपसर्ग के समय भी मुनि खेद-खिन्न नहीं हुए थे, परन्तु अन्तर में वीतरागी आनन्द में क्रीड़ा करते थे। चेलना रानी कहने लगी — **देखो! ऐसे होते हैं हमारे जैन मुनि! अन्तर आनन्द की मस्ती में उपसर्ग के प्रति उनका लक्ष्य नहीं जाता।** अन्तर में एकदम अतीन्द्रिय आनन्द की मस्ती में उपसर्ग के प्रति उनका लक्ष्य ही नहीं जाता। अन्तर में एकदम अतीन्द्रिय आनन्द की परिणति में लीन हो गये हैं। **यहाँ तो कहते हैं कि मुनिराज को प्रतिकूलता में खेद नहीं है और अनुकूलता में हर्ष नहीं है।**

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २५२*

# नय-२१ से २४

**असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति २१। शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि २२। अशून्य-नयेन लोकाक्रान्तनौवन्मिलितोद्भासि २३। ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् २४।**

आत्मद्रव्य असर्वगतनय से, मींची हुई (बन्द) आँख की भाँति, आत्मदर्शी (अपने में रहनेवाला) है। २१.

आत्मद्रव्य शून्यनय से, शून्य (खाली) घर की भाँति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है। २२.

आत्मद्रव्य अशून्यनय से, लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति, मिलित भासित होता है। २३.

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से (ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से), महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति, एक है। २४.

**प्रवचन नं. २६३, नय २१ से २४**

**भाद्रपद शुक्ल १५, गुरुवार, ०६ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, बीसवाँ बोल (नय) थोड़ा चला है। यह बोल २६ वीं गाथा में आता है। इसमें लिखा है। २३, २६, ३१, ३५ और ५० इतनी गाथाओं में सर्वगत का (कथन) आता है। उस दिन कहा था। इसमें लिखा है। क्या कहते हैं? शान्ति से सुनने की बात है, बापू!

**आत्मद्रव्य सर्वगतनय से,...** पंचाध्यायी में सर्वगत को मिथ्यात्व में डाला है, परन्तु वह सर्वगत अत्यन्त पर में व्याप जाए—इस अपेक्षा से (मिथ्यात्व कहा

है)। यहाँ तो सर्वगत पहले पाँच गाथाओं में आया है। भाई! कल इतना नहीं कहा गया था। आहा...हा...! बात ऐसी है कि आत्मा ज्ञायकस्वरूप है। उस ज्ञायकस्वरूप में लोकालोक के ज्ञेयाकार का ज्ञान होता है; इससे ऐसा भी कहा जाता है कि आत्मा स्वयं लोक-अलोक में व्यापता है। व्यापता है—इसका अर्थ कि उस सम्बन्धी का ज्ञान होता है, इससे उसमें व्यापता है—ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा...हा...! इसलिए फिर दूसरे (बोल में) निकाल डालेंगे। पहले बोल में ऐसा है। सूक्ष्म बात है, भाई!

यद्यपि पूर्ण सर्वगतपना तो केवलज्ञानी को होता है। जिनके ज्ञान में क्रमसर ज्ञेयाकार का ज्ञान होता है, वे तो छद्मस्थ हैं, वे केवली नहीं हैं। इसमें आता है, भाई! आहा...हा...! यह तो कल यहाँ जरा नजर नहीं थी। यहाँ पाँच बोल लिखे हैं, वे उस दिन के लिखे हैं। आहा! क्या कहते हैं? कि आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, प्रभु! तो वह सर्वगत है। उसका एक धर्म है। धर्म अर्थात्? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - ऐसा नहीं। इसने धार रखा हुआ एक भाव है। सूक्ष्म बात है, भाई! भगवान आत्मा में एक सर्वगत नाम की योग्यता का धर्म है। अर्थात्? कि जो लोकालोक है, वह ज्ञेय है और भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान का होना, वह सर्वगत कहने में आता है अथवा ज्ञान का ज्ञेयाकाररूप होना, (उसे सर्वगत कहा जाता है)।

वहाँ पहली गाथाओं में तो पहले ऐसा भी लिया है, भाई! ज्ञान में ज्ञेय आये हैं और ज्ञान, ज्ञेय में जाता है। (यह) जानने की अपेक्षा से (कहा)। यह पहले (गाथाओं में) आया। यहाँ लम्बा (नहीं करते), परन्तु अपने तो उसका सार (लेते हैं)। आहा...हा...!

सर्वगत अर्थात् भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप होने से, उसका ज्ञान, लोकालोक के ज्ञेय हैं, उस ज्ञेयकार ज्ञान होता है; इसलिए उसे सर्वगत कहने में आता है। सर्व ज्ञेयों में जाननेवाला, उन्हें जाननेवाला, व्यापनेवाला—ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा...हा...! वास्तव में तो सम्यग्दर्शन में पहली भूमिका से, धर्म की पहली भूमिका से ज्ञायकस्वरूप जो भगवान आत्मा है, उसका जिसे अन्तर में ज्ञान हुआ है कि मैं तो चैतन्य ज्ञायक ध्रुव नित्यानन्द प्रभु हूँ, तो उसे भी योग्य रागादि और शरीरादि की क्रिया जो दिखती है, उस ज्ञेयाकार से ज्ञान स्वयं से

परिणमता है; इसलिए उसे सर्वगत कहने में आता है। भाई! ऐसी बात है, भगवान! आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** शक्ति-अपेक्षा से सर्वगत है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** नहीं; शक्ति नहीं; इसका स्वभाव ही इतना है। शक्ति से तो है, परन्तु यह तो पर्याय में इतना इसका स्वभाव है-ऐसा कहना है। पर्याय में इतना इसका स्वभाव है कि जितना लोकालोक है, उसके ज्ञेयाकार के ज्ञानरूप परिणमित होना, ऐसा इसका सर्वगत स्वभाव है और नीचे समकित को सर्वगत एक अपेक्षा से नहीं, परन्तु उसे क्रम-क्रम से... श्रुतज्ञान में आता है न, भाई! श्रुतज्ञान सर्व को जानता तो है, परन्तु उसमें क्रम पड़ता है। केवली को क्रम नहीं पड़ता। सूक्ष्म बात है, भाई!

प्रभु ज्ञानरस है, वह चैतन्यबिम्ब है, वह ज्ञान का सागर है; यह तो ज्ञान में जितनी ज्ञेय की योग्यता वहाँ सामने हो... आहा...हा...! राग आवे या शरीर की क्रिया या संयोग (दिखायी दे), वे जो ज्ञेय हैं, उस प्रकार से ज्ञान का परिणमना-होना, वैसा उसका एक स्वभाव है। आहा...हा...! उस ज्ञेय को 'मेरा' मानना - ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? भाई! सूक्ष्म बात है, भगवान! भाई! ये सब 'बीछिया' से आये हैं न? कल तो बहुत सब आनेवाले हैं-राजकोट और गोंडल और भावनगर, से भी कल आनेवाले न? दो बस। आहा...हा...!

आत्मा में एक सर्वगत नाम का गुण है। गुण अर्थात् योग्यता-धर्म। अर्थात् क्या? कि इसकी पर्याय में... शक्तिरूप है, वह अलग वस्तु है, परन्तु इसकी पर्याय में, जिस प्रकार लोकालोक है, उस प्रकार का ज्ञेयाकार का ज्ञान यहाँ होता है। वे ज्ञेयाकार ज्ञेय हैं; इसलिए ज्ञान होता है-ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उस ज्ञेयाकारपने ज्ञान होता है—ऐसा इसका स्वतः अर्थात् अपना स्वभाव है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...! नीचे भी ज्ञाता-दृष्टा प्रभु है। आहा...हा...! जो कोई विकल्प आवे, जो कुछ बाह्य संयोगों में क्रिया हो; उसे जानने के ज्ञेयाकार से ज्ञान परिणमित हो—ऐसा ही उसका स्वरूप है। आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

**प्रश्न :** पर्याय का या द्रव्य का?

**समाधान :** यहाँ पर्याय की बात है, द्रव्य नहीं। आहा...हा...! पर्याय की

बात है न इसमें ? सर्वगत धर्म की योग्यता है। त्रिकाल शक्ति की बात यहाँ नहीं है। शक्ति है, उसकी व्यक्तता। आहा...हा... ! एक समय में भगवान ज्ञानस्वरूप होने से, जिसकी सत्ता का अस्तित्व ज्ञान है, वह ज्ञान, उसे—लोकालोक जो जगत है, वह ज्ञेय है और आत्मा उसका ज्ञेयाकार जानने के स्वभाववाला है। वह ज्ञेयरूप है, इसलिए (जानता है-ऐसा) नहीं, परन्तु यहाँ ज्ञान का स्वभाव ही (ऐसा है)। जितने ज्ञेय हैं, उस प्रकार से ज्ञेयाकार से ज्ञान में परिणमना, वह ज्ञानाकार (स्वभाव है)। है तो ज्ञानाकार, परन्तु ज्ञेयाकारी परिणमित हुआ है; इसलिए उसे ज्ञेयाकार कहा जाता है। ऐसी सूक्ष्म बातें हैं, अरे ! वीतरागमार्ग बापू ! जिनेश्वर त्रिलोकनाथ ऐसे इन्द्र और गणधरों के बीच परमात्मा कहते थे। वह बात है, प्रभु !

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि प्रभु का—चैतन्य का ऐसा स्वभाव है कि एक विकल्प, राग आवे, उसका कर्ता वह नहीं। उसका कर्तापना (होवे), ऐसा कोई गुण या स्वभाव ही नहीं। आहा...हा... ! उसका स्वभाव तो ज्ञायकरूप-ज्ञातारूप परिणमना। जितना, जिस प्रकार से ज्ञेय उसके लक्ष्य में आवे, उस-उस ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान का होना, वह उसका धर्म है, वह उसकी योग्यता का स्वभाव है। अरे ! ऐसी बातें हैं। साधारण लोगों को तो यह करना, यह करना, यह करना उसे उड़ा देते हैं, कहते हैं। राग को करूँ (-ऐसा होवे तो) इसने ज्ञायकभाव को जाना नहीं। आहा ! घात डालता है। राग करते हुए यह वस्तु जो है अनन्त... अनन्त... अनन्त.. की हद (मर्यादा) नहीं, इतने गुण तुझमें है, प्रभु ! आहा...हा... ! एक-एक आत्मा में प्रभु ! अनन्त-अनन्त गुण है। कोई एक गुण विकाररूप परिणमे—ऐसा कोई गुण नहीं; इसलिए यहाँ कहते हैं कि इसका एक ज्ञानगुण जो है, वह ज्ञेय को जानते; ज्ञेय को जानता नहीं; ज्ञेय को जानते हुए ज्ञान, ज्ञेयाकाररूप परिणमता है (-ऐसा) ज्ञान का स्वभाव है। अरे ! ऐसी बातें अब। आहा...हा... ! प्रभु ! तू बड़ा है।

एक शब्द (भाई ने) लिया है— 'सन्मान' सन्मान—स-मान, सत् मान। अन्दर के सत् का मान करना। ऐसा न करके, सत् को छोड़कर अकेला मान करना, अभिमान करना कि राग मैं हूँ, यह मैं हूँ, यह मैं हूँ, (-यह मिथ्या है)। बहुत बात की है। कितनी स्पष्ट की है। एक-एक शब्द में बहुत गम्भीरता, बहुत क्षयोपशम और वस्तु की स्थिति (का वर्णन किया है)। यह सन्मान का अर्थ किया है। सन्मान—सन्मुख होना सन्मान; और सन्मान न होकर अकेले मान में, अभिमान में

आ जाना, वह इसका स्वभाव नहीं है; विकार और विभाव है। भाई! समझ में आता है? वहाँ कभी सुना नहीं। आहा...हा...!

प्रभु! आचार्य, भगवानरूप से तो बुलाते हैं। आचार्य महाराज अमृतचन्द्राचार्य सन्त, हजार वर्ष पहले महान चलते सिद्ध जैसे प्रभु! वे (समयसार की) ७२ गाथा में भगवानरूप से बुलाते हैं। भगवान! पामर नहीं प्रभु! तू तो भगवान है! आहा...हा...! अर्थात् आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी का वान-तेरा रूप है। ज्ञान और आनन्द का तेरा रूप है; राग और शरीर, वह तेरा रूप और स्वरूप नहीं है। भाई! देखो! यह सन्तों की (कथनी)! अरे! दिगम्बर मुनि अर्थात् क्या? बापू! अभी लोगों को पता नहीं। अभी नग्नपना (धारकर) बाहर की क्रिया करे, वहाँ हो जाए धर्म! बापू! यह मुनिपना कोई अलौकिक चीज़ है। आहा...!

एक व्यक्ति का पत्र आया है कि तुम्हारे सिर पर अव्रत का कलंक है, थोड़ा संयम लो-ऐसा कहता है। बापू! संयम कोई बाहर का क्रियाकाण्ड (पाले), इसलिए संयम हो जाता है? आहा...हा...! अन्तर भगवान आनन्द का नाथ, उसका जहाँ अनुभव हुआ, तथापि उसमें लीनता होने के लिये तो अनन्त पुरुषार्थ है। सम्यग्दर्शन की लीनता की बात अलग है, परन्तु तदुपरान्त इस संयम की लीनता (विशेष पुरुषार्थ माँगती है)। यह संयम उसे कहते हैं कि सम अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक यम।—सम-यम—सम्यग्दर्शन (में) पूर्णानन्द के नाथ को अनुभव करके, पश्चात् यम अर्थात् उसमें लीनता होना, वह अनन्त पुरुषार्थ है। आहा...!

**मुमुक्षु :** आस्रवरूप से परिणमित न होना, इसका नाम संयम है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह आस्रव का अभाव, वह नास्ति से बात है। यह तो आनन्द का नाथ आनन्दस्वरूप प्रभु, चैतन्यसूर्य, चैतन्यचन्द्र का शीतल सागर भगवान, उसे अनुभव में लेकर दृष्टि से उसका आदर किया। आहा...हा...! ज्ञान की पर्याय में उसका स्वीकार होकर, फिर उसमें विशेष लीनता जमने का नाम संयम है। वह संयम कोई यह क्रिया की और यह किया; इसलिए संयम-ऐसा नहीं है। समझ में आया?

यहाँ तो दूसरी ही बात करनी है। चाहे तो सम्यग्दृष्टि हो या चाहे तो केवली हो; सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानी का दर्शन (सम्यग्दर्शन) दोनों समान है। सम्यग्दर्शन

में अन्तर नहीं है। टोडरमलजी ने तो यहाँ तक कहा है, भाई! तिर्यंच का समकित और सिद्ध का समकित (दोनों समान है)। भाई! आहा...हा...! जहाँ पूर्णानन्द का नाथ प्रतीति में ज्ञान होकर आया; इसलिए वह समकित और केवली का समकित दोनों समान है। स्थिरता में अन्तर है। (नीचे) चारित्रदोष है। आहा...हा...! परन्तु यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू! सम्यग्दर्शन हुआ अर्थात् मुक्ति, मुक्ति हो गयी पर्याय में। मुक्तस्वरूप भगवान है; आत्मा—द्रव्य मुक्तस्वरूप ही है। उसका जहाँ भान और प्रतीति होती है, तब पर्याय में मुक्ति का अंश आता है। आहा...हा...!

यह तो पीछे श्लोक में कहा है न? एक ओर मुक्ति का स्पर्श करता है; एक ओर भव। दिगम्बर आचार्यों ने तो गज़ब काम किया है! समयसार के अन्तिम श्लोक में अमृतचन्द्राचार्य मुनिराज ऐसा कहते हैं कि एक ओर ऐसे देखूँ तो मुक्ति स्पर्श करती है; ऐसे देखूँ तो जरा राग स्पर्श करता है, भव स्पर्श करता है—दिखता है, दिखता है। आहा...हा...! अरे रे! धर्म अलौकिक चीज़ है, भाई! यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा; जाना, वह कहा है; यह कोई ऐसे-वैसे की बात नहीं है। ये तो शास्त्र हैं, वे भगवान के कहे हुए, सन्तों के कहे हुए, परमात्मा ने कहे हुए वे यह शास्त्र हैं। समझ में आया? श्वेताम्बर के शास्त्र; वे भगवान के कहे हुए हैं ही नहीं। सूक्ष्म बात पड़े, प्रभु! उन्हें दुःख लगे। आहा! यह तो सत्य की प्रसिद्धि के लिये है, प्रभु! वे भी भगवान हैं। आत्मा तो वे भगवान हैं। उसकी दृष्टि से (स्वभावदृष्टि से) देखने पर तो वे भगवान ही हैं। पर्याय में जितनी विपरीतता है, उसे जाने, परन्तु द्रव्य है, वह तो भगवान है। आहा...हा...! समझ में आया?

यहाँ तो भगवान को पर्याय में जाना। पर्याय में जानने में आता है न? द्रव्य में तो द्रव्य है। द्रव्य का ज्ञान द्रव्य में नहीं होता; द्रव्य का ज्ञान पर्याय में होता है। आहा...हा...! उस पर्याय ने जब ज्ञायकस्वभाव का स्वीकार किया, तब कहते हैं कि ज्ञान की पर्याय में, उसके योग्य जो रागादि हों, उनके ज्ञेयाकार ज्ञान का होना, वह उसका स्वभाव है। इस राग का करना या शरीर का करना, यह उसका स्वरूप नहीं। अरे! ऐसी बातें! समझ में आया? आहा!

सर्वज्ञ परमेश्वर तो सम्पूर्ण सर्वगत है। यहाँ तो श्रुतज्ञान की अपेक्षा से तो पूर्ण

ज्ञाता कहते हैं, हैं, परन्तु उस पर्याय में क्रमसर, सर्व को क्रम से जाने। एक समय में ही पूर्ण जाने—ऐसी वह ताकत नहीं। आहा...हा...! यह आता है न भाई! क्रम-क्रम से जाननेवाले हम भी एक श्रुतकेवली हैं। आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं)। भगवान एक समय में सब जानते हैं, हम क्रम-क्रम से जानकर भी हम तो श्रुतकेवली हैं। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** इसमें है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** है न अन्दर, पहले की बात है। आहा...हा...! ३४-३५ में।

आहा...हा...! तत्त्व बहुत अलौकिक, भाई! लोगों को सुनने को नहीं मिलता, वे बेचारे कब निर्धार में लें? प्रभु! तू परमात्मा है न! और परमात्मा है—ऐसा जिसे ज्ञान हुआ... आहा...हा...! उसके ज्ञान में, जिन्हें पूर्ण ज्ञान हुआ, उनके ज्ञान में लोकालोक एकसाथ ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान परिणमता है और निचलीदशा में उस-उस ज्ञान की पर्याय उस-उस प्रकार के रागादि ज्ञेय हैं, उनके ज्ञेयाकार से ज्ञान परिणमें - ऐसा उसका स्वभाव है। राग को करना या पर का करना या पर को मदद करना अथवा पर से मदद लेना, प्रभु! यह तुझमें स्वभाव ही नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात, भाई! ऐसी बातें हैं ये।

वे थोड़े पृष्ठ उसने भेजे थे न? भाई! (एक भाई के) वे पृष्ठ नहीं आते? नैरोबी भेजे थे न अपने? नहीं भेजे हों। थोड़े पृष्ठ हैं। चार (पृष्ठ हैं)। पहले कहीं भेजे थे, दूसरा भेजा होगा। (श्रोता : दूसरी पुस्तकें भेजी थी।) दूसरी भेजी होगी। यह तो कल भाई को याद आया। थोड़े हैं ये ले जाए, वहाँ दे। (एक भाई की) ओर से प्रकाशित हुए हैं न? चार पृष्ठ नहीं इतने? तुम ले जाना। उस समय याद आये थे कि भाई आवे तो दे देना। सबको ज्यादा देना, ऐसा विकल्प नहीं। वहाँ नहीं होंगे, इसलिए ले जाना। सब बहिन के शब्द हैं। आहा...हा...! क्या कहते हैं? बापू! बहुत थोड़ी बात परन्तु बहुत ऊँची बात है।

प्रभु! आत्मा ज्ञायकस्वरूप है न! वह तो जाननेवाला स्वभाव है। उसका तो, ज्ञाता-दृष्टा जिसका स्वभाव है और पर्याय में जब ज्ञाता-दृष्टा का भान होता है, तब पर्याय में ज्ञाता-दृष्टा रहता है। आहा...! उस ज्ञाता-दृष्टा में जो रागादि की क्रियादि

बाहर में दिखायी दे, तथापि उस ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान परिणमता है, ज्ञान से चंचल होकर राग में आता नहीं। आहा..हा...! ज्ञान की अस्तित्व-सत्ता जो हे, उसके स्वरूप का ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान अपनी सत्ता को—जानने की सत्ता को छोड़कर ज्ञेय की सत्ता में नहीं जाता, परन्तु ज्ञेय की सत्ता है, उसके ज्ञान की पर्यायरूप होता है—ऐसी उसकी सत्ता है। आहा...हा...! भाई! यह करने का तुम कहते थे न? भाई कहते थे। यह करना है, बापू! आहा...हा...! दुनिया की **पड** छोड़। आहा...! (भाई) वहाँ जा आये। मैंने कहा था-भाई! वहाँ जाओ। आहा...हा...! अरे! ऐसे में विवाद और विरोध क्या? बापू! अरे रे!

प्रभु! तू जाननेवाला है न! जो कुछ स्थिति हो, उस ज्ञेयाकार से ज्ञान होना, वह तेरा स्वभाव है न, प्रभु! आहा...हा...! वह यहाँ सर्वगत में डाला है। सर्व—जगत के रागादि से लेकर सब। है तो पूर्ण की बात, परन्तु यहाँ तो पहले से तेरा धर्म ऐसा है (कहते हैं)। आहा...हा...! पर्याय में ऐसा सर्वगत धर्म है। आहा...हा...! सब जितने ज्ञेय हैं, उनमें एक अंश भी एक राग और पर मेरे हैं—ऐसा ज्ञाता-दृष्टा में कोई गुण नहीं। आहा...हा...! भगवान! ऐसा न मानना कि हम स्त्री हैं और हम पुरुष है। यह नहीं, प्रभु! तू स्त्री नहीं; तू यह शरीर नहीं, आदमी नहीं, नपुंसक नहीं, तू तिर्यंच नहीं, देव नहीं, मनुष्य नहीं। प्रभु! आहा...हा...!

यहाँ तो सर्वगत (कहते हैं)। क्या कहा है इतने में! आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्य! मूल पाठ में तो बात थी, उसमें से यह नय निकाला। समयसार में जीवत्वशक्ति निकाली है न? जीवत्वशक्ति, वह दूसरी गाथा में (से) निकाली है। **'जीवोचरितदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाण।'** भगवान ज्ञानस्वरूप अपने श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र में स्थिर होता है, वह स्वसमय अर्थात् आत्मा कहा जाता है और जो आत्मा, राग में स्थिर होता है, राग में रुकता है, वह पर आत्मा—अनात्मा कहा जाता है। आहा...हा...! अरे...! ऐसा मार्ग, प्रभु! आहा...हा...! ऐसा हाथ आया—सुनने को मिला और यह कहीं रुक जाए।

**आत्मद्रव्य सर्वगतनय से, खुली हुई आँख की भाँति,...** आँख खुली है, उसमें सब ज्ञात होता है। **सर्ववर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला) है।** ऐसा ज्ञान खुला है, पर्याय में विकास हुआ है। आहा...हा...! क्या शैली! ऐसी बात! दिगम्बर सन्तों ने सत्य का ढ़िंढोरा पीटकर डंका मारा है! दुनिया को बैठे न बैठे वह जाने।

आहा...हा... ! प्रभु ! तू तो ऐसा है न ! आहा ! राग की क्रिया जो है, उसमें रुकना वह तेरा स्वरूप नहीं तो शरीर मेरा और यह मेरा और यह मानना तेरी चीज़ ही नहीं। तेरी चीज़ तो रागादि से लेकर जितने ज्ञेय हैं, उन सबको तुझमें रहकर ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान परिणमित हो, वह तेरा स्वरूप है। आहा...हा... ! अरे ! धन्धे के कारण निर्णय करने की निवृत्ति नहीं मिलती। अरे ! जिन्दगी जाती है ! किसके लिये पूरे दिन होली ! इस स्त्री के लिये और पुत्र के लिये और धन्धे के लिये, यह करो और यह करो। अरे रे ! प्रभु ! तू ज्ञान और वे तो ज्ञेय हैं न ! उस ज्ञेय का ज्ञान होने की तेरी योग्यता है परन्तु उस ज्ञेय का कुछ करूँ, वह तेरी योग्यता नहीं। उस ज्ञेय को मेरा मानना, वह तेरा धर्म नहीं, तथा ज्ञेय का कुछ करूँ—ऐसा तेरा धर्म नहीं। आहा...हा... !

तब (कैसा स्वरूप है) कि ज्ञान के अतिरिक्त, तेरी चीज़ के अतिरिक्त जितने ज्ञेय हैं, अरे ! तीन लोक के नाथ, देव, गुरु और शास्त्र भी ज्ञेय हैं, वह ज्ञान में ज्ञेयाकार से परिणमन होना, वह तेरा स्वरूप है। वे देव मेरे, गुरु मेरे और यह कोई स्वरूप में नहीं। आहा...हा... ! ऐसा स्वभाव। अरे ! सुनना कठिन पड़ता है, प्रभु ! तेरा स्वरूप ही ऐसा है न ! आहा...हा... ! सर्वगत में तो गजब बात की है ! वे पाँच बोल उस दिन लिखे थे। भाई ने लिखे थे। आहा...हा... ! इतना सब पढ़ने जायें तो (लम्बा हो जाय)। उसमें सार इतना यह है। आँख खुली हो तो वह देखती है या करती है कुछ ? इसी तरह भगवान ज्ञान की पर्याय खुली प्रगट हुई है-ऐसी बात की है, भाई ! आहा...हा... !

एक भगवान ज्ञान चैतन्यदल, चैतन्य के प्रकाश का नूर का तेज का पूर ! आहा...हा... ! ऐसा जिसे ज्ञान में ज्ञात हुआ, श्रद्धा में-प्रतीति में आया कि इतनी चीज़ है। ज्ञान में चीज़ नहीं आयी परन्तु ज्ञान की पर्याय में वह कितना है, वह आया। उस ज्ञान की पर्याय में... आहा...हा... ! जिस-जिस समय में जिस प्रकार के रागादि परज्ञेय हों और स्वज्ञेय है, वह जानता हुआ, स्व-पर को जानता हुआ स्व-पर प्रकाशकरूप परिणमित होना, वह इसके स्वरूप का अस्तित्व है। आहा.. ! पर्याय के स्वरूप का यह अस्तित्व है। भाई ! जरा सूक्ष्म बात है, भाई ! आहा...हा... ! गहन विषय है, बापू ! प्रभु ! तू गहन है, भाई ! आहा !

शास्त्र में तो ऐसा कहा, सब (आत्म) द्रव्य परमात्मा है। इसलिए वे तेरे

साधर्मी हैं। बहिन में (बहिनश्री के वचनामृत में) एक (बोल) आता है न? हम तो सबको चैतन्यस्वभावी देखेते हैं। वह यह बात सिद्धान्त है। अपनी दृष्टि जहाँ चैतन्यस्वभाव को देखने में पड़ी, निकली, परिपूर्ण भगवान है, ऐसा देखा तो दूसरे को भी ऐसा देखता है कि वह परिपूर्ण भगवान है। पर्याय में भले (भूल) है, उसका ज्ञान करे, परन्तु आदर यह करे। आहा...हा...! ऐसी चीज़ है। अरे! भगवान के अन्तर के अभिप्रायों का जो हृदय है, वह यह है। प्रभु! तेरा हृदय ज्ञानस्वरूप से है। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **खुली हुई आँख की भाँति,....** खुली हुई आँख की भाँति। मानों आँख ऐसे सर्वत्र वर्तती हो। यह आता है न? पहले आ गया है। चक्षु, पहले गाथा में आ गया है। आहा! चक्षु ऐसे सबको देखती है, वह चक्षु वहाँ जाती नहीं तथा जिसे देखती है, वह यहाँ आता नहीं परन्तु उस सम्बन्धी का ज्ञान, आँख करती है। ऐसे अग्नि को देखती है, अपनी पर्याय है, उसे देखती है। आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म है, बापू! यह तो आठ वर्ष के लड़के भी केवलज्ञान पाते! आहा...हा...! परिपूर्ण भगवान पड़ा है। आहा...हा...!

यह जैसे मोरबी में बड़ा तालाब फटा और कीचड़ हो गया, वैसे भगवान इतना परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव से भरपूर है कि जिसका प्रवाह एकाग्र होने पर जो प्रस्फुटित हो, राग और विकार और पर का तो नाश कर डाले! आहा...हा...! समझ में आया? भाई! ऐसी बातें वहाँ नैरोबी में नहीं है (एक भाई) लिखते हैं, यह चिट्ठी दो और यह दो। साढ़े बारह वहाँ से निकलना, परन्तु वहाँ रात कब पड़ती होगी? ऐसा उसने लिखा है। अब हो वह ठीक, शरीर अभी तो साधारण है। आहा...हा...! शरीर साधारण है, हों! आहा...हा...!

भगवान! तू परमात्मा है न प्रभु! आहा...हा...! ऐसे ज्ञान की खिली हुई, प्रगट हुई जानने की ताकत। खिली हुई यहाँ कहा न? आँख खुली हुई है। ऐसे बन्द है ऐसा नहीं। **खुली हुई आँख की भाँति,....** प्रभु! तूने बहुत गजब किया! आहा...हा...! क्या सन्तों ने, दिगम्बर सन्तों की कोई बलिहारी है! केवली के पथानुगामी! एक-दो भव में केवल (ज्ञान) लेनेवाले। आहा...हा...! उनकी पुकार है, प्रभु! तू भी केवल (ज्ञान) लेने की ताकतवाला है न! अरे! केवलज्ञान तो तेरे

स्वरूप में पड़ा है। आहा...हा...! ऐसी खुली आँख की भाँति सबको जाननेवाला है। व्यापनेवाला अर्थात् जाननेवाला। ऐसे भगवान आत्मा सर्वगतनय से सबको जाननेवाला कहने में आता है। ऐसे सबको जानता है, इस अपेक्षा से।

अब **आत्मद्रव्य असर्वगतनय से, मींची हुई ( बन्द ) आँख की भाँति,....** ऐसे इसे जानते हुए जो व्यापक कहा था (वैसे यहाँ) मींची हुई (बन्द) आँख की (भाँति) अन्दर में वर्तता है। मूल तो ऐसा ही है। आहा...हा...! दोनों धर्म-इसकी योग्यता है। ऐसे खुला हुआ, खुली आँख की तरह जानता है। आहा...हा...! वाणी, शरीर, राग को खुली आँख से स्वयं ज्ञान के प्रकाश से उन्हें जानता है, इस अपेक्षा से सर्वगत कहा परन्तु दूसरी अपेक्षा से... आहा...हा...! वह तो अपने में रहा है, कहीं बाहर में नहीं गया। वस्तुतः बाहर को जानता नहीं। आहा! है?

**( बन्द ) आँख की भाँति, आत्मदर्शी ( अपने में रहनेवाला ) है।** उसमें गया है ऐसा नहीं परन्तु उसमें व्यापक है—ऐसा व्यवहार से कहा। यह तो अन्दर में भगवान आत्मा... आहा...हा...! अरे! गरीब व्यक्ति को भी यह... गरीब आत्मा नहीं, बापू! तू गरीब किसका? धनवान किसका? गरीब और धनवन्त तो सब उपाधि के भाव हैं। आहा...हा...! मनुष्य शरीर नहीं, मनुष्य की योग्यतावाला मनुष्य भी तू नहीं। आहा...हा...! पर्याय में इसकी गति, अशुद्धता है परन्तु वस्तु में वह नहीं। ऐसा जो भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, वह असर्वगतनय से अपने में ही सब जानने का वर्तता है। स्व का और पर का जानने का अन्दर में वर्तता है। समझ में आया? अरे... अरे...! यह तो यह करो और यह करो, व्रत करो और अपवास करो... अरे! करे कौन? प्रभु! सुन तो सही।

जिसने ज्ञायकस्वभाव जाना, वह राग को करो वहाँ तो मृत्यु हो जाती है। जाननेवाले का अनादर हो जाता है। आहा...हा...! जाननेवाले का आदर तब होता है कि राग का भी कर्ता नहीं, शरीरादि पर की क्रिया हो, उसका वह कर्ता नहीं, तब उसे ज्ञानस्वभाव का आदर हुआ, वह ज्ञान अन्दर में रहता है। यह पर्याय की बात है, हों! आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा कहने का प्रयोजन क्या? प्रयोजन यह कि तेरा ज्ञान तुझमें वर्तता है। पर को जानता होने पर भी वर्तता है तुझमें, वह कहीं पर में व्यापक नहीं है। वह तो ऐसे देखे, इसलिए उसकी अपेक्षा से ऐसा कहा कि

उसे जानता है परन्तु वास्तव में तो अन्दर को देखता (है और) अन्दर में वर्तता है। आहा...हा...! वह **असर्वगतनय से, मींची हुई (बन्द) आँख की भाँति,....** (पूरा हुआ)।

**आत्मद्रव्य शून्यनय से,...** आहा...हा...! **शून्य (खाली) घर की भाँति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है।** पर से मिला हुआ जरा भी नहीं। पर से शून्य है। भगवान आत्मा रागादि, शरीरादि जो सब पर, उनसे वह शून्य है, उनसे वह रहित है। आहा...हा...! यहाँ तो क्षण और पल मैं करता हूँ, मैं मानता हूँ, मेरा यह है और मुझे ऐसा जानना हुआ। अरे... भाई! यह मेरे हैं, मैं पैसेवाला हुआ, बाहुबल से एकत्रित किये, पिता के पास कुछ नहीं था। (इन भाई को) कहाँ था पहले? तीस रुपये का वेतन था फिर बाद में बढ़े। आहा...हा...! ये भी बेचारे बहुत प्रेम से यह कहते और फिर, तीस रुपये के वेतनवाला था, अब भले यह सब हुआ परन्तु यह हुआ न वेतन, यह सब कहाँ आत्मा की चीज़ है? यह तो संयोग की बात है। आहा!

कहते हैं कि तेरा ज्ञानस्वरूप प्रभु, पर को जानते, पर में जाता नहीं, वह अन्दर रहता है। आत्मवर्ती कहा न? वह शून्य है, पर से तो खाली है। **एकाकी (अमिलित) भासित होता है।** पर से नहीं मिला हुआ - ऐसा तेरा स्वरूप है, ऐसा भासित होता है। राग से नहीं मिश्रित, शरीर से नहीं मिश्रित, शरीर और राग में एकरूप नहीं हुआ। आहा...हा...! राग—दया, दान, व्रतादि के परिणाम हैं, उनसे यह भगवान शून्य है। आहा! खाली है। है? **आत्मद्रव्य शून्यनय से, शून्य (खाली) घर की भाँति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है।** अकेला भासित होता है। पर शामिल है—ऐसा नहीं, अकेला आत्मा। पर से खाली। भले पर सम्बन्धी का ज्ञान है, वह अपना ज्ञान है, वह कहीं पर के कारण ज्ञान नहीं है। आहा...हा...! इसलिए पर से शून्य भासित होता है—ऐसा भी इसका एक धर्म है। धर्म अर्थात् धार रखा हुआ भाव है। धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान वह नहीं। आहा...हा...! **एकाकी (अमिलित) भासित होता है।** अब सामने (दूसरा नय लेते हैं)।

पहले ऐसा कहा था न? शिष्य का प्रश्न यह था न कि प्रभु! आत्मा कौन है? और कितना है? तथा किस प्रकार प्राप्त होता है? यह प्रश्न था। पहला यह प्रश्न था। इस देह में प्रभु आत्मा है, वह कितना है? कौन है? कितनी ताकतवाला है? उस

आत्मा को प्रभु! हम जानना चाहते हैं। आहा...हा...! यह शरीर कौन है? और छह द्रव्य कौन है? ऐसा प्रश्न नहीं पूछा। सीधा यही उठाया, आत्मा कितना है? प्रभु! और किस प्रकार उसकी प्राप्ति होती है? ऐसा प्रश्न है। आहा...हा...! ऐसी जिसे प्रश्न की अन्तर से जिज्ञासा उठी है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। सुनने के लिए सुनने (आया है) और बैगाररूप से आया हो और अपने को सुनना चाहिए (ऐसा मानकर आया हो, उत्तर नहीं देते।) आहा...हा...! प्रभु तू कौन है? कितना है? तब कहते हैं कि प्रभु! तू अनन्त धर्म का धारक इतना है। ज्ञानदर्शन आदि इन सब धर्मों का अधिष्ठाता-इनका स्वामी है, इतना तू है। यह तो सैंतालीस नय हैं, परन्तु जो अनन्त नय हैं, ऐसे अनन्त धर्मों का अधिष्ठान स्वामी है। अधिष्ठान (अर्थात्) तू उनका स्वामी है। ईश्वर अधिष्ठान है नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? यह कहा था न श्रीमद् का? श्रीमद् का एक लेख है न? कि महान आत्माओं ने अधिष्ठान कहा है, वह सत्य है परन्तु वह अधिष्ठान हरि भगवान है। उस अधिष्ठान को हम अन्दर में देखते हैं। आहा...हा...! ऐसा कहा, इसलिए हरि भगवान कोई दूसरा होगा? राग और अज्ञान को हरे, वह हरि - ऐसा जो भगवान आत्मा। पंचाध्यायी में लिया है (कि) अज्ञान और राग को हरे, वह हरि आत्मा। आहा...हा...! 'हरतां फिरतां प्रगट हरि देखूँ' यह हरि, हों! 'मारूं जीवहूं रे तब सफल लेखूं रे मुक्तानंदनो नाथ विहारी, ए ओघा जीवन दोरी हमारी।' हमारा ज्ञान और दर्शनरूप होना, रहना वह हमारी जीवन डोरी है। आहा...हा...! यहाँ तो पूरे दिन यह किया, यह किया और यह किया... आहा...! अरे रे! प्रभु! क्या किया तूने? कहाँ गया तू? भटकने में।

यहाँ तो कहते हैं शून्यनय से पर से तो बिल्कुल शून्य है। आहा...हा...! वही **अशून्यनय से,...** वापस उसी जीव में, **लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति,...** जैसे जहाज में लोग भरे हों, वैसे लोकालोक का ज्ञान भरा है। जैसे जहाज भरा हो, मनुष्य भरे हों, वैसे इस ज्ञानस्वरूप में लोकालोक भरा है, ज्ञान। आहा...हा...! समझ में आया? स्त्री, पुत्र, लड़का, लक्ष्मी-मकान का यहाँ ज्ञान हुआ है, उस ज्ञान से भरा है। उससे (उन चीज़ों से) खाली है। ऐसा आत्मा, इतना आत्मा है - ऐसा कहते हैं। इससे कम, अधिक और विपरीत मानेगा तो मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! वे लड़के गये? आहा...हा...!

क्या कहा इसमें? कि **अशून्यनय से, लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति,...** आहा...हा...! जहाज में खचाखच लोग भरे हों, वैसे भगवान ज्ञान में लोकालोक भरा है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात पड़े, भाई! आहा...हा...! एक तो अरूपी, शरीरप्रमाण, अनन्त धर्म का धारक, जिसमें लोकालोक भरा है, ज्ञानरूप से, हों! (ऐसे) ज्ञान से भरपूर है, लोकालोक के ज्ञान से भरपूर है, लोकालोक से नहीं; लोकालोक से शून्य है। आहा...हा...! ज्ञान उस लोकालोक को स्पर्श भी नहीं करता, तथापि उसके ज्ञानस्वभाव में लोकालोक जिस प्रकार से है, उस प्रकार से ज्ञान भरा हुआ अपना स्वरूप है। उसमें वह वर्तता है। आहा...हा...!

अरे रे! अनन्त काल से चौरासी के अवतार में भटकता है, भाई! नरक और निगोद में (जाता है)। अभी बड़ा राजा हो... आहा...हा..! मरकर नरक में जाये। माँस, शराब, खाता (पीता) हो तो नरक में जाये। न खाता हो तो पशु में जाये। आहा...! तिर्यंच, बहुत से तो तिर्यंच-पशु में (जाते हैं)। क्योंकि धर्म नहीं, धर्म नहीं परन्तु पुण्य भी नहीं कि चार-चार घण्टे, वाँचन, सत्समागम-सच्चा समागम (भी नहीं)। वाँचन (में) खोटे शास्त्र पढ़े और खोटा समागम करे, वह तो पाप अकेला पाप बाँधेगा। आहा...! तीन-तीन, चार-चार घण्टे हमेशा सत्समागम चाहिए, यह वाँचन चाहिए, भगवान के शास्त्र, हों!

इसे जानकर भी जाना है अन्तर द्रव्यस्वभाव में। चैतन्यमूर्ति पूर्णानन्द का नाथ (है), वहाँ जाना है। आहा...हा...! इस एक-एक धर्म को जानकर, इसकी पर्याय में ऐसा धर्म है, तथापि वह-वह जानकर, वहाँ रुकना नहीं है। आहा...हा...! उससे हटकर ज्ञायकस्वरूपी प्रभु पड़ा है, उसके चैतन्य के प्रकाश को निहारना है। आहा...! उसे देखने जाना है, यह देखने में रुकना नहीं है - ऐसी बातें अब। इसमें करना क्या? यह करना नहीं? स्वयं ज्ञानस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ, उसमें सन्मुख होकर उसका अनुभव करना, प्रतीति करना, यह करना नहीं है?

**मुमुक्षु :** नय ज्ञान वह ज्ञान नहीं?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह कहते हैं। एक-एक नय क्या? तुमने बातें की परन्तु हमें करना क्या?

भाई! इतने धर्म हैं—ऐसा जानकर, लक्ष्य में लेकर अन्तर द्रव्यस्वभावसन्मुख

जाना, वहाँ सन्मुख होना है, पर्याय के सन्मुख रहना नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? सन्मुख-सत्साहेब प्रभु! उसके सन्मुख; सत् कितना है, उसे देखने जाना है। उसे जानने पर इसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है। आहा...हा...! ऐसी नहीं सुनी हुई बातें एक घण्टे में तो कुछ नयी-नयी (बात आती है), परन्तु बापू! मार्ग यह है, भाई! आहा! तेरे बन्धन के छेद का और मोक्ष का उपाय तो यह है। आहा! यह तेईस (नय) हुआ। (अब) २४।

**आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से (ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से), महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति, एक है।** आहा...हा...! **आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय...** दोनों को जाननेवाला जो स्वभाव अद्वैत है। अद्वैत... बड़ा ईंधनसमूह-बड़े लकड़ियों के ढ़ेर जैसे अग्नि से परिणमित होते हैं, तब अग्नि से एक हैं। बड़ी लाख लकड़ियाँ हों और अग्नि सुलगे तो अग्नि तो एक ही है; इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान और ज्ञेय अद्वैतनय से **महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति, एक है।** आत्मा ज्ञेय और ज्ञान को जाने, तथापि वे दो नहीं, एक है। आहा...हा...! ज्ञेय और ज्ञानस्वरूप भगवान दो को जानने पर वे दो नहीं, अद्वैत एक है। दो को जाने, इसलिए दो हैं-ऐसा नहीं। आहा...हा...! ऐसा है।

**आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से...** अद्वैत अर्थात् यह सब होकर अद्वैत, वह यह नहीं, हों! वेदान्त अद्वैत कहते हैं, वह यह नहीं। यह तो ज्ञान और ज्ञेय का एकरूप, वह एक ज्ञान है-ऐसा। वे कहते हैं कि तुम्हारे में अद्वैत आया या नहीं? परन्तु अद्वैत का अर्थ क्या? आहा...हा...! अद्वैत का अर्थ कि जो ज्ञान है, वह ज्ञेय जितना है, उसरूप हुआ है, वह एकरूप रहा है। ज्ञेय को जानते हुए दो रूप हुआ है-ऐसा नहीं। आहा...हा...! क्या कहा यह? फिर सामने वापस द्वैत आयेगा, हों!

परस्पर नयों का समूह पूरा, उसका विषय पूरा आत्मा है। एक-एक धर्म को जानने पर भी अन्दर जाना है और समस्त नयों को जाननेवाला है प्रमाण - श्रुतप्रमाण, वह श्रुतप्रमाण भी अन्दर द्रव्य को देखने जाना है। आहा...हा...! अरे...! सम्प्रदाय में तो पर्यूषण हो तो लगे अपवास करने, यह करो, छठ करो, रात्रि-आहार छोड़ो, निराहार करो। अरे... रे! अधर्म की-मिथ्यात्व की (बातें) की सब, यह करो और वह करो और वह करो। यहाँ तो कहते हैं जो तू करने का कहता है, उस चीज़ को

और अपने को दो का होकर जो ज्ञान होता है वह एकरूप है, अद्वैत है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा भी तेरा एक योग्यता का धर्म है। धर्म अर्थात् द्रव्य ने धार रखा हुआ भाव है। आहा...हा...!

ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतनय से वे एक ही अद्वैत है। **महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि...** बड़े ढ़ेर लाख मण के लकड़ी के हों परन्तु अग्नि तो एकरूप है। लाख मण के (लकड़ी में) अग्नि परिणमित हुई तो अग्नि अनेक हो गयी है? अग्नि-अग्निरूप रही है, एकरूप है। इसी प्रकार लोकालोक को-ज्ञेय को जानने पर भी ज्ञान तो एकरूप अपनी पर्याय में रहा है। आहा...! ऐसी बातें अब। बड़ा ईंधन, बड़ा ईंधन, हों! साधारण नहीं; लाखों मण-करोड़ों मण लकड़ियाँ हों परन्तु अग्नि परिणमित होती है, तब एकरूप अग्नि तो अग्नि... अग्नि.... अग्नि है। लकड़ी के आकाररूप हुई है, वह अग्नि हुई है। वहाँ कहीं लकड़ी का आकार नहीं है। अग्नि एकरूप... है। वैसे ज्ञेय लोकालोक को तथा ज्ञान अपने को जानने पर एकरूप रहता है। आहा...हा...! ऐसा भी इसका एक धर्म है। परन्तु उस धर्म का लक्ष्य करके वस्तु का स्वभाव चैतन्यज्ञायक है, उसमें जाना और ढलना है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## श्रमण अर्थात् साक्षात् मोक्षतत्त्व

जो श्रमण, त्रिलोक के मुकुटमणि के समान निर्मल विवेकरूपी दीपक के प्रकाश द्वारा, यथास्थित पदार्थ के निश्चय द्वारा, उत्सुकता को छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो गये हैं, आनन्द की धारा में मस्त हो गये हैं, उपशमरस के साँचे में ढल गये हैं और उसमें से बाहर आने में निरुद्यमी हो गये हैं; वन में बाघ, सिंह और भेड़िये चिंघाड़ते हो, तथापि निर्भय होकर स्वरूप के शान्तरस का, अतीन्द्रिय आनन्द का पान करते हैं, चूसते हैं, एक स्वरूप में ही अभिमुख होकर वर्तते हैं, उन श्रमण को साक्षात् मोक्षतत्व कहते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, ४८४, पृष्ठ ११५*

## नय-२५ से २७

**ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसम्पृक्तदर्पणवदनेकम् २५। नियतिनयेन नियमितौष्ण्यव-ह्निवन्नियतस्वभावभासि २६। अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि २७।**

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से, पर के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण की भाँति, अनेक है (अर्थात् आत्मा ज्ञान और ज्ञेय के द्वैतरूपनय से अनेक है, जैसे पर-प्रतिबिम्बों के संगवाला दर्पण अनेकरूप है।) २५.

आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्नि की भाँति। [आत्मा नियतिनय से नियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे अग्नि के उष्णता का नियम होने से अग्नि नियतस्वभाववाली भासित होती है।] २६.

आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसके उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है ऐसे पानी की भाँति। [आत्मा अनियतिनय से अनियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे पानी के (अग्नि के निमित्त से होनेवाली) उष्णता अनियत-होने से पानी अनियतस्वभाववाला भासित होता है।] २७.

**प्रवचन नं. २६४, नय २५ से २७**

**भाद्र कृष्ण १, शुक्रवार, ०७ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, २५ वाँ बोल है, चौबीस नय हो गये हैं। पहले प्रश्नकार का ऐसा प्रश्न है कि प्रभु! यह आत्मा कितना है? कौन है, इसका अर्थ कितना है और किस प्रकार से-पद्धति से वह प्राप्त हो सकता है? ऐसा जिसे प्रश्न अन्तर से उठा है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। दूसरा कोई प्रश्न (नहीं किया है)। धर्म शब्द से यहाँ सम्यग्दर्शन, ऐसा नहीं। धर्म शब्द से (आशय) इसकी योग्यता। विकारी पर्याय की

योग्यता, अविकारी पर्याय की योग्यता इत्यादि-इत्यादि। सामान्य की योग्यता, विशेष की योग्यता। ऐसे जो अनन्त धर्म हैं, उसमें विकारी पर्याय भी इसका एक धर्म है। आहा...हा...! ज्ञानप्रधान कथन है न? विकारी पर्याय भी इसका एक धर्म अर्थात् धार रखा हुआ भाव है। वह कर्म के कारण नहीं। इस आत्मा ने विकारी पर्याय और अविकारी पर्याय, सामान्यस्वभाव और विशेषस्वभाव, यह धार रखा हुआ तत्त्व है।

यह विश्व और विश्व को कहनेवाला शब्दब्रह्म। विश्व सारा लोकालोक और शब्दब्रह्म (अर्थात्) जिस शब्द से सारा तत्त्व (आ जाये)। जैसे जगत् कहने से पूरी दुनिया आ जाती है। इसी प्रकार सत् कहने से पूरा लोकालोक आता है। यह सत् शब्दब्रह्म और विश्व-ब्रह्म-लोकालोक। इन दोनों का जिसे ज्ञान में एक समय में ज्ञेयाकाररूप से परिणमन हो, वह इतना है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं! समझ में आया इसमें? आहा...हा...! कितना है? कि इतना है। सामान्य द्रव्य होने पर भी... सामान्य अर्थात् सामान्य ध्रुव-ऐसा नहीं। पहले 'सामान्य' शब्द है। सामान्य अर्थात् ध्रुव नहीं। यह सामान्य अर्थात् पर से भिन्न और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से व्याप्त है, उसे यहाँ सामान्य कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा यह भगवान आत्मा है, उसके नय के विचार कहते हैं।

अपने यहाँ चौबीस नय तो आ गये हैं। **आत्मद्रव्य...** भगवान आत्मद्रव्य **ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से,....** ज्ञानस्वरूप से है और ज्ञेय का भी उसमें ज्ञान (होता है ऐसा) द्वैत हो गया। आत्मा का ज्ञान और ज्ञेय का ज्ञान, इस अपेक्षा से उसे (द्वैत कहने में आता है)। समझ में आया? ज्ञान-ज्ञेय द्वैत हुआ। पहले अद्वैत कहा अर्थात् एक। लाखों मण का ईंधन / लकड़ियाँ हों परन्तु अग्नि सबको जलाकर अग्नि एकरूप है। वैसे ही भगवान आत्मा लोकालोक को एकसाथ जाननेवाला होने से उस ज्ञानरूप से एक है। आहा...हा...! ऐसे एकपने का ज्ञान करके भी (अन्तर में जाना है)। एक यह तो एक धर्म है। एक अर्थात् वह सामान्य एक त्रिकाली है, वह नहीं। आहा...हा...! एक भी एक धर्म है। एक है-ऐसा लक्ष्य में, ज्ञान में लेकर चैतन्य भगवान अन्दर पूर्ण है, वहाँ नजर कर। आहा...हा...!

चैतन्य परमात्मा, चैतन्य प्रकाश का पुंज प्रभु ऐसा भगवान आत्मा (है), वहाँ नजर कर। तुझे आनन्द का लाभ मिलेगा, तुझे शान्ति मिलेगी। आहा...हा...!

समझ में आया ? उपाय तो फिर कहेंगे परन्तु फिर भी इसमें वस्तु कहने में भी उसका फल आ जाता है। आहा...हा... !

**द्वैतनय से,....** पहले अद्वैत कहा था। लाखों मण की लकड़ियों को अग्नि जलावे तो अग्नि एकरूप है। वैसे भगवान आत्मा ज्ञान और ज्ञेय को एक समय में जानता हुआ (एक है), स्व को और पर को (जानता हुआ) ऐसा ज्ञेयाकाररूप ज्ञान, उन सबको जाननेरूप एक है, वह अद्वैत है। यह अद्वैत अर्थात् सर्वव्यापक है - ऐसा अद्वैत नहीं। वेदान्त जो अद्वैत कहता है, वह अद्वैत नहीं। यह अद्वैत तो, आया है न ? **महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति,....** सब लाखों मण लकड़ियाँरूप अग्नि परिणमे तो अग्नि एकरूप है, इस अपेक्षा से अद्वैत और एक है परन्तु उसका एक का भी लक्ष्य करके अन्तर में स्वभाव जो पूर्ण है, उस पर नजर कर। ऐसी बात है, भाई ! पर्याय में ऐसी एक योग्यता है, तथापि उस पर्याय के पीछे पाताल में, पाताल में प्रभु विराजमान हैं। आहा...हा... ! इस पाताल का तो अन्त है। भले बड़ा महासागर कहे, अमुक कहे तो भी नरक के पासड़ा तक वहाँ पानी है, उसका वहाँ अन्त है। भगवान आत्मा यह एक द्वैत या अद्वैतनय का लक्ष्य करके, उस पर्याय में लक्ष्य करके... आहा...हा... ! पाताल भगवान पर्याय के पीछे ध्रुव पाताल पड़ा है, (वहाँ नजर करनी है)। सूक्ष्म बात है, भाई ! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है। आहा...हा... ! उसे देख।

**( जैसे पर-प्रतिबिम्बों के संगवाला दर्पण अनेकरूप है। )** अग्नि का दृष्टान्त दिया (था उसमें) लाखों मण लकड़ियों को जलाती अग्नि एकरूप है, वह अद्वैत है। उसका लक्ष्य करके भी चैतन्य प्रकाश का पूर है, वहाँ नजर कर; और यह अनेक है, दर्पण में जैसे प्रतिबिम्बों की अनेकता दिखती है, है तो वह का वह; इसी तरह आत्मा अनेक है। **पर के प्रतिबिम्बों से संपृक्त...** (अर्थात्) सम्बन्धवाला। **दर्पण की भाँति, अनेक है ( अर्थात् आत्मा ज्ञान और ज्ञेय के द्वैतरूपनय से अनेक है,... )** ऐसी बातें हैं। **( जैसे पर-प्रतिबिम्बों के संगवाला दर्पण अनेकरूप है। )** इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप भगवान, चाहे तो परमेश्वर हो... विश्व में तो परमेश्वर आये न ? अनन्त सिद्ध आये, अनन्त केवली आये, तीर्थंकर (आये), ये सब ज्ञेय हैं, स्व ज्ञान है। ये ज्ञान-ज्ञेय के संग से प्रतिबिम्ब पड़े, इस अपेक्षा से उसे अनेक कहने में आता है। परन्तु उस अनेक का भी एक धर्म है। वह अनेक भी एक धर्म

है। एक धार रखा हुआ भाव है। उसका लक्ष्य करके भी... आहा...! चैतन्य भगवान ज्ञान के प्रकाश का पूर है, वहाँ देख। आहा...हा...! समझ में आया?

जहाँ पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा ऐसे तो अनेक धर्मों का धारक होने पर भी, उनका लक्ष्य छोड़कर वहाँ अन्दर जा। उसका अस्तित्व है, उसका लक्ष्य करना। यह तो (समयसार की) १४ वीं गाथा में टीका में आता है कि पर्याय को अभूतार्थ कहा है, परन्तु पर्याय है, उसका लक्ष्य करके, फिर द्रव्य का लक्ष्य कर। नहीं है— ऐसे उड़ाने जायेगा तो पर्याय स्वयं उसका आश्रय करती है। चौदहवीं गाथा में है। पर्याय नहीं, नहीं, नहीं—ऐसा ग्यारहवीं में कहा, वह तो गौण करके 'नहीं है' कहा है, परन्तु है पर्याय, ऐसा लक्ष्य करके, फिर द्रव्य में अबद्धस्पृष्ट में जा। आहा...हा...! इसी प्रकार यहाँ कहते हैं। यही सब शैली यहाँ भी आयी है।

द्वैत—जैसे दर्पण में पर के संग से उसका (प्रतिबिम्ब) दिखता है, दर्पण में द्वैत दिखता है, दर्पण और वह सामने का प्रतिबिम्ब पड़ता है; वैसे भगवान ज्ञानदर्पण में स्व का ज्ञान और पर का ज्ञान (होवे) ऐसा द्वैतपना है। इस अपेक्षा से, हों! ऐसा है। ऐसा होने पर भी... यह तो एक धर्म हुआ परन्तु एक धर्म को नय देखता है तो फिर उसका पूरा स्वरूप देखने के लिये अन्दर जा तो तुझे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होगा। ऐसा है। अरे रे! ऐसी बातें अब सुनना कठिन पड़ती है इसे। मार्ग ऐसा है, प्रभु! आहा...हा...! तू इतना है। कितना है? इतना है। ऐसे अनन्त धर्मों में व्यापक होने पर भी, नय से देख या प्रमाण से देख परन्तु अन्दर में देख। आहा...हा...! अन्तर आत्मा (इतना है) आहा...! यह २५ (नय पूरा) हुआ। (अब) २६!

**आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्नि की भाँति।** नियतिनय से अर्थात् निश्चय हो, वह हो—ऐसा यहाँ (नहीं कहना है) नियतिनय से अर्थात् इसका जो स्वभाव है; जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण है, वह नियत है। इसी प्रकार भगवान का स्वभाव ज्ञान-दर्शन आनन्द है, वह नियत ही है। समझ में आया? वरना नियत और अनियत का अर्थ कितने ही विपरीत करते हैं।

पंचास्तिकाय संग्रह की १५५ वीं गाथा है। चर्चा हो गयी है। १५५ गाथा में 'नियत', 'अनियत' शब्द प्रयोग किया है। इसका अर्थ वे लोग ऐसा करते हैं कि नियत अर्थात् निश्चय से क्रमबद्ध और अनियत अर्थात् क्रमबद्ध। पंचास्तिकाय!

ऐसा वहाँ है ही नहीं। वहाँ नियत अर्थात् स्वभाव भाव और अनियत अर्थात् विकार-विभाव भाव। १५५ (गाथा) है। समझ में आया? है यहाँ पंचास्तिकाय? १५५, **जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओ** नियत और अनियत। नियत अर्थात् स्वभावभाव; अनियत अर्थात् विभावभाव। इसका अर्थ वापस ऐसा करते हैं, नियत-अनियत। निश्चय से क्रमबद्ध है और अक्रम-अनियत भी है। अक्रम भी है—ऐसा (अर्थ) नहीं है, भाई! तुझे (पता नहीं)। यहाँ तो नियत-अनियत के अर्थ में ही यह कहा है। 'परद्रव्य में उपयोग होने पर परद्रव्य के गुण-पर्याय में रत है, अपने गुण-पर्याय से निश्चल नहीं, यह परचारित्र का आचरणवाला अनियत है।'

आत्मा में स्वभावरूप से है, वह नियत है और विकाररूप से होना, वह अनियत है। बात ऐसी होती है। ओहो...हो...! यह नियत, अनियत अर्थात् निश्चय से क्रमबद्ध है और अनियत से अक्रमबद्ध है-ऐसा नहीं। कितने ही पण्डित इसका ऐसा अर्थ करते हैं। वह यहाँ कहा है। क्योंकि सबकी टीका करनेवाले ये हैं न? इसकी पंचास्तिकाय की टीका अमृतचन्द्राचार्य की है, प्रवचनसार की इनकी, समयसार की इनकी है। नियत-अनियत का अर्थ ही वहाँ यह है। अपना जैसा नियत स्वभाव है, जैसे अग्नि का उष्ण स्वभाव है; वैसे भगवान का ज्ञान और आनन्दस्वभाव, वह नियत है। ऐसा भी एक अन्दर धर्म है। एक धर्म, हों! आहा...हा...! है?

**आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है,...** जो इसका निश्चल ज्ञान-आनन्द-शान्तिस्वभाव है, उसरूप भासित होता है। आहा...हा...! **जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्नि की भाँति।** यह नियत स्वभाव कहा। अग्नि का उष्ण नियत स्वभाव है। वैसे भगवान आत्मा का ज्ञान, आनन्द, शान्ति स्वभाव है। इस नियतनय से जैसे अग्नि उष्णमय है; वैसे भगवान ज्ञान और आनन्दमय है। आहा...हा...! परन्तु यह भी नियतनय का लक्ष्य करके भी... आहा...हा...! जहाँ चैतन्य का... अन्तिम है न? पीछे अन्तिम है, देखो! **इस प्रकार स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के निवास के वशीभूत वर्तते...** पीछे ५०२ पृष्ठ पर है। है? **इस प्रकार स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से (जीव) देखें तो भी और प्रमाण से देखें तो भी स्पष्ट अनन्त धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।** आहा...हा...! क्या टीका!! और वह भी अन्त में तो ऐसा कहा है। हम

यह कहते हैं... कल बात की थी। यह हम कहते हैं, वह आज ही कर। पीछे दो शब्द हैं। पीछे दो (शब्द) हैं। एक तो इसमें ही है। आहा...हा...!

५०४ पृष्ठ पर कलश है न? **प्राप्त करके आज (जन) अव्याकुलरूप से नाचो...** आहा...हा...! यह एक; और एक इस ओर है **आत्मा आज ही अत्यन्त अनुभव करो, क्योंकि इस लोक में दूसरा कुछ भी नहीं है....** इसे आज ही अनुभव करो। इस ओर है। वायदा न कर प्रभु! आहा...हा...! देखो न! भाई! आहा...! भगवान आत्मा हम तुझे कहते हैं, अनन्त नय से व्याप्त इतना वह है, तथापि उसका जो सामान्य ध्रुवस्वरूप है, वहाँ तेरी नजर जानी चाहिए। आहा...हा...!

नियत स्वभावभाव है, वह भी एक धर्म है। धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ऐसा नहीं। आत्मा ने धार रखा हुआ धर्म। आत्मा ने उस स्व का ज्ञान और पर के ज्ञान को एक साथ जाननेवाला, उसका अधिष्ठान-स्वामी स्वयं भगवान आत्मा है। आहा...हा...! अधिष्ठान अर्थात् ईश्वर है, वह नहीं। वह, इस बात को सुनकर, प्रभु! (वहाँ जा)-ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! गजब (बात है)। दिगम्बर सन्तों की वाणी (ऐसी है)। आज ही कर। आहा...हा...! प्रभु! किन्तु हमें निवृत्ति नहीं मिलती, समय (नहीं मिलता)। तुम आज ही करने को कहते हो, परन्तु हम इस सब उपाधि में पड़े हैं। सुन न भाई! तेरा स्वरूप उपाधि में-बाहर में गया ही नहीं। पर्याय में भले राग हो, परन्तु बाहर की उपाधि तुझे लगी नहीं है और तूने उपाधि की नहीं है। आहा...हा...!

प्रभु! तू इतना है न! अनन्त-अनन्त धर्म का धारक ऐसा प्रभु तू है न! इतना है न! उसका लक्ष्य करके भी, अन्तर में चैतन्य प्रकाश के नूर को देख। अरे रे! आहा...हा...! यह प्रवचनसार है। प्र (अर्थात्) विशेष वचन, दिव्यध्वनि। दिव्यध्वनि कहो या प्रवचन कहो। आहा...हा...! भगवान त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान बिराजमान हैं, उनकी प्र-वचन अर्थात् दिव्यध्वनि, वह यह प्रवचन है। आहा...हा...!

यह तो स्वयं को करने की बात है, बापू! दूसरों को करा दूँ और समझा दूँ, इस सिरपच्ची में पड़ना मत। क्योंकि अनेक विचारवाले लोग हैं। अनेक श्रद्धावाले लोग हैं।... नियमसार में आता है न? तो एक विचार के बने-ऐसा नहीं होता, प्रभु! तू ऐसा सोचे कि सबको ऐसा कर दूँ, (यह) नहीं बनता। आहा...हा...! तू दूसरे को

तारना चाहे, परन्तु उसके वीतरागभाव बिना वह नहीं तिरता। तू उससे सम्यग्दर्शन की बात करे, परन्तु वह उसकी दृष्टि नहीं बदले, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। ऐसी बातें हैं। आहा...हा...!

शास्त्रज्ञान है, वह भी परज्ञेयनिष्ठ है। परज्ञेय में से (हुआ है); उसमें स्वज्ञान नहीं आया। ऐ ई! ऐसी बातें, बापू! बहुत कठिन काम। धारणा में ग्यारह अंग और नौ पूर्व ले लिये, तथापि आत्मा (लक्ष्य में) नहीं लिया। वह यहाँ कहते हैं।

निश्चयनय से इसका स्वभाव तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द है। वैसा स्वभाव भासित होता है। **( आत्मा नियतिनय से नियतस्वभाववाला भासित होता है,... )** भाई! यह कोई वार्ता नहीं है। यह तो भगवान की दिव्यध्वनि, इन्द्रों और गणधरों की मध्य कहते थे। आहा...हा...! एकावतारी इन्द्र है। शकेन्द्र बत्तीस लाख (विमान का) स्वामी-ऐसा कहा जाता है। स्वामी तो स्वद्रव्य-गुण-पर्याय का ही है वह। निर्मल, हों! यहाँ तो स्व द्रव्य-गुण-पर्याय विकार का भी स्वामी कहा है। आहा...हा...! इसमें है न? दृष्टि की अपेक्षा से लें, तब तो स्वद्रव्य शुद्ध गुण-पर्याय, शुद्ध गुण-पर्याय, उसका यह स्व और उनका यह स्वामी। परन्तु जब ज्ञान से लेते हैं, दृष्टि के साथ में ज्ञान से लें तो यह विकारी पर्याय, अविकारी पर्याय या अविकारी गुण—इन सबका यह स्वामी है। वह विकार पर से नहीं हुआ, पर में नहीं हुआ, पर के कारण नहीं हुआ। आहा...हा...!

एक ओर (समयसार की) ७५-७६ गाथा में ऐसा कहना कि विकार है; कर्म व्यापक है और विकार उसका व्याप्य है। यह तो स्वभावदृष्टि हुई है; उस स्वभावदृष्टि से विकार में व्यापक होकर व्यापे, यह नहीं हो सकता। स्वभावदृष्टि हुई है, वह व्यापे, उसकी निर्मलपर्याय, वह उसका व्याप्य होती है। आहा...हा...! ऐसा बतलाने के लिये (ऐसा कहा कि) यह विकारी पर्याय है, वह तेरा व्याप्य नहीं, वह कर्म का व्याप्य है। भाई! ऐसे निकाल देने को (ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि ... अब आयेगा। यह तो नियत कहा। अब अनियत। २७ है, देखो! आहा...हा...! **आत्मद्रव्य नियतिनय से....** अनियत का अर्थ यह नहीं कि आगे-पीछे अनियत होता है-ऐसा यहाँ नहीं कहना है। समझ में आया? अनियतनय से अर्थात् इसमें स्वभाव नहीं और जो कर्म के निमित्त से स्वयं की

योग्यता से जो विकार होता है, वह अनियतनय से जाननेयोग्य है। आहा...हा...! गजब काम भई ऐसा। भाई! यह समझे बिना अन्दर नहीं जा सकता और गये बिना इसके भव का अन्त नहीं आता, भाई! आहा...हा...!

कहाँ यहाँ करोड़पति मनुष्य हों और मरकर नरक में और पशु में गाय की कूँख से बछड़ा हो। अरे रे! यह सब किसका फल? वस्तुस्वरूप की विपरीतदृष्टि का यह फल है। विपरीतदृष्टि में अनन्त भव करने का गर्भ है। समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि यदि तू ऐसा माने... यह तो काल-अकाल आता है न? कालनय से और अकालनय से। इसका अर्थ कोई ऐसा करते हैं कि काल में भी मोक्ष होता है और अकाल में भी मोक्ष होता है। ये वहाँ (एक भाई) थे, गजपंथा! वे श्वेताम्बर थे, (फिर) अपना पढ़कर साधुपना छोड़ दिया। फिर बातें करते थे। परन्तु मैंने कहा—इन्हें बराबर जँचा है या बातें करते हैं ये? आये। बेचारे आये, पैर लगे। बहुतों को समझाते थे, बहुत भक्त बनाये थे। मुझे (ऐसा हुआ कि) यहाँ आये हैं तो जरा इनका हृदय लेना। मैंने कहा—देखो! भाई! शास्त्र में तो ऐसा भी कहा है—काल में भी मोक्ष कहा है और अकाल में (भी है), दोनों कहे हैं। इसी समय में, जिस समय में हो, उस समय में हो-ऐसा नहीं है, अकाल में भी मोक्ष कहा है-इसका अर्थ क्या? वह समझ गया कि इसमें मुझे कहीं पकड़ेंगे। मैंने विचार किया नहीं (-इतना) कहा। मुझे कहीं पकड़ेंगे। मैंने कहा-इसमें अकाल में भी मोक्ष कहा है। ऐसा ही कहो कि जिस समय में मोक्ष होना है, उसी समय होगा, परन्तु यहाँ तो अकाल में भी मोक्ष कहा है। आहा...हा...! फिर बेचारा समझा कि मुझे कहीं (पकड़ेंगे)। दूसरे (मुमुक्षु) भी थे। है न वे मलकापुरवाले? मैंने यह विचार नहीं किया, कहे। वहाँ अकाल का अर्थ ऐसा नहीं है।

काल में मोक्ष होगा तो उस समय में ही होगा, परन्तु अकाल अर्थात् स्वभाव और पुरुषार्थ उसमें साथ में मिला है, वह अकाल कहलाता है। आहा...हा...! ये नय बहुत अटपटे हैं। ज्ञानप्रधान कथन है न? आहा...हा...! समझ में आया? मोक्ष तो जिस समय होना है, उस समय में ही (होना है), परन्तु अकाल क्यों कहा? क्योंकि जो काल, वह समय का है, उसके साथ में स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्यता, काल की लब्धि—ये सब पाँचों एक समय में होते हैं; इन्हें गिनकर अकाल में कहने में आया

है; परन्तु काल दूसरा है, फेरफार (होता है)-ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसा स्वरूप है।

यह यहाँ कहते हैं, अनियतनय से अर्थात् अक्रम होता है - ऐसा नहीं है। यह तो कहा न, १५५ (गाथा) नियत, अनियत-वह यहाँ डाला है। स्वभाव है, वह नियत है, अग्नि की उष्णता की भाँति; और विभाव है, वह जैसे पानी गर्म है, वह अनियत है, (अर्थात्) कायम रहनेवाला नहीं है। अग्नि उष्ण है, वह कायम रहनेवाली है, यह नियत है। आहा...हा...! आत्मद्रव्य.. यह तो वीतरागमार्ग है, भाई! यह कोई साधारण (बात नहीं है)। आहा...हा...! क्या कहें? ऐसी शैली श्वेताम्बर में है ही नहीं। श्वेताम्बर ने तो कल्पित शास्त्र बनाये हैं। क्या करें? आहा...हा...! और जिसमें जन्में, वह मानकर जिन्दगी व्यतीत करते हैं। बापू! यह तो वीतरागमार्ग है। आहा...हा...! न्यून-अधिक और विपरीत रहित तत्त्व है। कुछ भी विपरीत कहे, कम (या) अधिक (कहे तो) दृष्टि विपरीत है। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं, अनियतनय से अर्थात् क्या? क्रमबद्ध है, वह बदलेगा और अक्रमबद्ध होगा - ऐसा नहीं। यहाँ जो नियत और अनियत डाला है, वह १५५ गाथा की शैली ली है। समझ में आया? आहा...हा...! **आत्मद्रव्य अनियतिनय से...** अनियतिनय से आत्मद्रव्य **अनियतस्वभाव से भासित होता है,...** क्रम और अक्रम अपने पहले आता है न? समयसार की ३८ वीं गाथा में क्रम-अक्रम आता है। वहाँ क्रम-अक्रम की व्याख्या दूसरी है। क्रम-क्रम से होती है (वह) गति एक के बाद एक होती है, यह क्रम है और अक्रम अर्थात् योग, लेश्या, कषाय, ज्ञान एकसाथ है, इसका नाम अक्रम है। अक्रिम अर्थात् आगे-पीछे होता है-ऐसा वहाँ अर्थ नहीं है। ३८ में है। है न, सब खबर है। दूसरी जगह है। आहा...हा...! गति एक के बाद एक है, यह क्रम है और योग, लेश्या, कषाय, ज्ञान, दर्शन एकसाथ में पर्याय है; इस अपेक्षा से एकसाथ में है, वह अक्रम है। अक्रम का अर्थ आगे-पीछे होता है - ऐसा अर्थ वहाँ नहीं है। वैसे यहाँ ऐसा अर्थ नहीं है।

अनियतनय से अर्थात् आगे-पीछे हो। निश्चय से बराबर हो (और) अनियत अर्थात् आगे-पीछे हो—ऐसा अर्थ नहीं है। ऐ ई! आहा...हा...! **अनियतिनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है,...** भाषा है? भगवान आत्मा पर्याय में अनियत स्वभाव से भासित होता है। जिसका स्वभाव नहीं, ऐसा विभावरूप भासित

होता है। आहा...हा..! ऐसा भी इसका एक धर्म है। समझ में आया? आहा...हा...! भगवान त्रिलोकनाथ की कथनी की गम्भीरता, सन्तों ने आड़तिया होकर जगत को बात की है।

अरे रे! जिसे सत्य सुनने को भी नहीं मिले, प्रभु! वह कहाँ जाएगा? क्या होगा? आहा..हा...! कितने ही जीव तो अभी त्रसपना भी प्राप्त नहीं हुए। पूरा लोक अनन्त-अनन्त निगोद के जीवों से भरा है। असंख्य चौबीसी के समय जितने तो निगोद के शरीर हैं और एक शरीर में सिद्ध की संख्या से अनन्तगुने जीव हैं। उसमें एक शरीर के अनन्तवें भाग मोक्ष को प्राप्त होते हैं। जब देखे तब... आहा...हा...! कितने ही जीव तो अभी त्रस नहीं हुए और त्रस लट होवे तो 'छहढाला' में कहा है कि निगोद में से लट होवे तो चिन्तामणि रत्न मिला। ऐई! छहढाला में आता है। 'चिन्तामणि दुर्लभ त्रस'। लट होवे तो भी दुर्लभ चिन्तामणि (मानो प्राप्त हुआ)। प्रभु! तू तो मनुष्य हुआ। मनुष्य (अर्थात्) यह शरीर नहीं, हों! पर्याय में अन्दर उदय की योग्यता। आहा! उसमें भी यहाँ कहते हैं, तुझे सत् सुनने को मिला और तू प्रश्नकार आत्मा का प्रश्नकार हुआ, आहा...हा...! तुझे आत्मा को जानने की चटपटाहट होकर, प्रभु! यहाँ तक तू आया। भाई! आहा...हा...! संसार के भाव पूछे नहीं, छह द्रव्य का पूछा नहीं, भगवान! तू यहाँ तक आया। आहा...हा...! संज्ञी पंचेन्द्रियरूप से तुझे अन्तर में से प्रश्न भी उठा कि यह प्रभु आत्मा कितना है? कितना? यह है क्या महाप्रभु आत्मा? पंचास्तिकाय में एक जीव कहा, वह महात्मा कहा है। दो जीव त्रस और स्थावर; तीन दर्शन-ज्ञान, ऐसे दस तक भेद किये हैं।

प्रभु! तू महात्मा-महा आत्मा! अनन्त-अनन्त गुण और अनन्त विकारी-अविकारी पर्यायों का धारक प्रभु तू है। पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। लोग ऐसा कहते हैं कि कर्म के कारण विकार होता है। यहाँ इनकार करते हैं। यह अनियत स्वभाव इसका धर्म है। आहा...हा...! है न? भाई! यह भगवान की वाणी है। वीतराग तीन लोक के नाथ... आहा...हा...! यह भाषा तो समझ में आती है न माँ? यह भाषा समझ में आये, ऐसी है, माँ! कोई दृष्टान्त हो तो न समझ में आये। दिल्ली से आये हैं, बहुत प्रेम है। जरा अपने दृष्टान्त आवे, तब भाषा समझ में नहीं आती। आ..हा...! ऐसी बात है।

कहते हैं, प्रभु! तेरा ऐसा जो प्रश्न उठा तो मैं तुझे उत्तर देता हूँ तो अब तुझे

अन्दर बैठ (जँच) जाना चाहिए, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! देखो! यह दिगम्बर सन्तों की वाणी। कहीं नहीं, दूसरे सब भरे है, खोटे मार्ग हैं, कल्पना के हैं। आहा...हा...! भाई! ये सब तुम्हारे स्थानकवासी और मन्दिरवासी के गड़बड़ हैं, यहाँ ऐसा कहते हैं। यह तो परमसत्य है। तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि को सन्तों ने अपने तीन कषाय के अभाव की भूमिका में वीतरागता होकर यह बात की है। आहा! वीतरागता में झूलते हैं। क्षण में विकल्प आवे, क्षण में वीतरागता आवे, क्षण में विकल्प आवे, क्षण में वीतरागता (आवे)। आहा...हा...! ऐसी जो दशा, झूला जरा ऐसे जाए और ऐसे जाए; वैसे क्षण में विकल्प में आवे और क्षण में निर्विकल्प हो जाए। कहते-कहते निर्विकल्प हो जाए! आहा...हा...! भाई! ऐसे वीतरागी सन्तों की यह वाणी है। इसे समझना बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...! क्या बात की है!!

एक ओर कहते हैं कि विकारी कर्म व्यापक और विकार व्याप्य है, तू नहीं। आहा...हा...! यह तो स्वभाव की दृष्टिवन्त की अपेक्षा से कहा, परन्तु इसका स्वरूप-इसका अस्तित्व जो है, (उसमें) अनियत स्वभाव, वह विकार इसकी पर्याय में है। आहा...हा...! मिथ्याभ्रान्ति और राग-द्वेष, यह परिणाम में अनियत स्वभाव है, यह तेरा स्वभाव नहीं, इस अपेक्षा से अनियत स्वभाव है। आहा...हा...! ऐसा कहकर, स्वभाव नहीं—ऐसा भी कहा और विकारी अनियत स्वभाव तुझमें है तुझसे है (-ऐसा भी कहा)। आहा...हा...! ऐसे धर्म को मार-कुचल (डाला है)।

भाई ने 'दशलक्षण धर्म' (पुस्तक में) एक लिखा है। शौच के धर्म में एक लिखा है कि अरे रे! लोभ के सामने शौच है न? तो लोभ, यह राग का भाव है; राग है, उसे धर्म मनाते हैं, धर्म का कारण मनाते हैं और जो राग का निषेध करके (वीतरागता को धर्म) मनाते हैं, उनकी तुम निन्दा करते हो। इसमें है, शौच धर्म में है। बहुत स्पष्ट किया है, बहुत स्पष्ट किया है, क्षयोपशम की शैली से बहुत स्पष्ट किया है। आहा! ऐसा कि, लोभ के सामने शौच है न? निर्लोभता, सन्तोष शौच है, वह एक लोभ के अभाव के रूप में - ऐसा नहीं। वहाँ यह शब्द प्रयोग किया है, भाई! 'लोभान्त'—एक शब्द प्रयोग किया है। लोभ का अन्त आवे, वहाँ तक की बात है और पहले क्रोध, मान, माया, कषाय मिटती है और लोभ तो अन्त में दसवें

(गुणसथान तक) रहता है। आहा...हा...! लोभ का अन्त हो, तब उसे शौचता पूर्ण प्रगट होती है। नीचे शौच का अंश अविरति सम्यग्दृष्टि को भी (प्रगट हुआ है)। भगवान त्रिलोकनाथ स्वभाव का सागर जिसकी दृष्टि में आया है, उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव होकर जो पवित्रता का अंश प्रगट हुआ है, वह उत्तमक्षमा है। आहा...हा...! परन्तु अंश है। आहा! क्योंकि दशधर्म हैं, वे मुनि के हैं, चारित्र के भेद हैं। दस हैं, वे चारित्र के भेद हैं, इसलिए मुनि के धर्म हैं। आहा...हा...! परन्तु उसमें गर्भित में जिसे यह भगवान आत्मा अनियत और नियत स्वभाववाला है—ऐसा लक्ष्य करके भी अन्तर में चैतन्य को देखता है और जानता है, उसे भी जो सम्यग्दर्शन का अंश प्रगट हुआ है, उसमें उत्तम क्षमा और उत्तम शौच की दशा प्रगट हुई है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

सम्यग्दृष्टि चैतन्यस्वभाव की पर्यायों के सब प्रकार कैसे हैं, यह जानने पर भी उसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर गयी है। वह जिसे सम्यग्दर्शन, उत्तम क्षमा का अंश प्रगट हुआ है, वह युद्ध में खड़ा हो तो भी उस अंश को कोई बाधा नहीं है। आहा...हा...! जिसकी दशा ही उसरूप हो गयी है, उसे अब पर की ओर की चपलता या चंचलता पर्याय में आवे, वह वस्तु में नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। तुम्हारे वैष्णव में तो सब समझने जैसा है। आहा...हा...! यह मैंने कहा था। वहाँ भाई आये थे न? (एक मुमुक्षु के सेठ वैष्णव हैं)। पचास करोड़ रुपये, मुम्बई में हैं। महिलायें सब श्वेताम्बर जैन और लड़के सब वैष्णव। पचास करोड़ रुपये! दर्शन करने आये थे, नारियल और हजार रुपये रखे थे। वे कहते हैं —कर्ता है या नहीं? महाराज! मैंने कहा भाई! नरसिंह मेहता क्या कहते हैं? वे वैष्णव हैं या नहीं? क्या कहते हैं? 'ज्यां लगी आत्मतत्त्व चिह्नयो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी' वहाँ 'ज्यां लगी ईश्वर को कर्ता जाना नहीं' ऐसा नहीं कहा है और गीता में ऐसा है, मैं कर्ता नहीं हूँ। एक श्लोक ऐसा है। मैं किसी का कर्ता नहीं हूँ। परन्तु वह नहीं लिया और मुझे अर्पण करो यह बात लेते हैं। जो कुछ करो, उसका फल मत इच्छो। वह सब मुझे अर्पण करो—ऐसा आवे वहाँ उसे चिपटते हैं परन्तु वे इनकार करते हैं कि मैं किसी का कर्ता नहीं, (उसे पकड़ते नहीं)। नरसिंह मेहता ने ऐसा कहा है 'ज्यां लगी आत्मतत्त्व चिह्नयो नहीं', 'ज्यां लगी ईश्वर को जाना नहीं' ऐसा नहीं कहा। सुनते थे, बेचारे। अभी कहाँ उसे पड़ी है? पचास करोड़,

जहाँ-तहाँ फँस गया होता है। आहा...हा...! पूरे दिन पाप में रचे-पचे और कहीं पाँच-दस लाख खर्च करे तो अन्दर आशा यह है कि मुझे कुछ उदार गिने, अच्छा गिने... आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

भगवान आत्मा स्वयं सिद्ध चीज़ है और वह भी ऐसा नियत, नियत स्वभाव से सम्पन्न है, वह पर के कारण नहीं। आहा...हा...! अनियतस्वभाव कर्म के कारण नहीं। अनियत अर्थात् जैसे पानी उष्ण है, वह कहीं अग्नि के कारण नहीं है। वह उष्ण उसका अपना पर्याय धर्म है। स्पर्श गुण जो शीतल था, वह स्वयं उष्णरूप परिणमित हुआ है, वह पानी का स्वभाव अनियत है। उष्ण वह पानी का स्वभाव अनियत है; शीतल स्वभाव, वह नियत है। इसी प्रकार भगवान आत्मा... आहा...हा...! शुद्धस्वरूप की दृष्टि होकर शुद्धरूप हो, वह तो उसका निश्चयधर्म / नियत स्वभाव है परन्तु इतने में न रह सके और विकाररूप हो... आहा...हा...! वह भी उसका एक स्वभाव है, अनियत उसका धर्म है। धर्म अर्थात्? धार रखी हुई बात है। धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन, ऐसा नहीं है। आहा...हा...! है?

**आत्मद्रव्य अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है,...** आगे-पीछे भाव से भासित होता है-ऐसा नहीं है। बड़ी चर्चा हुई थी। सामनेवालों ने शास्त्र में से (निकाली थी) देखो! इस १५५ गाथा में नियत और अनियत कहा है। अकेला क्रमबद्ध है-ऐसा नहीं कहा। एक बड़ा पण्डित है, यहाँ का विरोध करता है। यहाँ का नहीं करता, प्रभु! तू तेरा करता है। हम कौन हैं, वह तो तूने देखा नहीं तो तू विरोध किस प्रकार कर सकेगा? आहा...हा...! तू कौन है? उसे तूने देखा नहीं तो उसका विरोध तू करता है। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं **आत्मद्रव्य अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसके उष्णता नियति ( नियम ) से नियमित नहीं है ऐसे पानी की भाँति।** देखा? पानी का स्वभाव तो शीतल है, वह तो नियत है और उष्ण है, वह अनियत है। वैसे भगवान आत्मा में शुद्धता, वह नियत है और अशुद्धता, वह अनियत है परन्तु वह इसकी अपनी पर्याय में वह है। आहा...हा...! अब यह भी बड़ा विवाद है। (एक विद्वान के साथ) चर्चा हुई थी। (संवत्) २०१३ के साल। कहा, विकार है वह स्वतंत्र एक समय की पर्याय में षट्कारक से परिणमन कर होता है, जिसे कर्म के कारक की अपेक्षा नहीं। उसकी तो नहीं परन्तु जिसे द्रव्य-गुण की

अपेक्षा नहीं। एक (यह सुनकर) ऐसा हो गया, विपरीतता में चढ़ गया था। वह तो बड़ा कहलाता है। करोड़पति उन्हें माननेवाले, परन्तु दृष्टि विपरीत, अब यह किस प्रकार कहना? आहा...! वह कहे-नहीं, विकार कर्म से ही होता है। तुम बहुत भूले हो। मेरे सामने नहीं कहा परन्तु कलकत्ता पत्र लिखा। (एक मुमुक्षु के) यहाँ भोजन था, वहाँ (एक सेठ) पत्र लेकर आये। ईसरी से पत्र आया है। क्या है? कि यह विभाव है, वह क्या है? कहा, वहाँ उत्तर दे दिया गया है। सेठ है, चालीस करोड़ (रुपये हैं), परन्तु उसमें हमारे क्या है? कहा, वहाँ जवाब दे दिया है। विकार स्वतन्त्र अपने षट्कारक से होता है, पर कर्म की अपेक्षा नहीं, ऐसा वस्तु का स्वरूप है—ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ ने कहा है। आहा...हा...! बहुत हो गया उसे तो। यह तो बहुत विपरीत पड़े हैं (-ऐसा कहा) हैं! कर्म बिना विकार होता है? तब तो स्वभाव हो जायेगा। परन्तु पर्याय का वह स्वभाव है। क्या कहते हैं यह? ए ई! यह तुम्हारे बड़े! उसे संस्कार नहीं, यह चीज़ सुनी नहीं थी। उसे पूर्व के कोई संस्कार नहीं, वर्तमान कोई गुरु मिले नहीं। दुःखी होने का भाव तो नहीं हो परन्तु यह लाईन मिली न हो इसलिये (जल्दी नहीं बैठता)।

इस लोभ में ऐसा है न? राग है न? लोभ है, वह राग का भाग है न? राग के दो भाग हैं—माया और लोभ तथा द्वेष के दो भाग हैं—क्रोध और मान। वास्तव में तो राग के दो भाग (माया और) लोभ जो कुछ राग का विकल्प उठता है, वह इसका अनियत स्वभाव है, परन्तु वह धर्म नहीं है, वह धर्म का कारण नहीं है। वहाँ यह राग रखता है। अरे! व्यवहाररत्नत्रय, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम ये धर्म का कारण नहीं? अरे... प्रभु! तू राग को धर्म का कारण कहता है? वीतरागी धर्म उस राग के कारण होता है? राग इसकी पर्याय में अनियतस्वभाव है परन्तु इससे राग का लक्ष्य रखकर इसकी (नजर) द्रव्य में गयी है। समझ में आया? राग से लाभ हो-ऐसा यह नहीं मानता। अनियतस्वभाववाला परन्तु राग से मुझे धर्म हो (-ऐसा नहीं मानता)। मैंने धार रखा हुआ मेरा धर्म है परन्तु इससे मुझे सम्यग्दर्शन होगा-ऐसी मान्यता नहीं है। आहा...हा...! कहो, भाई! ऐसा है, बापू! बहुत मार्ग... आहा...हा...! अरे रे! अनन्त काल चला जाता है। दिन के दिन मृत्यु के समीप जाता है, भाई! देह की स्थिति पूर्ण होनी है, यह तो निश्चय है। ये जितने दिन जाते हैं, वे उसके समीप जाते हैं। यह जानता है कि मैं बड़ा (होता हूँ), माँ

जानती है कि बड़ा होता है, बुढ़िया जानती है कि बड़ा होता है; भगवान जानते हैं कि मृत्यु के समीप जाता है। आहा...हा...!

आज भाई ने बात नहीं की? इनके काका की लड़की का लड़का सोलह वर्ष का। कलकत्ता में उसमें चढ़ने गया तो मर गया। सोलह वर्ष की उम्र! यह तो उस समय की देह की छूटने की स्थिति (थी), बापू! वास्तव में तो आयुष्य के कारण वहाँ आत्मा नहीं रहता, उसकी अपनी योग्यता से उतना रहता है; योग्यता छूट गयी तो देह छूट जाती है। आयुष्य तो जड़ है, उसके कारण से शरीर में रहता है- ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह आत्मदल इस देह में रहता है - ऐसा कहना वह निमित्त का कथन है। भगवान तो भगवान में अपने में है। अनियत पर्याय भी अपने में है और उसमें स्वयं आत्मा है। आहा...हा...! इसमें कहीं फेरफार करे (तो मार्ग बदल जाये।) क्या कहा?

(पहले) नियत में अग्नि का दृष्टान्त था कि अग्नि में उष्णता है, वह उसका नियतस्वभाव है, वैसे भगवान आत्मा का ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वह उसका स्वभाव है। यहाँ अनियत में पानी का दृष्टान्त दिया है। आहा...हा...! **अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है,...** अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है। विभाव की पर्याय है, उसे देखनेवाला अनियतनय है। उस अनियतनय से अनियतस्वभाव से भासित होता है। आहा...हा...! नय है न? अनियतनय है न? तो नय का विषय है न? तो कहते हैं कि अनियतस्वभाव इस नय का विषय है। अनियतनय का अनियतस्वभाव वह इसका विषय है। आहा...हा...! बात ऐसी है, बापू! यह अलौकिक बातें हैं, भाई! आहा...हा...! यह तो गणधरों और तीर्थंकरों के भाव भरे हैं। वह यह वस्तु है। यह कहीं ऐरे-गैरे की बात नहीं है। आहा...हा...!

किसकी तरह? उष्णता नियमित नहीं। उष्णता पानी में नियत नहीं, स्थायी रहनेवाली नहीं। है? आत्मद्रव्य... है न इसमें? यह तो आठ वर्ष का बालक भी ज्ञान प्राप्त करके केवल (ज्ञान) पाता है! आहा! एक विचार कल ऐसा आया था... ओहो...हो...! आठ वर्ष का बालक आठ वर्ष में समकित प्राप्त करे और तुरन्त अन्तर्मुहूर्त में मुनिपना प्राप्त करे और अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करे और अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष चला जाये। निगोद में से निकला हुआ हो, प्रभु! आहा...हा...! एकाध भव..

बीच में हुआ हो, वह आठ वर्ष में अन्दर आत्मदर्शन पाता है और आठ वर्ष में समकित होकर तुरन्त एकदम प्रत्याख्यान, साधुपना आता है।

**प्रश्न :** संस्कार न हों तो भी ?

**समाधान :** यह अन्दर में संस्कार पड़ा है न पूरा आत्मा ! वह अन्तर्मुहूर्त में ध्यान में जाता है, वहाँ केवलज्ञान होता है और केवली भी अन्तर्मुहूर्त रहता है। यहाँ (इस) भव का केवल (ज्ञान), फिर सिद्ध हो जाता है। आहा...हा... ! प्रभु ! तेरी कितनी ताकत है देख तो सही ! आहा... ! इतना आत्मा है, कहते हैं। आहा...हा... !

**जिसके उष्णता नियति ( नियम ) से नियमित नहीं है ऐसे पानी की भाँति। [ आत्मा अनियतिनय से अनियतस्वभाववाला भासित होता है,... ]** विकारभाववाला। **[ जैसे पानी के ( अग्नि के निमित्त से होनेवाली ) उष्णता अनियत... ]** स्वभाव से होती है। पानी गर्म हुआ है परन्तु वह अनियत है, उसका निश्चय स्वभाव नहीं परन्तु हुआ है स्वयं से, अग्नि से नहीं; वैसे भगवान आत्मा में विकार है, वह स्वयं से है, कर्म से नहीं। उसका अनियत ऐसा विभावभाव उसका स्वभाव है। आहा...हा... ! अरे ! ऐसी बातें। है ? **[ आत्मा अनियतिनय से अनियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे पानी के ( अग्नि के निमित्त से होनेवाली )... ]** निमित्त न ? उपादान तो स्वयं का है, स्वयं से हुआ है। **[ उष्णता अनियत-होने से.... ]** पानी की उष्णता शाश्वत् नहीं, वह तो विभाव है। **[ उष्णता अनियत-होने से पानी अनियतस्वभाववाला भासित होता है। ]** उसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वभाववाला होने पर भी पर्याय में विकार होता है, वह अनियतस्वभाववाला भासित होता है। आहा...हा... ! पर्याय में, हों ! तथापि उसे अनियतस्वभाव का ज्ञान करके भी... आहा...हा... ! अन्तिम आ गया न ? चैतन्य प्रकाश अन्दर पूर्णस्वरूप है वहाँ जा ! वहाँ उसे देख। आहा...हा.... ! उसका नाम आत्मा को अनुभव किया और जाना कहा जाता है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

## नय-२८ से ३१

**स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि २८। अस्वभावनयेनायस्कार-निशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि २९। कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमान-सहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ३०। अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफल-वत्समयानायत्तसिद्धिः ३१।**

आत्मद्रव्य स्वभावनय से संस्कार को निरर्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्मा को स्वभावनय से संस्कार निरुपयोगी है), जिसकी किसी से नोक नहीं निकाली जाती (किन्तु जो स्वभाव से ही नुकीला है) ऐसे पैने काँटे की भाँति। २८.

आत्मद्रव्य अस्वभावनय से संस्कार को सार्थक करनेवाला (अर्थात् आत्मा को अस्वभावनय से संस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभाव से नोक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके लुहार के द्वारा नोक निकाली गयी हो ऐसे पैने बाण की भाँति।) २९.

आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति। [कालनय से आत्मद्रव्य की सिद्धि समय पर आधार रखती है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम की भाँति।] ३०.

आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति। ३१.

**प्रवचन नं. २६५, नय २८ से ३१**

**भाद्रपद कृष्ण २, शनिवार, ०८ सितम्बर १९७९**

(प्रवचनसार, नय अधिकार) २७ वाँ बोल चला न? कि जो आत्मद्रव्य है, वह पर्याय में अनियतस्वभाववाला है। आहा! अर्थात् विकार पर्याय उसका स्वयं का स्वभाव है। ऐसा उस सत् का स्वरूप ही है। त्रिकालस्वभाव की बात बाद में आयेगी परन्तु यह भी अनियतस्वभाव भी पर्याय में आता है। समझ में आया? पदार्थ स्वयं द्रव्य और गुण से शुद्ध है और पर्याय अनियत विकारवाला भाव है। ऐसे पदार्थ का जिसे यथार्थज्ञान हो तो वह पदार्थ ऐसा है और उसका ज्ञान हो, उसकी वाणी में ऐसा यथार्थ आवे। यह तो वहाँ लिया, पंचास्तिकाय में तीसरे श्लोक में है, भाई! कि अर्थसमय, ज्ञानसमय, शब्दसमय-(ऐसे) तीन बोल हैं। गजब बात है! दिगम्बर सन्तों की कथनी कोई (अलौकिक है)! एक-एक गाथा में गजब करते हैं! क्या कहना है?

यहाँ आत्मद्रव्य नियतस्वभाव से है, वह भी उसके एक धर्म की योग्यता है तथा पर्यायपने में भी अनियतपना है, वह भी उसका एक स्वभाव है। आहा...हा...! अब इस प्रकार पदार्थ है, वह अर्थसमय है। उसका ज्ञान उस प्रकार हो कि विकार मेरे में, मुझसे है; पर से नहीं तब उसका ज्ञान यथार्थ हो और तब उसकी वाणी भी वैसी ही आती है। आहा...हा...! समझ में आया इसमें? अर्थसमय जो आत्मा है, वहाँ (पंचास्तिकाय में) तो अर्थसमय छहों द्रव्य लिये हैं, परन्तु यहाँ तो अर्थसमय अपने आत्मा लेना है। आहा...हा...! अर्थ, ऐसा जो भगवान आत्मा। समय अर्थात् उसके गुण और पर्यायवाला, वह अर्थसमय। द्रव्य, गुण और पर्यायवाला, वह अर्थसमय। वह अर्थसमय ऐसा जो आत्मा है, उसमें उसका विकार जो होता है, वह अर्थसमय की पर्याय में होता है, वह अर्थसमय में जाता है। ऐसा कोई कहे कि विकार कर्म से होता है तो अर्थसमय का स्वरूप उसमें नहीं जाना है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा..हा...! क्या शैली?

**मुमुक्षु :** कर्म दूसरा पदार्थ है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यहाँ तो आत्मा अर्थसमय लेना है। भाई! मार्ग ऐसा कोई सत्य है। आहा...हा...!

सत् प्रभु! द्रव्य, गुण से तो है परन्तु पर्याय से भी स्वभाव की पर्याय भी है और विभाव की पर्याय भी है, ऐसा जो पदार्थ है। आत्मद्रव्य कहा न? भाई! आत्मद्रव्य अनियतस्वभाववाला है। है न? **आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है,....** भाषा है, देखो न, क्या लिया? कि भगवान आत्मा द्रव्य और गुण से शुद्ध है, पर्याय में भी कितनी ही शुद्धता है और अशुद्धता भी है। यहाँ साधक के नय की बात है न? भाई! आहा...हा...! नय और प्रमाण साधक के लिये हैं न ये? केवली को पूर्ण हो गया, वहाँ नय भी कहाँ और प्रमाण (भी कहाँ है)? आहा...हा...!

प्रभु सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि अर्थसमय ऐसा जो भगवान आत्मा... पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। वह स्वयं ही आत्मा द्रव्य, गुण और पर्याय अनियत और नियत पर्यायवाला जीवद्रव्य है। उसमें उस प्रकार से **अनियतस्वभाव से है...** ऐसा कहा न? भाई! उस विकारपने के भाव से अनियतस्वभाव से भासित होता है। ज्ञान में वह भासित होता है। आहा...हा...! अब उसमें से कोई ऐसा कहता है कि विकारीपर्याय वह कर्म की ही है, जड़ की है तो वह अनियतस्वभाववाला जो जीवद्रव्य, उसे उसने नहीं जाना। आहा...हा...! मूल में से जहाँ विवाद है, उसकी बात करते हैं। समझ में आया?

आत्मद्रव्य-ऐसा लिया है न? आत्मद्रव्य अनियतिनय से, अनियतिनय से (अर्थात्) विभाव को जाननेवाले नय से, अर्थात् **अनियतिनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है,...** विभाव है आत्मद्रव्य में, पर्याय में-ऐसा भासित होता है। तब जो वस्तु है ऐसी और वैसा उसे भासित होता है और भासित है, वैसा उस शब्द में आता है। जिसे इस प्रकार भासित नहीं हुआ, उसके शब्द में यथार्थता नहीं आती। आहा...हा...! समझ में आया इसमें?

यहाँ तो एक विचार आया था कि हरिश्चन्द्र सत्यवादी कहलाते हैं न? वह तो लौकिक बाहर की बात है। यह हरि स्वयं भगवान आत्मा सत्यस्वरूप द्रव्य, गुण

(शुद्ध है और) पर्याय में विकृत है, यह भी उसका स्वरूप है, अनियतस्वभाव से द्रव्य भासित होता है। आहा...हा...! और इस प्रकार भासित हुए बिना उसे विकार की पर्याय, कर्म के कारण है और पर के कारण है तो अनियतस्वभाव से जीवद्रव्य है, वह उसे ख्याल में नहीं आया। बात समझ में आती है? अभी यह बड़ी प्ररूपणा (चलती है)। आहा...हा...! (संवत्) १९७१ से यह प्रश्न बाहर आया है। तब से पहली स्थानकवासी में गड़बड़ खड़ी हुई, फिर श्वेताम्बर में गड़बड़ उठी, फिर दिगम्बर में आये तो उसमें भी गड़बड़ उठी। वे लोग कहते हैं, विकार कर्म से ही है। यहाँ तो कहते हैं कि अनियतनय से-स्वभाव से द्रव्य भासित होता है। समझ में आया इसमें?

(एक दिगम्बर के विद्वान के साथ) बड़ी चर्चा (हुई थी)। (वे कहते) नहीं, ऐसा नहीं। विकार कर्म के कारण होता है। कहा, बिल्कुल नहीं। कहा- पंचास्तिकाय की ६२ गाथा देखो। पंचास्तिकाय! वह इस न्याय से। अमृतचन्द्राचार्य ने जिस न्याय से पंचास्तिकाय में लिखा है, वह बात निकालकर स्वयं अमृतचन्द्राचार्य यहाँ कहते हैं। आहा...हा...! क्या बात है? भाई!

कहते हैं कि भगवान आत्मा आत्मद्रव्य नियतिनय से स्वभाव भासित होता है, वह भी है और अनियतिनय से उसमें विभावरूप, अनियतरूप से भासित होता है, वह भी है। आहा...हा...! पर के कारण (होता है), यह अपेक्षा यहाँ है नहीं, भाई! ऐसा सूक्ष्म पड़ता है। यह अनियतिनय से, नय है न? नय एक धर्म को विषय करता है न? अनियतिनय से अनियतधर्म को विषय करता है। विकाररूप दशा परिणमी, वह अनियतिनय से देखनेवाला अनियतस्वभाव भासित होता है, ऐसा देखता है। अनियतस्वभाव मुझमें मुझसे है - ऐसा देखता है। आहा...हा...! समझ में आया? इसमें बड़ा अन्तर है। अभी तो तीनों सम्प्रदाय में यह पूरा विवाद है कि नहीं; विकार होता है, वह कर्म से-परद्रव्य से होता है। परद्रव्य और निमित्त को सम्बन्ध (क्या)? वह तो परवस्तु निमित्त है। आत्मा की पर्याय विभावरूप परिणमित होती है, उसमें निमित्त को तो छूता ही नहीं। बहुत सूक्ष्म बात है परन्तु यथार्थ है। मुद्दे की बात है, प्रभु! आहा...हा...! पर के साथ सम्बन्ध नहीं है।

तेरा अपना पर्यायधर्म विभाव, अनियतिनय से विभावरूप भासित होता है। वह भासित होता है, यह ज्ञान हुआ और इसमें है, यह पदार्थ हुआ और ऐसी ही

इसकी वाणी आती है। आचार्यों की भाषा ऐसी आती है न? देखो न! पंचास्तिकाय, तीसरी गाथा-अर्थसमय, ज्ञानसमय, शब्दसमय। अभी पण्डितजी के साथ बात करते हुए निकाला था। आहा...हा...! यही आया लो! ***( ३ ) कथन के निमित्त से ज्ञात हुए पंचास्तिकाय का ही वस्तुरूप से समवाय अर्थात् समूह, वह अर्थसमय है, अर्थात् सर्व पदार्थसमूह, वह अर्थसमय है।*** वाणी द्वारा ज्ञात। वाणी आयी, (उसके द्वारा) बतलाया वह अर्थ समय है। ***उसमें, यहाँ ज्ञानसमय की प्रसिद्धि के हेतु...*** (अर्थात्) वह वस्तु जैसी है, उसके ज्ञान की प्रसिद्धि के लिये। ***शब्दसमय के सम्बन्ध से अर्थसमय का कथन....*** आहा...हा...! शब्दसमय के सम्बन्ध से अर्थसमय कहने का—तीनों आ गये। जैसा पदार्थ है, वह अर्थसमय है और उसे कहने की भाषा, वह शब्दसमय है परन्तु वह कहने की भाषा, ज्ञान सम्बन्ध को कहने के लिये है। उसका वास्तविक ज्ञान कराने के लिये कहने का शब्द है। आहा...हा...! समझ में आया? साधारण लगेगा परन्तु यह मुद्दे की बात है। अभी एक बड़े पण्डितों को यहाँ अन्तर (पड़ता) है। (उस विद्वान के) साथ अन्तर। (उन्होंने) फिर विरोध किया है कि यहाँ का साहित्य डूबा देगा। और उसका अब सब सहारा लेते हैं कि (इनके) जैसे कहते हैं कि सोनगढ़ का साहित्य डुबा देगा। अरे.. भगवान! यह बात थी नहीं। उसे स्वयं को भासित नहीं होती। नहीं कोई पूर्व का संस्कार, नहीं कोई वर्तमान सत्य गुरु मिले। इसलिये अपने आप कल्पना से पढ़कर पदार्थ का अर्थ किया कि जो विकार है, वह अपने से नहीं परन्तु कर्म से होता है।

यहाँ कहते हैं कि विकार है, वह अर्थसमय का स्वयं का अनियत धर्म है। भाई! बात समझ में आती है? भगवान की भक्ति का राग है, वह राग भी आत्मा में अनियतस्वभाव से भासित होता है। वह राग, कर्म के कारण हुआ नहीं तथा वह राग, भगवान के दर्शन किये, इसलिये हुआ-ऐसा (भी) नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? इसकी पर्याय का ही अनियतस्वभाव अनियतिनय से भासित होता है। ऐसी बातें कहाँ (थी)? भाई! व्यापारी को ऐसा निर्णय करने की फुरसत नहीं मिलती। पूरे दिन धन्धे में।

शब्द देखे? जो वस्तु है, यहाँ आत्मद्रव्य (लेना)। वहाँ छहों द्रव्य की बात है। यहाँ आत्मद्रव्य जो है, वह अर्थसमय है, उसमें यहाँ ज्ञानसमय की प्रसिद्धि के

लिये, उस आत्मा में ज्ञान की प्रसिद्धि के लिये जैसा वह अनियतस्वभाववाला विभाव है, वैसा जो अर्थसमय आत्मद्रव्य है, आत्मद्रव्य आया न ऊपर? वह आत्मद्रव्य अनियतिनय से विभावरूप भासित होता है। विभाव इसमें है-ऐसा भासित होता है। ऐसे ज्ञानसमय की प्रसिद्धि, ऐसे वास्तविक तत्त्व की प्रसिद्धि के लिये **शब्दसमय के सम्बन्ध से अर्थसमय कहने का....** इस शब्द से आचार्यों ने जो कहा है, वह इस अर्थसमय को इस प्रकार आत्मद्रव्य है - ऐसा समझाने के लिये। अरे! क्या है इसमें? अभी विवाद आया था। इसलिए ऐसा जहाँ कहा वहाँ तो उसे ऐसा हो गया कि आहा...हा...! यह तो मण में पाँच सेरी में भूले हैं। ऐसा उसे लगा। ऐसा? विकार कर्म से नहीं होता? कहा, कर्म से नहीं, लाख बार-अनन्त बार कहते हैं कि कर्म से नहीं होता। कहा, पाठ देखो! पंचास्तिकाय ६२ गाथा। कर्म के कारक बिना विकार अपने षट्कारक से परिणमता है। षट्कारकरूप से - ऐसा पाठ है। यह अनियतधर्म। आहा...हा...! भाई! इस अनियतिनय से। यह तो बड़ा विवाद था न, इसलिए फिर से लिया। मूल में विवाद। (दिगम्बर के विद्वान के साथ) विवाद। इन्दौरवाला बड़ा पण्डित था, उसके साथ विवाद। वह यहाँ आकर फिर स्वीकार कर गया कि बात सत्य है, फिर वहाँ जाये तो (बदल जाता है)। आहा...हा...!

इसमें '**कम्मरएण**' आया है न? भाई! भगवान आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्वभावी होने पर भी '**कम्मरएण आच्छादन**' ऐसा पाठ है। '**कम्मरएण आच्छादन**' का अर्थ किया कि देखो! कर्म के रज से किया। कहा, ऐसा अर्थ नहीं है, देखो तो सही अन्दर टीका में। अपने अपराध से ढका हुआ है - ऐसा कहा है, देखो! आहा...हा...! बापू! यह मार्ग ऐसा नहीं। इस अपने अपराध से यह ढका हुआ है। कर्मरज शब्द का ऐसा अर्थ अमृतचन्द्राचार्य ने किया है। समयसार १६० (गाथा)। यह तो प्रवचनसार है। ये लोग जब आये थे, तब वह गाथा आयी थी। '**सव्वणाणदरिसी कम्मरएण**' यह गाथा (चलती थी) और विवाद उठा '**कम्मरएण णियेणावच्छण्णो**' देखो! कर्म के रज से ढका हुआ है। कहा, इसका अर्थ नहीं, देखो! टीका में देखो! अमृतचन्द्राचार्य (क्या कहते हैं)

**जो स्वयं ही ज्ञान के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्यविशेषतया जानने के स्वभाववाला है, ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य,...**

देखा ? ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य। **अनादि काल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से....** अमृतचन्द्राचार्य ने कर्मरज का अर्थ ऐसा किया है। परन्तु यह बात अभी हिन्दुस्तान में नहीं थी। आहा...हा... ! यह समयसार है, अपने तो प्रवचनसार चलता है। समयसार की १६० गाथा। **अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा लिप्त...** पुरुषार्थ का जो विपरीतभाव है, उससे लिप्त होता है। आहा...हा... ! कर्म तो परद्रव्य है, जड़ है। जड़ को तो एक द्रव्य छूता भी नहीं। जड़ इसे नहीं छूता, यह उसे नहीं छूता है। आहा...हा... ! और अपने द्रव्य,-गुण-पर्याय को स्पर्श करता है, इसका अर्थ यह हुआ कि विकारी पर्याय या अविकारी पर्याय या अविकारी गुण, द्रव्य, उसे वह द्रव्य स्पर्श करता है। आहा...हा... ! ऐसी बातें आयी। मूल बात सत्य यह है और सत्य का वैसा ही ज्ञान सत्य होना चाहिए और वैसा ही ज्ञान सत्य हो तो वह वाणी सत्य आनी चाहिए।

अभी तो पूरी यह प्ररूपणा चलती है, बस ! कर्म के कारण विकार होता है। श्वेताम्बर तो कहते ही हैं। श्वेताम्बर के (एक साधु) के साथ बड़ी चर्चा हुई। (एक भाई) यहाँ का सुनकर तैयार हुए, फिर वहाँ कहा कि चर्चा करो। तो (साधु ने कहा) कि तुम्हें कर्म से विकार होता है, पहले यह मान्य है ? यह कहता है कि नहीं; हमें (मान्य) नहीं है। इसलिए पूरा श्वेताम्बर सम्प्रदाय कर्म से विकार होता है, यह माननेवाला अत्यन्त विरुद्ध दृष्टिवाला है परन्तु यह तो दिगम्बरों में ऐसी विपरीतता घुस गयी है और बनिये सुननेवालों को कुछ पता नहीं होता। ऊपरवाला कहे वह जय नारायण ! पण्डित है न ? साधु है न ? जय नारायण !

**मुमुक्षु :** .....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो अब कहते हैं, पहले सब विरोध करते हैं। ऐसा अब कितने ही कहते हैं। (दिगम्बर के विद्वान ने) तो बड़ा विरोध किया। कलकत्ता पत्र (आया) था कि ये लोग विकार कर्म से नहीं होता (-ऐसा कहते हैं)। तो स्वभाव हो जाता है। हमें अत्यन्त विरोध है। (एक व्यक्ति के यहाँ) आहार किया था। (एक व्यक्ति कलकत्ता के भाई) हैं, उन्हें बहुत प्रेम है, बहुत प्रेम। यहाँ के धर्म के लिये, प्रभावना के लिये चारों ओर घूमते हैं। अजमेर में शिक्षण शिविर हुआ तो पन्द्रह लाख का मकान लिया था। पैसा बहुत दिया था, वह पन्द्रह लाख का अभी एक करोड़ का है। एक करोड़ का ! शिक्षण शिविर वालों को वहाँ तक कहा कि

'टोडरमल स्मारक भवन' में जैसी संस्था हैं, वैसे संस्था यदि यहाँ करो तो यह करोड़ का मकान दे दूँगा। दस लाख रुपये दूसरे दूँगा परन्तु टोडरमल का जैसा जयपुर में हुआ, वैसा यहाँ करो, इतना उन्हें प्रेम है। ऐसी सत्य प्रभावना कैसे हो? ऐसी उसकी बात है।

यहाँ कहते हैं आहा...हा...! अपने अपराध से प्रवर्तमान। **कम्मरयेण** का अर्थ यह किया कर्म मैल यह। भावकर्म का मैल, उससे लिप्त हुआ। आहा...हा...! तब कहा था। पहले साल में जब आये थे, संवत् २००१ के साल। ३४ वर्ष हुए। यहाँ आये थे। (दूसरे विद्वान ने) सुना नहीं था, उसे खलबलाहट... खलबलाहट करने लगा। कहा, परन्तु यह टीका तो देखो तुम! पाठ का अर्थ अमृतचन्द्राचार्य मुनिराज स्वयं शब्द का अर्थ जो करते हैं, वह तो देखो! पंच महाव्रतधारी हैं, वे सत्य अर्थ करते हैं। वह सत्यस्वरूप ऐसा है। ऐसा जिसने जाना है और वैसा उसका भाव वाणी में आता है। बात समझ में आती है कुछ? आहा...हा...!

अर्थसमय उसकी-ज्ञानसमय की प्रसिद्धि के लिये-उसके ज्ञान के लिये शब्दसमय से कहने में आता है। ऐसे तीनों एक हो जाना चाहिए। जैसा इसका विकारी पर्याय में अनियतस्वभाव है, ऐसा वह अर्थसमय आत्मद्रव्य है। यह आत्मद्रव्य कहा न? और वैसा उसका ज्ञान होना चाहिए। वैसा उसका ज्ञान हो तो यथार्थ ज्ञान है। कर्म से विकार होता है —ऐसा माने तो यथार्थ अर्थसमय का ज्ञान नहीं है और वैसा ज्ञान हो तो उसकी भाषा में यही आवे कि विकार पर्याय अपनी योग्यता का धर्म स्वयं ने धार रखा है। है यह? अनन्त धर्मों को धार रखा अधिष्ठान स्वयं है। पहले आया था न? अनन्त धर्मों को धार रखा हुआ भगवान आत्मा। अनन्त धर्मों में विकार भी है। अरे... अरे! भाई! यह तो परमात्मा (फरमाते हैं) आहा...हा...!

वहाँ तो पंचास्तिकाय का स्वरूप है न? भाई! पंचास्तिकाय है, वह पूरा अर्थसमय है। समवाय लिया है न? तीसरी गाथा में समवाय शब्द लिया है। उसमें अर्थसमय आत्मा भी साथ आ गया। अब अपने अर्थ करें तो **आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है,....** ज्ञान में विभाव है, वह अनियतिनय से वह वस्तु वैसी भासित होती है अर्थात् ज्ञान वैसा होता है। ऐसे साधारण बात नहीं, परन्तु बापू! यह बड़ी बात है। श्वेताम्बर में तो '....' आत्मा कर्म का कर्ता और

आत्मा कर्म का भोक्ता, सुख-दुःख का कर्ता और भोक्ता। कोई ठिकाना नहीं होता। सूक्ष्म बात है, भाई!

यहाँ कहते हैं, **आत्मद्रव्य...** (वह) अर्थसमय-आत्मसमय **अनियतिनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है,...** यह भासित होता है आया। जैसा इसका स्वभाव है, वैसा ही ज्ञान भासित होता है परन्तु ज्ञान (में) ऐसा भासित होता है कि विकार इसमें नहीं, कर्म के कारण है तो अनियतस्वभाव इसे भासित नहीं हुआ। उस पदार्थ का अनियतपर्याय धर्म है, उसकी खबर नहीं। आहा..हा...! समझ में आया? आहा...! ऐसी बात में क्या होगा? इतना अन्तर है। इसके शब्दसमय में अन्तर है। समझ में आया? इसके शब्द में यह निकलता है। कर्म के कारण विकार होता है तो वह शब्दसमय झूठा है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। क्या अन्तर है? बापू! आहा...!

आत्मा के द्रव्य, गुण और पर्याय की मर्यादा में वह विकार है, वह पर में नहीं। उसकी पर्याय का आँगन है, उसमें विकार है। आहा..! उस विकार का धर्म आत्मा ने धार रखा है। समझ में आया? ऐसा भासित होता है, ऐसा जो ज्ञान होता है, तब उसके शब्दसमय में ऐसा ही आता है कि आत्मा का विकारी धर्म पर्याय आत्मा में है, आत्मा से है, आत्मा ने धार रखी है, कर्म से नहीं। यह इसकी प्ररूपणा शब्दसमय में यह आती है परन्तु जिस शब्दसमय में प्ररूपणा विपरीत आवे कि विकार, कर्म के कारण होता है, आत्मा के कारण नहीं तो यह उसका शब्दसमय झूठा है, उसका ज्ञान भी झूठा है, पदार्थ वैसा है नहीं। समझ में आया? लो! आधे घण्टे तो यह चला तुम्हारा।

**जिसके उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है ऐसे पानी की भाँति।** क्या कहा? **[आत्मा अनियतिनय से अनियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे पानी के (अग्नि के निमित्त से होनेवाली) उष्णता अनियत-होने से....]** पानी की उष्णता अनियत है। उसका शीतलपना, वह नियत है; उष्णपना उसमें अपने में अनियत है। इस प्रकार से आत्मा में विकारीपर्याय अनियतरूप से अपने में है-ऐसा भासित होता है। आहा...हा...! यह २७ (नय) हुआ। (अब) २८।

**आत्मद्रव्य...** अब दूसरा धर्म। यह भी इसका धर्म है। धर्म अर्थात् धार रखा

हुआ भाव। **आत्मद्रव्य स्वभावनय से....** इसका स्वभाव देखें तो **संस्कार को निरर्थक करनेवाला है...** आहा...हा...! ऐसा भी इसका एक धार रखा हुआ धर्म है। संस्कार अर्थात् सुन-सुनकर अन्दर संस्कार डालना, ऐसा नहीं। इसका स्वभाव ही ऐसा है। संस्कार (की) बात बाद में कहेंगे परन्तु पहली यह बात कहने के बाद वह डालेंगे। आहा...हा...! इसका स्वभाव ही ऐसा है कि सुनकर संस्कार पड़े - ऐसा इसका स्वभाव ही नहीं है। वह यह एक धर्म है। आहा...हा...! ऐसा कहा जाता है या नहीं कि संस्कार तो करो। परन्तु यह संस्कार करो यह एक दूसरा नय है। इस एक नय में संस्कार इसे काम नहीं करते - ऐसा एक नय है। अरे! ऐसी बातें, परस्पर विरुद्ध। ऐसा परस्पर विरुद्ध ही इसका स्वभाव है। पर्याय का, हों! आहा...हा...!

**आत्मद्रव्य स्वभावनय से....** यह समझ में आये ऐसा है, बापू! लड़कियों, लड़कों, माताओं, लड़के भी आत्मा है न प्रभु अन्दर! ऐसा नहीं समझना कि हम आठ लड़के नहीं समझ सकेंगे, स्त्री है और पुत्र है। भगवान! (तू) आत्मा है, प्रभु! आत्मद्रव्य है। आहा...हा...! इस आत्मद्रव्य का ऐसा एक स्वभाव है कि **संस्कार को निरर्थक करनेवाला है....** आहा...हा...! इसका स्वभाव ही सीधा प्रगट होता है। वहाँ संस्कार क्या करें? कहते हैं। **( आत्मा को स्वभावनय से संस्कार निरुपयोगी है ),....** आहा...हा...! ऐसा कहा जाता है न कि भाई! पूर्व के कुछ संस्कार थे तो एकदम समझने में आया, परन्तु यहाँ कहते हैं कि इस एक नय से यह बात सत्य नहीं है। आहा...हा...!

इन दोनों नयों का धर्म एक समय में है। किसी को स्वभावसंस्कार है और किसी को स्वभावसंस्कार नहीं - ऐसा नहीं है। किसी को स्वभाव के संस्कार हैं और किसी को (नहीं - ऐसा नहीं है) एक ही जीव में दो प्रकार हैं। ऐसा धर्म! आहा...हा...! **आत्मद्रव्य स्वभावनय से संस्कार को निरर्थक करनेवाला है ( अर्थात् आत्मा को स्वभावनय से संस्कार निरुपयोगी है ), जिसकी किसी से नोक नहीं निकाली जाती ( किन्तु जो स्वभाव से ही नुकीला है ) ऐसे पैने काँटे की भाँति।** तीक्ष्ण काँटा। यह बोरडी काँटा आता है न? सीधा अन्दर से आता है। उसे ऐसे नोक की जरूरत नहीं पड़ती। साधु सुई नहीं रखते, वह रखते हैं। बोरड़ी का बारीक काँटा आता है, बहुत बारीक। ये कुदरत के बोर नोक के, यहाँ बाहर है। बहुत कठिन, नोकदार। वह नोक की है तो नोक हुई है - ऐसा नहीं। वह

तो उसका नोक का स्वभाव ही है कि जिसे दूसरी नोक करनी नहीं पड़ती। आहा...हा...! स्वभावनय से **किसी से नोक नहीं निकाली जाती ( किन्तु जो स्वभाव से ही नुकीला है ) ऐसे पैने काँटे की भाँति।** तीक्ष्ण काँटा। बोरड़ी काँटा होता है। तब रखते थे। सुई नहीं रखते थे, तब वह रखते थे। अब तो सुई रखते हैं। पहले सम्प्रदाय में वह रखते थे। बोरड़ी का बारीक सफेद नोकवाला (काँटा) वह कुदरती होता है, यहाँ अपने बाहर बहुत है। आहा...हा...!

इसी तरह भगवान आत्मा, जैसे तीक्ष्ण नोकवाला जैसे काँटा स्वत: है, वैसे इसका स्वभाव स्वत: तीक्ष्ण प्रगट हो वैसा है। इसे किसी संस्कार की जरूरत नहीं है। आहा...हा...! सुने तो मिले ऐसा नहीं-ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! इसे बहुत देशनालब्धि मिले, तब इसे स्वभाव की प्राप्ति हो, ऐसा है ही नहीं - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! सहजात्मस्वरूप भगवान आत्मा की निर्मलपरिणति होना, वह तो उसका स्वरूप ही है। उसे संस्कार वहाँ निरर्थक और निरुपयोगी हो जाते हैं। आहा...हा...! समझ में आया इसमें? ऐसी बातें अब। यह तो सम्यग्ज्ञान की बातें हैं, बापू! आहा...हा...! क्योंकि जैसा द्रव्य है, वैसा ज्ञान हो तो वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। उससे कम, अधिक, विपरीत करे तो वह सम्यग्ज्ञान नहीं। जैसा ज्ञेय द्रव्य है, वैसा ही ज्ञान हो तो उस ज्ञान को सम्यक् कहा जाता है। वह ज्ञानसमय, शब्दसमय, अर्थसमय (एक हुए) और वैसी ही उसकी प्ररूपणा में शब्दसमय आता है, आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। इसीलिए वस्तु / आत्मा द्रव्य, गुण और पर्यायरूप किस प्रकार है, उसका इसे यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

दृष्टि का विषय द्रव्य है परन्तु ज्ञान में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ज्ञान के विषय हैं। आहा...हा...! समझ में आया? इस वस्तु में जितनी जो स्थिति है, उससे कम, अधिक और विपरीत ज्ञान करे तो ज्ञान विपरीत होता है परन्तु वस्तु विपरीत नहीं होती। क्या कहा यह? उसका ज्ञान भले यह विपरीत करे परन्तु वस्तु में विपरीतता नहीं है। वस्तु तो जो है, वही उसमें रहनेवाली है। आहा...हा...! और यहाँ तो जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा ही ज्ञान में भासित होता है, ऐसा कहा न? आहा...! है न? यह स्वभाव ऐसे तीक्ष्ण काँटे की भाँति वैसा ही भासित होता है। उसमें भासित होता है - ऐसा था न? वहाँ अनियतस्वभाव से भासित होता है। अनियत अर्थात् विभावस्वभाव।

यहाँ तो **आत्मद्रव्य स्वभावनय से संस्कार को निरर्थक करनेवाला है....** आहा...हा...! अरे! सूक्ष्म बात भगवान! इसकी कुछ खबर नहीं होती। आत्मा, कर्म करता है और आत्मा, कर्म भोगता है; जड़ को करता और जड़ को भोगता है... अरे! भ्रम है। आहा...हा...! जैसे कर्म बाँधे, वैसा फल भोगना, बापू! ऐसा कहता है परन्तु यह बात ही (खोटी है), जड़ को बाँधता भी नहीं और जड़ को भोगता भी नहीं। यह तो विकारी पर्याय को करे और विकारी पर्याय को उसी काल में वेदन करे - ऐसा ही उस द्रव्य का पर्याय-अनित्यस्वभाव है और स्वभावरूप से देखो तो उसमें वे संस्कार डालना निष्फल है। आहा...हा...! स्वतः सहज परमात्मा द्रव्य-गुण और पर्याय से जहाँ शुद्धरूप परिणमित होता है, उसके परिणमन को बाहर के संस्कार निरर्थक जाते हैं - ऐसा कहते हैं। **पैने काँटे की भाँति।** अब इससे सामने (दूसरा नय)। यह एक समय में दोनों हैं, हों! किसी को स्वभावनय से और किसी को अस्वभावनय से - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उसमें भी ऐसा कहा, नियत किसी का स्वभाव और अनियत किसी का स्वभाव - ऐसा नहीं है। इसी-इसी का नियतस्वभाव और इसी-इसी का अनियतस्वभाव - ऐसी बात है, गजब, भाई!

२९, **आत्मद्रव्य अस्वभावनय से संस्कार को सार्थक करनेवाला...** ऐसा भी एक योग्यता का धर्म गिना है। आहा! सुनते हुए अन्दर ज्ञान में संस्कार पड़ते हैं कि यह शुद्ध है, पवित्र है, द्रव्यस्वभाव परिपूर्ण है-ऐसे संस्कार पड़ते हैं। यह संस्कार का होना - ऐसा एक इसका योग्यता का धर्म है। जिस समय में स्वभाव संस्कार को निरर्थक करनेवाला है, उसी समय में संस्कार को सार्थक करनेवाला है। आहा! ऐसी बातें!

**प्रश्न :** हमें क्या करना?

**समाधान :** करना यह। जैसा है, वैसा पहले समझना। उसे समझना और जैसा है, वैसा उसे मानना और जैसा है, उसमें स्थिर होना। आहा...हा...! बहुत कठिन काम है, बापू! जगत अभी बाह्य प्रवृत्ति में बाहर में कूद पड़ा है। आहा...हा...! व्रत करो और अपवास करो, पूजा करो, भक्ति करो या भगवान का चमत्कार हो गया है और उसमें पानी झरा है और... सब कल्पना की बातें हैं। ये सब राग की क्रियाएँ बताकर आत्मा में धर्म होता है - ऐसा बताना है। आहा...हा...!

चैतन्य-चमत्कार ही स्वयं ऐसा है, जिसे अपने स्वभाव से अन्दर परिणति प्रगट होती है और उसकी पर्याय में एक ऐसा भी धर्म है कि देव, गुरु और शास्त्र, देव-गुरु को सुनते हुए संस्कार पड़ें, ऐसा भी एक धर्म है। आहा...हा...! समझ में आया इसमें? इसमें धर्म क्या? बापू! धर्म उसे कहते हैं कि जो सत्यवस्तु जिस प्रकार है, उसका ज्ञान करे, उसकी श्रद्धा करे और उसमें स्थिर हो, उसका नाम धर्म। धर्म कोई बाहर से क्रिया करे और राग करे, भक्ति करे, वह धर्म नहीं है। समझ में आया? सत्यधर्म में ऐसा आता है न? बराबर बोलना, सत्य बोलना... परन्तु सत्य बोलना, वह तो-बोलने की भाषा तो जड़ है और सत्य बोलने का भाव है, वह तो विकल्प है; वह धर्म कहाँ से आया? समझ में आया? दस प्रकार में सत्यधर्म आता है न? सत्य ऐसा जो स्वरूप, भगवान आत्मा, उसका जैसा द्रव्य, गुण और पर्याय का सत् स्वरूप है, वैसा जानना, मानना और उसमें स्थिर होना, इसका नाम सत्यधर्म है। सत्य बोलना तो पंच महाव्रत की क्रिया का राग है। आहा...हा...! जगत् को ऐसी बातें बहुत कठिन पड़ती है। आहा...!

**अस्वभावनय से संस्कार को सार्थक करनेवाला ( अर्थात् आत्मा को अस्वभावनय से संस्कार उपयोगी है ), जिसकी ( स्वभाव से नोक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके लुहार के द्वारा नोक निकाली गयी हो... )** लोहे को। **( ऐसे पैने बाण की भाँति। )** नोक निकाली गयी (होती हो) ऐसे तीक्ष्ण तीर की भाँति। और नोक निकालने में नहीं आती, ऐसे तीक्ष्ण काँटे की भाँति स्वभावनय से। ऐसा एक धर्म इसमें गिना है। आहा...! अनेकान्त है न, इसलिए एक समय में ये अनन्त धर्म हैं, हों! किसी को ऐसे स्वभावनय से हो और किसी को संस्कारनय से हो, ऐसा नहीं है। अरे! ऐसी बातें! आहा...हा...! यह निमित्त है, इसमें से संस्कार पड़े, वे निमित्त से नहीं पड़े। इसका संस्कार का एक धर्म है, इसलिए पड़े हैं - ऐसा कहते हैं न? इसका एक धर्म कहते हैं न? भाई! क्या कहा? निमित्त से पड़े हैं, वह नहीं; इसका अपना वह स्वभाव है। ऐसा स्वभाव है। सूक्ष्म बात, बापू! आहा...हा...!

सत्य को सत्यरूप से ज्ञान होने और उसकी श्रद्धा होना, वैसी उसकी वाणी होना, यह तो अलौकिक बातें हैं। आहा! भगवान वीतराग तीन लोक के नाथ ने यह फरमाया और इससे किंचित् भी फेरफार हो तो उसका ज्ञान झूठा, श्रद्धा झूठी, और

वाणी झूठी है परन्तु इतना सब कौन खोजे ? आहा...हा... ! कपड़ा देखे तो बराबर देखे, कहीं गाँठ नहीं पड़ी न ताने-बाने में ? बुनते-बुनते जरा गाँठ पड़ जाती है न ! ठीक से देखना पड़ता है, उसमें एक-एक को खोजता है ! अब उसमें खोट जाये तो दो, दस, पच्चीस रुपये की, उसमें क्या है ? परन्तु यह पूरी मिथ्यात्व की खोट जाती है, (वह नहीं देखता)।

भगवान जैसा इसका स्वभावनय से और अनियतनय से वह है, उस प्रकार न जानकर कुछ भी गड़बड़ करके दूसरे प्रकार से जानना... आहा...हा... ! वह इसने आत्मा को लेने के लिये आत्मा की स्थिति जानी ही नहीं। आत्मा को प्राप्त करने के लिये आत्मा की स्थिति क्या है ? वह इसने जानी नहीं। समझ में आया ? कहो, भाई ! तुम्हारे रुपये में कहाँ यह बात आती है ? उलझे हैं सब वहाँ ? आहा...हा... ! रुपये को आत्मा छूता भी नहीं न ! मात्र उसमें धर्मी हो तो राग का परिणाम होता है, अज्ञानी को तो अकेले राग के परिणाम ही उसके हैं और धर्मी को तो राग के परिणाम और अरागी परिणाम दोनों साथ में खड़े हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

धर्मी जीव को तो, जितना द्रव्य का आश्रय लिया है, उतनी निर्मल पर्याय है और उसमें जितना अभी परलक्ष्यी भाव है, उतना अनिर्मल (भाव है), ऐसे उसकी पर्याय में दो भाग हैं। केवली को एक है, मिथ्यादृष्टि को एक दुःख है; इसको दो (भाव हैं) जितने अंश द्रव्य का आश्रय लिया, वह धर्म है और उसी समय जितना निमित्त के लक्ष्य से जो भाव करता है, स्वयं स्वयं से करता है, उतना इसे दुःख है। अनियतस्वभाव है। आहा...हा... ! सुख होना, वह तो नियतस्वभाव है और दुःख होना, वह अनियत है। वह दुःख ज्ञानी को हो ही नहीं तो वह द्रव्य, गुण और पर्याय को जानता नहीं। आहा...हा... !

(एक मुमुक्षु) के साथ यह बड़ा विवाद आया था न ? सहारनपुर। बहुत समय से आते थे हर वर्ष (आते थे)। हाँ, हाँ करें, परन्तु सब बातें ऊपर की-बाहर की, मूल जहाँ बात आयी तो वहाँ बदल गये। एकदम ! ज्ञानी को दुःख नहीं होता। भट्टी जैसा राग उसे लगे, वह नहीं होता (ऐसा कहते थे) वरना कितने ही समय से निवृत्ति से सुनते, पढ़ते, अन्त में पीछे से गड़बड़ उठी। मूलवस्तु को जाना नहीं, इसलिए गड़बड़ उठी।

यहाँ तो कहते हैं कि स्वभावनय से, वह भी एक इसका धर्म है और

अस्वभावनय से ऐसा भी एक इसका अपना धर्म है। पर के कारण संस्कार पड़ते हैं - ऐसा नहीं है। संस्कार अपने में पड़ें, वह अपना एक धर्म है। अरे... अरे...! ऐसी बातें! २९ (नय) हुआ।

अब यह मुख्य नय, इसमें विवाद आता है। **आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है....** जिस समय में मुक्ति होनी है, वह कालनय है, वह काललब्धि है। समझ में आया? **कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है....** उसका समय आवे, तभी मुक्ति होती है, ऐसा है। **गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति।** आहा...हा...! है न? **गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल....** आम्रफल पक जाता है। वहीं का वहीं पीला हो जाता है न? इसी प्रकार कालनय से मुक्ति का समय आवे, तब उसकी मुक्ति होती है। **गर्मी के दिनों के अनुसार...** दिनों के अनुसार (अर्थात्) काल के अनुसार **पकनेवाले आम्रफल...** अर्थात् किसी निमित्त से नहीं। फिर दूसरा आयेगा। आम को फिर घास में डालते हैं न? वह बाद में कहेंगे।

**आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले'...** गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले, यह काल अनुसार। उसका काल ही ऐसा है कि उस समय आम पके। आहा...हा...! **आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति।** लो! आहा..!

अब कालनय के साथ में अकालनय कहा। **जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती...** उसी समय में हो, उतने समय का आधार नहीं। साथ में स्वभाव पुरुषार्थ आदि भी शामिल है, यह अकालनय है। समझ में आया? यह कहा था नहीं?... गजपंथा (में) मिले थे। हम यात्रा में गये थे, तब मिले थे। रात्रि में आये थे। सबेरे यात्रा की और फिर दोपहर को... सबेरे आये थे परन्तु फिर बातचीत कुछ हुई नहीं और लोगों के पास बड़ी बातें करे। श्वेताम्बर था, वह छोड़ दिया। फिर मैं कमरे पर गया। कहा, यह क्या है? थोड़ी बातचीत करें, इसका हृदय क्या है? दरवाजा बन्द था, अन्दर बैठे थे। खोला, उठ-बैठ करके स्वयं पैर लगे। मैंने पूछा—पाठ में-शास्त्र में ऐसा आता है कि काल में मोक्ष होता है और अकाल में

मोक्ष होता है। काल में मोक्ष होता है-ऐसा पाठ नहीं। वह समझ गया कि यह मुझे पकड़ेंगे, इसलिए उन्होंने कहा, मैंने यह विचार नहीं किया।

काल और अकाल दोनों हैं। अकाल का अर्थ दूसरा काल - ऐसा नहीं है। अकाल का अर्थ-काल के अतिरिक्त स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्यता इत्यादि साथ में होते हैं, उसे अकालनय कहने में आता है। हैं तो उसी काल में मुक्ति, परन्तु उसी काल में अकाल अर्थात् स्वभाव और पुरुषार्थ शामिल हैं; इसीलिए अकाल कहने में आता है। अकेला काल ही साथ में है (-ऐसा नहीं है)। उसके साथ में स्वभाव, पुरुषार्थ शामिल है। अरे! समझ में आया इसमें? मुक्ति का जो समय है, उसी समय में मुक्ति होगी। अकाल का अर्थ ऐसा नहीं है कि उसका समय आगे-पीछे होता है। उसमें-भगवती आराधना में लेख है। समझ में आया? उसमें से डालते हैं कि देखो! उसमें ऐसा है। अकाल मृत्यु है और दूसरी भी कुछ बात की है। मस्तिष्क में था। एक भगवती आराधना है, वह एक शब्द है, उसमें से निकालते हैं कि देखो! इसमें अकालनय की बात है। पुरुषार्थ से होता है, इसके अतिरिक्त इससे नहीं होता, काल में हो - ऐसा नहीं है। उसका जवाब दिया था। भूल गये, उसका बड़ा पाठ है कि देखो! यह मुक्ति काल पके बिना भी होती है। ऐसा उसमें कहा है। उसका जवाब फिर (एक विद्वान् ने) दिया है। जैनतत्त्वमीमांसा में। यह तो साधारण बात है। बहुत याद नहीं रहता, यह तो भाव याद रहते हैं।

**मुमुक्षु :** पाँच समवाय तो होते हैं न!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पाँच समवाय साथ में कहे परन्तु कालनय से भी बराबर और अकालनय से अर्थात् दूसरे समवाय, उसका नाम अकाल। दूसरे चार भाव साथ में है, उसका नाम अकाल। अकाल अर्थात् आगे-पीछे काल - ऐसा नहीं। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में या उसमें है। इस प्रकार से देखो, ऐसा करे तो ऐसा होता है और ऐसा करे तो ऐसा होता है - ऐसा शब्द है। वह तो वहाँ आगे वस्तु बतानी है। कालफेर होता है - ऐसा वहाँ भी नहीं है। भाव तो जिस समय में है, उस समय में है। जैनतत्त्वमीमांसा में (जवाब) दिया है। इसका नहीं, इस समुच्चयभाव का उत्तर दिया है। जैनतत्त्वमीमांसा में है। नयी में भी है और पुरानी में भी है। आहा...हा...!

**अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती....** इसलिए

लोग ऐसा मान लेते हैं कि इसी काल में होता है – ऐसा नहीं। यहाँ ऐसा नहीं कहना। काल तो वही समय है परन्तु अकेले काल के समय का आधार उसे नहीं है। **कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल...** आम को पकाते हैं न? वह ऐसी एक योग्यता है। समझ में आया? कि स्वभाव और पुरुषार्थ से भी होता है, अकेले काल से होता है – ऐसा नहीं है। स्वभाव और पुरुषार्थ भी होता है, इसलिए उसे अकालनय कहने में आया है। काल का फेरफार है, यह नहीं। यह ध्यान रखना, हों! भाई! जैनतत्त्वमीमांसा में उत्तर दिया है। उनने कहा, देखो! इसमें ऐसा है। इसलिए (इन विद्वान ने) उसका उत्तर दिया है।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## गणधरों के द्वारा नमस्कार योग्य मुनिदशा

अहो! मुनिदशा कैसी होती है? इसका भी लोगों को भान नहीं है। गणधरदेव भी जब नमस्कार-मन्त्र बोलते हैं, **तब 'णमो लोए सव्व साहूणं' — इस पद के द्वारा, गणधर भगवान का नमस्कार सब मुनियों के चरणों में पहुँचता है, तो यह मुनिदशा कैसी होगी? तीन लोक के नाथ भगवान महावीर, सीमन्धर आदि अनन्त तीर्थङ्करों के धर्मवजीर, ऐसे गणधर जब शुभराग के समय नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब उसमें साधु के चरणों में भी नमस्कार आ जाता है। अहा! गणधरदेव भी जिसे नमस्कार करें, वह पद कैसा होगा?**

गणधरों में दो घड़ी में द्वादशाङ्ग की रचना करने की ताकत है – ऐसी सामर्थ्य भले अन्य मुनिवरों में न हो तो भी जिन्होंने मात्र दो घड़ी पहले आठ वर्ष की उम्र में साधु होकर आत्मा में लीनतारूप चारित्रदशा प्रगट की है -ऐसे मुनिवरों को भी गणधरदेव का नमस्कार हो जाता है। आठ वर्ष का राजकुमार अभी-अभी मुनि हुआ हो और गणधर लाखों वर्ष पहले मुनि हुए हों तो भी वे कहते हैं— **'सर्व सन्त मुनियों के चरणों में नमस्कार हो।'** इसमें आठ वर्ष की उम्र में साधु होनेवाले राजकुमार भी आ जाते हैं। **गणधरदेव कहते हैं कि जिसमें हमारा नमस्कार झेलने की ताकत हो — ऐसे सन्तों को हम साधु कहते हैं, उन सन्तों का चारित्र आनन्दमय है, वे सन्त दुःखी नहीं हैं।**

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, महा-महोत्सव प्रवचन*

## नय-३१ से ३३

**अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ३१। पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादिवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ३२। दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ३३।**

आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति। ३१.

आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषकार से [१]नींबू का वृक्ष प्राप्त होता है (उगता है) ऐसे पुरुषकारवादी की भाँति। [पुरुषार्थनय से आत्मा की सिद्धि प्रयत्न से होती है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्य को पुरुषार्थ से नींबू का वृक्ष प्राप्त होता है।] ३२.

आत्मद्रव्य दैवनय से जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है (-यत्न बिना होता है) ऐसा है; पुरुषकारवादी द्वारा प्रदत्त नींबू के वृक्ष के भीतर से जिसे (बिना यत्न के, दैव से) माणिक प्राप्त हो जाता है ऐसे दैववादी की भाँति। ३३.

**प्रवचन नं. २६६, नय ३१ से ३३**

**भाद्रपद कृष्ण ३, रविवार, ०९ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, ३१ वाँ (नय) थोड़ा चला है, फिर से (लेते हैं)। यह आत्मा जो है आत्मा, उसमें अनेक अनन्त-अनन्त धर्म अर्थात् धार रखे हुए भाव हैं। यह बाहर का देखने में अनादि से लगा है। पाँच इन्द्रियों को देखने के लिये वहीं का वहीं, संसार परिभ्रमण (करके) परन्तु अन्दर में इसके धर्म क्या हैं और यह अखण्ड वस्तु क्या है, यह देखने (के लिये) इसने प्रयत्न नहीं किया। अनादि से भटकता (आया है)।

यहाँ अकालनय से (अर्थात्) आत्मा में ऐसी एक योग्यता है कि उस कालनय से ही उसका मोक्ष होता है। जिस समय में इसे मोक्ष होना हो, उसी काल में ही होता है। आहा...हा...! आगे-पीछे नहीं। अकाल में आगे-पीछे आया न? अकाल में आगे-पीछे नहीं, मात्र उस आत्मा में एक समय में जिस काल में मोक्ष जाना है, उस काल में उसमें स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्यता, निमित्त का अभाव आदि होता है। उसे यहाँ अकालनय कहने में आता है। ऐसा (समझने की) किसे पड़ी है? भाई! आहा...हा...! पाँच इन्द्रिय से देखने का इसका अनादि से प्रयत्न है तो उसमें तो पुद्गल ज्ञात होता है।

**मुमुक्षु :** रस में...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** उसमें पुद्गल ज्ञात होता है। मन से जानने में आवे तो अरूपी पर परन्तु जानने में आता है-ऐसा आता है। परन्तु उस परवस्तु का ज्ञान, वह कहीं आत्मा का नहीं है। आहा...हा...! आत्मा जो यहाँ कहना चाहते हैं, प्रभु! जिसे यह पड़ी है, उसे पड़ी है। आहा..!

इस आत्मा में अनन्त धर्म अर्थात् योग्यता के भाव हैं और वह क्या है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है न? प्रभु! यह आत्मा कैसा है? ऐसा प्रश्न किया है, उसने व्यापार कैसे हो और पैसे कैसे मिलें? (यह प्रश्न नहीं किया है)। ऐसी धूल तो अनन्त बार (मिली)। आहा...हा...! अरबोंपति अनन्त बार हुआ है और भिखारी अनन्त बार हुआ, वह कोई नयी चीज़ नहीं है, वह तो भटकते प्राणी के भटकने के भाव हैं। भाई! आहा...हा...!

यहाँ तो शिष्य ने ऐसा प्रश्न किया है, आहा! ऐसा जो शिष्य है कि उसे ऐसा हुआ कि प्रभु! यह आत्मा कौन है? हमने सब बाहर का जाना, सब किया परन्तु उसमें कहीं आत्मा मिला नहीं। आहा...हा...! और उसे जाने बिना आत्मज्ञान होता नहीं और आत्मज्ञान बिना धर्म की शुरुआत होती नहीं। आहा...हा...! तो उसने ऐसा पूछा कि यह आत्मा (कौन है)? पूछनेवाले की योग्यता तो देखो! ऐसे शिष्य को लिया है। सामान्य रीति से सुनने आवे और सुने ऐसों को नहीं। आहा...हा...! जिसे यह आत्मा कौन है? क्या यह सब ज्ञात होता है? उसमें जाननेवाला है कौन? और वह मुझे कैसे प्राप्त हो? ऐसे उसके दो प्रश्न हैं। उसमें पहले कितना है, इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है। जिसे ऐसी चटपटी है... आहा...हा...! यह तो पूरे दिन

कमाना और भोग और विषय... अकेला पाप! पश्चात् भले करोड़ों रुपये पैदा होते हों, वह तो पूर्व के पुण्य के कारण है, वह कहीं प्रयत्न करे; इसलिए पैदा होते हैं-ऐसा है नहीं। आहा...! परन्तु धमाल, यह चौबीस घण्टे उसमें (जाते हैं)। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** प्रत्येक काम में....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** धूल में भी नहीं, पैसा तो धूल है। धूल में भी काम नहीं आता। आत्मा के अन्तरव्यापार के लिये वह बिल्कुल काम नहीं आता। बाहर के राग में निमित्तरूप से हो तो निमित्त है... आहा...हा...! सूक्ष्म बात, भाई! इसने कभी आत्मा क्या है?-ऐसी अन्दर जिज्ञासा भी उत्पन्न नहीं की है। आहा...हा...! और यह आत्मा कैसे प्राप्त हो? इसका उपाय बाद में। उसके उत्तर में कहा कि प्रभु! एक बार सुन!

आत्मा जो है, अनन्त धर्मों में (व्यापक) सामान्य चैतन्यवस्तु है। सामान्य अर्थात् ध्रुव, ऐसा नहीं। यह वस्तु दूसरे से भिन्न है। ये अनन्त धर्म अर्थात् योग्यता के भाव से धारे हुए का अधिष्ठान है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! उसमें के धर्मों का वर्णन करते हुए यहाँ तक आया है। तीसवें (नय में) कहा न कालनय से? यह कल प्रश्न था न? भाई!

राजवार्तिक में 'काल अनियमात'-ऐसा पाठ है। मोक्ष के लिये काल का कोई नियम नहीं। इसका अर्थ वे लोग ऐसा करते हैं कि देखो! चाहे जैसे उल्टे-सीधे काल में मोक्ष होता है। ऐसा अर्थ नहीं है। वहाँ ऐसा अर्थ किया है 'काल अनियमात' अर्थात् काल तो जिस समय में जो (है, वही है) परन्तु जो अनन्त भव्य हैं, उनमें प्रत्येक भव्य को काल यही होता है-ऐसा नहीं है। उसका काल भिन्न-भिन्न होता है। वहाँ व्यक्ति की बात है। आहा...हा...! कोई भव्य प्राणी संख्यात भव में निर्जरा करके मोक्ष जाता है, कोई असंख्यात भव में, कोई अनन्तभव में और कोई प्राणी अनन्त भव में भी मोक्ष जाता ही नहीं—ऐसे प्राणी जगत् में पड़े हैं। आहा...हा...! समझ में आया? उसका उत्तर यह दिया है कि सभी भव्य प्राणी एक ही काल में मोक्ष जायें-ऐसा नहीं है। उसका अर्थ यह नहीं है कि जिस काल में मोक्ष जाये, वह पलट गया है-ऐसा नहीं है। जिस समय में मोक्ष जाने का काल है, उसी समय वह है परन्तु प्रत्येक भव्य को एक काल-समान (काल) नहीं, इतना। बड़ी व्याख्या

की, (एक विद्वान ने) उसका बड़ा जवाब दिया है। किसे ऐसी पड़ी ? भटकता राम अनादि से चार गति में भटकता है बेचारा ? आहा...हा... !

आज यहाँ (एक बहिन के यहाँ) गये थे। कितने दिनों से बेचारी को पूरा शरीर अग्नि से जले, सुलगे-ऐसा अन्दर होता है। ऐसी कल (एक भाई ने) बात की थी। तब कल गये थे, पूरा अग्नि से (जलता हो ऐसा लगता है) जैसे (एक दूसरे भाई को) पैर में होता है, इसे शरीर में अग्नि जलती है। आहा...हा... ! परन्तु यह तो शरीर में है, आत्मा में राग की आग सुलगती है, इसका इसे पता नहीं है। 'राग आग दहै सदा तातैं समामृत सैइये' आहा...हा... ! भगवान आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर... आहा...हा... ! इस शुभ-अशुभभाव के राग में गया है, वह आग है, अग्नि है। अर र र! उसमें आत्मा जलहल करते हुए जलता है, भाई! तुझे पता नहीं है।

**मुमुक्षु :** पैसेदार को....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पैसादार अर्थात् बड़ा मूर्ख! बड़ा भिखारी, कहा नहीं था ? ऐई! दरबार आये थे। कहा था, दरबार आये थे न ? करोड़ का तालुका, करोड़ की आमदनी वार्षिक! कृष्णकुमार, आये थे। अपने मानस्तम्भ (के प्रसंग में) आये थे। कहा—एक लाख की आमदनी महीने माँगे, वह छोटा भिखारी; पाँच की माँगे, वह बड़ा भिखारी; करोड़ माँगे, वह बड़ा भिखारी। उसे करोड़ की आमदनी थी। गुजर गये बेचारे। आते थे, दो बार आये थे। जिन्हें करोड़ों रुपये महीने या वर्ष में चाहिए, वह बड़ा भिखारी है। भगवान अन्दर आनन्द के नाथ की लक्ष्मी पड़ी है, उसकी तो चाहना करता नहीं और इस धूल की चाहना किया करता है। ऐई! नरम व्यक्ति, बेचारा सुने, हमें कहाँ वहाँ पैसेवाला हो या रंक हो, उसको मक्खन लगाना है ? उसके पास से कुछ लेना है ?

**प्रश्न :** हमें तो पैसे की आवश्यकता पड़ती है न ?

**समाधान :** किसे जरूरत पड़ती है ? राग की जरूरत पड़ती है। राग दाह-अग्नि है। शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... ऐसा जो भगवान आत्मा का स्वभाव, उसमें चाहे तो राग—दया, दान, व्रत, भक्ति का हो या हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग का हो परन्तु वह अग्नि है, कषाय अग्नि! 'राग आग दहै सदा' प्रभु! इसलिए समामृत सैईये! अन्दर अमृत का सागर प्रभु है न... आहा...हा... ! वह

अनन्त धर्म का धारक है। उसका लक्ष्य करके जाना है अन्दर ज्ञायक में। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ कालनय से तो जिस समय में मोक्ष होगा, उसका ज्ञान करना, फिर ज्ञान करके जाना कहाँ? उसका ज्ञान। यहाँ अभी वह इन्द्रिय का ज्ञान नहीं। आहा...हा...! यहाँ तो अन्दर का धर्म जो आत्मा में योग्यता है, उसका एक-एक का अन्दर ज्ञान करके... आहा...हा...! यह भी तो अन्दर की बात हुई। बाहर को देखना, इन्द्रियों से यह देखना (यह बात नहीं)।

कहते हैं प्रभु! एक बार सुन तो सही, भाई! इस जन्म-मरण में तू भटक कर मर गया, भाई! आहा...हा...! बड़ा दुःखी है। पैसावाला और अरबोंपति बड़ा दुःखी है। आहा...हा...! बड़ा भिखारी और दुःखी है। पैसे के कारण नहीं, तृष्णा के कारण। यह लाओ, यह लाओ, यह लाओ पूरे दिन होली सुलगती है। भाई! पैसा-धूल-कौन एकत्रित करे? पैसा तो उसके कारण आने हों तो आते हैं, न आने हों तो नहीं आते। आहा..हा...! उससे क्या परन्तु? उसमें आत्मा को क्या लाभ है? राग किया, (उस) राग का लाभ...? आत्मा को नुकसान है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** सेठ कहलाता है....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सेठ कहलाता है। सेठ मरकर जायेगा नीचे। यह हमारे (भाई को) पूछा था न? हमारे बुआ का पुत्र भागीदार था न, उसके नाम की दुकान, बहुत दिमाग ऐसा था परन्तु पुण्य ऐसा था (कि) बड़ी आमदनी होती और दुकान में मान ऐसा। मेरे बड़े भाई, उसके भागीदार थे, उनके बड़े भाई और मैं दो भागीदार थे। दो दुकानें (थीं)। पालेज! सेठ... सेठ... कहते (ऐसा एक भाई ने) एक बार पूछा (हमारे भाई) परन्तु उसे सेठ कहते हैं, तुझे हजार बार सेठ कहते होंगे? नहीं... नहीं.... पाँच सौ बार। ऐसा तो जवाब (दे), मूर्खता का पार है। ऐसे दो-दो लाख की आमदनी... धूल में भी नहीं। (एक भाई ने) पूछा था, हजार बार सेठ कहे? तो कहे नहीं... नहीं... पाँच सौ बार कहे। कहो, अब क्या कहे? यह क्या जवाब दिया? कुछ अक्ल नहीं होती बनिया होकर भी।

हमारे बड़े भाई के भागीदार थे। एक बार उनके कुटुम्ब में से एक मर गया। हमारे कुटुम्ब में से और उनके ननिहाल में से, वहाँ 'उगामडे'। मैंने कहा-यह बेचारा छोटी उम्र में मर गया, गुजर गया। तब उसने जवाब क्या दिया? कि जीने का

लाभ क्या है जीव को ? जीव को लाभ क्या ? अरे ! परन्तु तू क्या बोलता है यह ? मैंने कहा, यह बेचारा छोटी उम्र में मर गया। आहा ! तो कहे, उसके जीव को लाभ क्या ? कहो, यह उत्तर क्या कहता है ? भाई ! यह सब बनिये।

उस बेचारे ने लिखा है, उसने कहा न ? जापान का एक ऐतिहासिक है, बड़ा इतिहास का जाननेवाला ! उसने लिखा है कि मैंने जैनधर्म को पढ़ा है, अन्य धर्म का सब पढ़ा है। जैनधर्म, वह अनुभूति धर्म है। आत्मा के आनन्द का अनुभव करना। राग, विकल्प, दया, दान, व्रत और काम-क्रोध के राग से भिन्न करके भगवान आत्मा का अनुभव करना, जो अनन्त काल से किया नहीं, उसे जाना नहीं, उसे माना नहीं, उसमें स्थिर नहीं हुआ। समझ में आया ? आहा...हा... ! जगत् के ज्ञान को जाना, उसे माना और उसमें-राग में टिककर रहा।

यहाँ कहते हैं कि इसकी जो योग्यता के धर्म हैं, उन्हें जान। दूसरा सब छोड़ दे और उन्हें जान। आहा...हा... ! और वह जानकर भी वहाँ अटकना नहीं है। जिस काल में मोक्ष होना है, उसी काल में होगा और अकाल का अर्थ ?-उस काल में स्वभाव और पुरुषार्थ है, पाँच समवाय साथ में है। पाँच समवाय है न ? काल, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति, और भवितव्यता। आहा... !

**मुमुक्षु :** नियति....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** इस नियति में भी साथ में पुरुषार्थ है, अकेला नियत नहीं। आहा ! नियत है अवश्य परन्तु नियत के काल में अन्तरस्वभाव सन्मुख का पुरुषार्थ है और स्वभाव भी वहाँ साथ में है और भवितव्यता, उस समय जो भाव होना है, वह भवितव्यता भी है और नियति अर्थात् काल भी है। ऐसा कौन समझे ? आहा...हा... ! समझ में आया यहाँ कहते हैं यह ? अकाल में मोक्ष होता है तो उसका अर्थ यह है। है ?

**समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति।** आहा... ! यह तो निमित्त से कथन किया, वरना तो उसी समय होना, उसमें पुरुषार्थ और स्वभाव है। इससे उसे पाँच समवाय को अकाल कहा गया है। आहा...हा... ! इसे भी जानकर, वह भी अकाल में होता है, पाँच समवाय होते हैं और जाने और हो, उसका लक्ष्य करके भी जाना है द्रव्य को देखने

में। आहा...हा...! जहाँ भगवान पूर्णानन्द का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भरा है। आहा...हा...! इसे-बेचारे को कहाँ खबर है?

उस भाई ने लिया है कि लोगों को पेट नहीं भरना है, उन्होंने दूसरा कुछ शब्द प्रयोग किया है। पेटी भरना है, ऐसा कहा। पेट भरना नहीं, पेटी भरना है। पेट भरना नहीं, पेटी भरना है और एक जगह ऐसा लिया है कि खावे-पीवे पूरा हो जाय तो भी निवृत्त नहीं होता; इसलिए नागरबेल का पान लेता है। पान खाता है, वह घास है। पान, वह घास है। घास खाये तो निश्चित यह मनुष्य किसी तिर्यंच में से आया लगता है और या तिर्यंच में जानेवाला है। उसने लिखा है। पढ़ा है या नहीं? उसमें है। नागरबेल का पान क्या है? घास है।

अपने वे सेठ हैं न? बड़े गृहस्थ। पूरे दिन मुँह में नागरबेल का पान, चौबीस घण्टे। अभी आये नहीं थे? बड़े गृहस्थ, दो मील में तो जमीन है। सरकार की ओर से कृषि पण्डित की उपमा है, दिगम्बर जैन है, सेठ है, लड़का-लड़की कोई भी नहीं है। छोटे भाई का लड़का रखा है परन्तु आमदनी तो आमदनी, ढेर... ढ़ेर! दस-दस लाख के गेहूँ, दस लाख की कपास, दास लाख की मूँगफली, इस आमदनी का ढेर। एक बार उसके मकान में उतरे थे। पश्चात् सामने देखा तो (पूछा) यह किसकी जमीन है? एक मील, दो मील सब उसकी जमीन है। मील, दो मील जमीन! बड़ा कृषि पण्डित, यहाँ आया था अभी, नहीं? उसकी पत्नी नहीं आयी थी। ऐसे ओघे-ओघे आना इतना, बाकी निर्णय करने का कोई ठिकाना नहीं। ऐसी बातें हैं। उसे कृषि पण्डित (कहते हैं)। खावे-पीवे बड़ा गृहस्थ, धनाढ्य, पैसेवाला, पाँच-सात लाख, दस लाख का घर में मन्दिर बनाया है, स्वयं अपने से बनाया है। पैसा तो बहुत पैसा, कितना ही होगा, कितने ही करोड़ होंगे, एक करोड़ ऐसा नहीं। एक ही कर्ता-हर्ता। स्वयं ही अकेला। छोटा भाई है परन्तु... आहा...हा...! उसे खाकर फिर नागरबेल का पान (चाहिए)। इन्होंने (धर्म के दशलक्षण पुस्तक में) स्पष्टीकरण किया है कि इसे पेट नहीं भरना है, पेट भरनेमात्र नहीं, पैसा इकट्ठा करने को पेटी भरनी है और पान खाना है। पशु की तरह घास (खाता है)।

**मुमुक्षु :** बड़े व्यक्ति को....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** किसे बड़ा कहना? बड़ा मरकर जाये नरक में। उसे बड़ा कहना? आहा...हा...! ढोर में जाये, बापू! भाई! तुझे पता नहीं। भगवान ने

गोम्मटसार में वर्णन किया है कि यह जो गाय, भैंस, घोड़ा तिर्यंच है; ये मनुष्य ऐसे ऊँचे हैं, वे गाय, भैंस, गिलहरी, आड़ें है। वे आड़े क्यों हुए? वक्रता बहुत की थी। राग और मान। अकेला मान और राग और लोभ, मान और लोभ में इतने खिंच गये थे कि आत्मा के स्वभाव से बहुत वक्रता की थी, (इसलिए) मरकर ढोर में (गये हैं)। उनका शरीर आड़ा हो गया। मनुष्य ऐसे (ऊँचे) हैं तो (उनके-तिर्यंच के) शरीर आड़ा हो गये हैं। आहा..हा...! भाई! ऐसी बातें हैं, बापू! ऐसे अरबोंपति हो, अरबोंपति! वह मरकर तिर्यंच में-ढोर में जाये। गाय और भैंस का बछड़ा हो या छिपकली के गर्भ में जाये। छिपकली ऐसे आड़ी होती है न? सूक्ष्म बात है, भाई! गोम्मटसार में भगवान ऐसा कहते हैं कि ये तिर्यंच क्यों हुए? कि इन्होंने तिरछा मान और लोभ बहुत वक्रता करके सेवन किये। मरकर आत्मा तो वक्रता में आ गया परन्तु उनका शरीर भी ऐसा आड़ा हो गया। आहा...हा...! भाई! ऐसा कठिन है यह।

**मुमुक्षु :** तिर्यंच ही अधिक है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** तिर्यंच बहुत हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच की संख्या इतनी है कि बड़े-बड़े गृहस्थ माँस, शराब न खाते (पीते) हों तो (सब तिर्यंच में जाते हैं)। नहीं तो माँस, शराब खाते (पीते) हों तो मरकर नरक में जाते हैं परन्तु नरक जाने के भाव न हों और तिरछे-आड़े परिणाम करते हों तो वे मरकर तिर्यंच में जानेवाले हैं। बहुभाग (तिर्यंच में जानेवाले हैं -ऐसा) शास्त्र वर्णन करते हैं। आहा...हा...! उस जापानवाले ने ऐसा कहा कि बनियों को (जैनधर्म) हाथ आया और व्यापार के कारण निवृत्ति नहीं मिलती (कि) यह क्या चीज़ है। इसे निर्णय करने का समय नहीं मिलता - ऐसा लिखा है। जापान का बड़ा ऐतिहासिक है, जबरदस्त, ६७ वर्ष की उम्र, बहुत हजारों (पुस्तकें) पढ़ी हैं। फिर उसका लेख आया था कि जैनधर्म का सार अनुभूति है। आत्मा अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसकी दृष्टि करके अनुभव करना यह जैनधर्म का स्वरूप है परन्तु यह धर्म बनियों को मिला, बनिये व्यापार के कारण निवृत्त नहीं होते।

**प्रश्न :** उसे वहाँ बैठे-बैठे पता पड़ गया?

**समाधान :** पता नहीं पड़ता? बनिये अर्थात् जितने व्यापार करनेवाले (हैं वे सब)। पूरे दिन होली सुलगती है। निवृत्ति घण्टे, दो घण्टे, चार घण्टे की (कहाँ

है)! एक घण्टे किसी समय कठिनाई से (निवृत्ति ले) तो सुनना, पूजा-भक्ति (करे), उसमें राग मंद हो तो पुण्य हो, धर्म तो कुछ है नहीं। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं तुझे यदि आत्मा कैसा है—ऐसा यदि तुझे जानना हो कि कैसा है? तो उसमें एक योग्यता ऐसी है कि जिस काल में मोक्ष हो, वैसी उसकी एक योग्यता-धर्म है और एक धर्म ऐसा है कि उसी समय में स्वभाव और पुरुषार्थ से भी (मोक्ष) हो। उस समय में उसका ऐसा एक भाव है, उसे जानकर अन्तर में जा! जहाँ भगवान पूर्णानन्द का प्रभु अन्दर है। अरे रे! कैसे बैठे? समझ में आया? ये काल और स्वभाव की बात करके, जानकर इसे कहाँ जाना है? और यह जानना, परन्तु इसे इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होता-ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! यह (शरीर) तो मिट्टी, धूल है। उसके लक्ष्य से तो बाहर का ज्ञान होता है। आहा...हा...! यह जो धर्म है, उन्हें जानने के लिये भी अतीन्द्रिय ज्ञान के लक्ष्य से वे ज्ञात होते हैं। आहा..हा...! और उस एक धर्म को जानकर या सब अनन्त धर्मों को जानकर भी (अन्दर जाना ऐसा है।) धर्म अर्थात् इसने धार रखे हुए भाव! (उन्हें) धारनेवाला भगवान अधिष्ठान कौन है? आहा...हा...!

पाँच इन्द्रिय को जानने में इसने पूरी जिन्दगी, वर्ष, अनन्त भव बिताये परन्तु यह आत्मा अन्दर कौन है? यह जानने का कभी समय लिया ही नहीं। निवृत्ति ही नहीं होती भटकने में। भाई! लोहे का कारखाना, लो! मुम्बई में कारखाना, यहाँ कारखाना... अरे! होली सुलगती है! आहा...हा...! वह सेठ आया नहीं था? व्याख्यान में आया था, अभी गुजर गया। चालीस करोड़! चालीस करोड़ रुपये! अभी गुजर गये। दूसरा तुम्हारा बड़ा सेठ नहीं आया था? वैष्णव, वहाँ मुम्बई आया था, पचास करोड़! मुम्बई (में) दर्शन करने आया था। ये तो यहाँ आया था, वहाँ हम गये थे, वहाँ भी आते थे। कौन सा गाँव कहा? डालमियानगर! डालमिया गये थे, वहाँ वे थे। डालमिया इनके ससुर का गाँव, परन्तु ससुर ने सब इसे दे दिया। लड़का नहीं था। चालीस करोड़ रुपये!

यह दूसरा पचास करोड़वाला, अभी कहा, मुम्बई दर्शन करने आया था। कहा- हम वैष्णव हैं। ईश्वरकर्ता है न? कहा-ईश्वरकर्ता तू कहता है परन्तु नरसिंह मेहता क्या कहते हैं? वे तो ऐसा कहते हैं कि 'ज्यां लगी आत्मतत्त्व चीन्यौ नहिं त्यां लगी साधना सर्व झूठी।' अन्तर का आनन्द का नाथ, उसकी जिसने अन्तर नजर

नहीं की और उसे नहीं जाना, तब तक दया, दान, व्रत, भक्ति सब मिथ्या है। आहा...हा...! बेचारा सुनता था, उसे कहाँ पड़ी है? पचास करोड़ रुपये। चारों ओर, दस लाख, बीस लाख, डाल-डालकर बड़ी दुकानें (की है), हांगकांग में और अमुक है और अमुक है... मार डाला। पचास करोड़! है अभी, मुम्बई आया था। महिलायें सब श्वेताम्बर जैन और लड़के सब वैष्णव। ऐसा एक बड़ा घर है, मुम्बई में है। आया था, दर्शन करने आया था। एक हजार रुपये रखे थे, नारियल रखा था, महाराज! मेरे घर में चरण करोगे? सब महिलायें जैन हैं न!

**मुमुक्षु :** आप पधारो तो रुपये बहुत पैदा होते हैं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** गहरे... गहरे... गहरे... ऐसी हमारी आशा लोगों को है न! महाराज के चरण हों तो अपने को ऐसा हो। वह तो बेचारा वैष्णव था, परन्तु फिर भी महिलाओं को प्रेम था। गये थे। पन्द्रह सौ रुपये और नारियल वहाँ रखा था और हजार यहाँ रखे थे। कहा, बापू! मार्ग-धर्म कोई अलग ही चीज़ है। यह तेरे रुपये-बुपये धूल में (कुछ नहीं) और उसमें दस लाख और बीस लाख दे देवे, इसलिए धर्म हो जाये—(ऐसा) तीन काल में नहीं है। यह पैसा मैं देता हूँ, ऐसे स्वामीरूप से माने, वह महामूढ़ मिथ्यादृष्टि जड़ है। आहा...हा...! भैंस का स्वामी पाड़ा होता है, वैसे लक्ष्मी जड़ है, उसका स्वामी होवे तो जड़ है। अरे... अरे...! कठिन काम, भाई!

**मुमुक्षु :** .....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** परन्तु किसका है? कहाँ था उसके पास? उसके पास था, वह तो उसमें है, पैसा उसमें है। यहाँ (आत्मा में) आया है? आत्मा तो पैसे को स्पर्श भी नहीं करता, पैसा आत्मा को स्पर्श नहीं करता। अरे...! प्रभु! आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि यह सब लक्ष्य में से छोड़ दे। अन्तर में अनन्त गुण का धनी प्रभु है, उसका लक्ष्य एक-एक गुण पर कर और सबका करके अन्तर में देख। चिदानन्द भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर पड़ा है। आहा...हा...! अरे रे! कहाँ निवृत्ति इसमें? यह कहा, ३१ (नय पूर्ण) हुआ।

अब ३२। **आत्मद्रव्य....** द्रव्य लिया है न? आत्मद्रव्य (अर्थात्) वस्तु। द्रव्य अर्थात् यह पैसा-धूल नहीं। आत्मद्रव्य। आहा...हा...! एक बार हुआ था न

वह ? द्रव्यदृष्टि वह सम्यग्दृष्टि। एक 'थान' वाला आया था। थान में पोटरीवाला (था) यहाँ स्वाध्यायमन्दिर में लिखा था, यह (परमागममन्दिर) तो अभी साढ़े पाँच वर्ष पहले हुआ। वहाँ उस मकान में लिखा था 'द्रव्यदृष्टि वह सम्यग्दृष्टि।' यहाँ करोड़पति लोग बहुत आते हैं, (इसलिए) पढ़कर कहा, द्रव्यदृष्टि अर्थात् द्रव्यवाले सम्यग्दृष्टि-वह यह है ? अरे रे! कुछ पता नहीं होता। ६०-७० वर्ष व्यतीत किये हों। पोटरी, बड़ी पोटरी, मिट्टी के बर्तन 'थान' में (बनाता है)। बहुत वर्ष (पहले की) बात है। यहाँ स्वाध्यायमन्दिर में पूछा था। मैंने कहा-द्रव्यदृष्टि (अर्थात्) यहाँ पैसे की बात नहीं है। द्रव्य अर्थात् आत्मा... आहा..हा...! उसे यहाँ तो द्रव्य कहा जाता है। उस द्रव्य की दृष्टि अन्दर करे, उसे सम्यग्दर्शन होता है, उसे जन्म-मरण के अन्त का अवसर आता है। बाकी तो मरकर चार गति में भटकेंगे। आहा...हा...! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि के भाव भी राग हैं, वे कहीं धर्म नहीं। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि **आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से....** पुरुषार्थ की दृष्टि से **जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है...** पुरुषार्थ से जिसकी मुक्ति होती है। राग से भिन्न पड़कर, अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, पुरुषार्थ से उसकी दृष्टि और अनुभव होता है तथा पुरुषार्थ से उसकी मुक्ति होती है। समझ में आया ? यह एक धर्म / योग्यता है, यह भी एक धर्म है, हों! धर्म शब्द से (आशय) उसका पर्याय का धर्म है। धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बात यहाँ नहीं है। आत्मा में धार रखा हुआ भाव, उसे यहाँ धर्म कहने में आता है। ऐसी बातें हैं।

**मुमुक्षु :** कोई सरल रास्ता दिखा दो न!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** सरल में सरल ही यह रास्ता है। जिसे जिसकी मुक्ति करनी है, वह कौन है, उसे जानना, मानना और स्थिर होना, वह इसका उपाय है। आहा...हा...! यहाँ तो ज्ञानप्रधान से कथन है न! ये सब सैंतालीस नय लिये। बाकी अनन्त नय हैं। ज्ञान के अंश, धर्म के अंश हैं, उन्हें जाननेवाले ऐसे अनन्त नय हैं परन्तु यहाँ एक पुरुषकारनय की व्याख्या चलती है।

पुरुषार्थ से... आहा...हा...! **जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है...** पुरुषार्थ से आत्मा की प्राप्ति होती है। पैसे आदि की प्राप्ति पुरुषार्थ से नहीं होती, वह तो पूर्व के पुण्य (के कारण आते हैं)। बुद्धि के वारदान होते हैं (बुद्धिहीन होते हैं) और

अरबोंपति दिखते हैं। वारदान समझे न? कोथली, खाली थैली। बातें करनेवाले! और अरबोंपति होते हैं और बुद्धि के खाँ (बुद्धिमान) हों, (उन्हें) महीने में दो हजार (रुपये) कमाने में पसीना उतरता होता है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, आत्मा का जो मोक्ष है... काललब्धि कही थी। काल में होता है, तथापि वह यत्नसाध्य है। काल में भले हो परन्तु पुरुषार्थ से होता है। समझ में आया? जिस काल में जो समय होने का वही है परन्तु पुरुषार्थ से वह काल पकता है। आहा...हा...! क्या कहते हैं यह? इसमें करना क्या परन्तु इसमें हमारे? भाई! तू कौन है? उसे जानने का पहले प्रयत्न कर और एक-एक (नय को जानकर), उसका प्रयत्न करके अन्तर में देखना है। चैतन्य का सागर अन्दर भगवान है, उसकी दृष्टि करनी है, तब इसने आत्मा जाना और आत्मा का दर्शन होगा। काम बहुत कठिन है।

अभी एक तो सुनने को नहीं मिलता, उसमें बेचारा भटकनेवाला चार गति में, अनादि से ऐसे भव किये हैं। बड़ा अरबोंपति मरकर ढोर में-तिर्यंच में जाता है। आहा...हा...! वापस मनुष्यपना मिलना अनन्त काल में मुश्किल होता है। आहा...हा...! उसमें तत्त्व का, वास्तविक तत्त्व है, उसका विराधक-तत्त्वज्ञान का विराधक तो निगोद में जाता है। लहसुन और प्याज, एक शरीर में अनन्त जीव हैं, वहाँ वह जाता है। आहा...हा...! अरे! ऐसा काम। लोगों को कहाँ (पड़ी है)? तत्त्व का विराधक-विरोध करनेवाला, दया, दान और व्रत के परिणाम से धर्म माननेवाले, वे तत्त्व का विरोध करनेवाले हैं, क्योंकि वह राग है, राग से धर्म नहीं होता। ऐसा जो विरोध करनेवाले जीव हैं, सम्यग्दर्शन का नाश करके मिथ्यात्व को पाकर (पुष्ट कर) निगोद में जाते हैं। वह पशु की गति है। निगोद की गति पशु की है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं, वे पशु हैं और ये निगोद के जीव... आहा...हा...! लहसुन और आलू, लहसुन और प्याज (के) एक टुकड़े में असंख्य शरीर; एक शरीर में अनन्त जीव हैं। ऐसी तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की पुकार है। अरे...! कौन सुने? आहा...हा...! यह तत्त्व का विरोध करनेवाला मिथ्यादृष्टि निगोदगामी है। आहा...हा...! यहाँ तो वहाँ तक कहा कि वस्त्र का टुकड़ा रखकर हम मुनि हैं-ऐसा माने, मनावे वह निगोद में जायेगा। आहा...हा...! 'निगोदं गच्छई' पाठ है। सूत्रपाहुड़! बात बहुत अलग है, भाई! धर्म की वस्तु कोई अलौकिक बात है!

'बालपन खेल में खोया, युवानी स्त्री में मोह्या, वृद्धपन देखकर रोया'... हो गया, जाओ मरकर... आहा...हा...! ये गाते थे, हम पालेज में थे न, जब उसका यह आता है न! क्या कहलाता है। रोजा! दुकान के बाहर खाट डालकर सो रहे हों, चार बजे उनका मुसलमान फकीर निकले। 'बालपने खेल में खोया' यह गाये। आहार लेने के लिये (निकले)। रोजा में रात्रि में खाते हैं न? ऐसे बोलते हैं। भान कुछ नहीं होता, भाषा (बोलते हैं)। आहा...हा...! बालपने में बालपने खेल में खोया। कुछ भान नहीं होता और युवा हुआ वहाँ स्त्री में.... गया पूरा। आहा...हा...! आत्मा को मार डाला! युवा हुआ (पश्चात्) वृद्धपना आया, शरीर की जीर्णदशा हो गयी। आहा...हा...!

देखो न! अभी (एक) बहिन को ऐसा हुआ है, बहुत वर्ष में मैं वहाँ गया। आज विचार हुआ। भाई ने कहा कि उनके शरीर में ठीक नहीं है। जलन (होती है), पूरे शरीर में अग्नि जलती है। (दूसरे भाई को) तो पैर में ही है। वे कल मुम्बई गये। इसे तो पूरे शरीर में अग्नि जलती है। अरे...! भाई! ऐसे भव तो अनन्त किये हैं, बापू! यह जामनगर की भावसार है न? (दूसरी) बहिन चाकरी करती थी, रोने लगी। क्या पूरे दिन वहाँ रहना पड़ता है? बेचारी को (पूरे शरीर में) अग्नि जलती है, हाथ में, पैर में (सर्वत्र)। अब साथ में रहें, तब हुआ। अब वहाँ से उसे निकलना पड़ेगा, बेचारी रोती थी। बाहर निकले थे न! आज रविवार था, कहा उसके घर जाते हैं। (एक भाई ने) बात की थी इसलिए (गये थे)। आहा...! अरे! ऐसा मुर्दा जैसा शरीर, उसमें दाह का पार नहीं होता। भाई को नहीं? रखियालवाले भाई। ऐसी पीड़ा, ऐसी पीड़ा है। व्याख्यान देते हैं। मुम्बई में थे न कहीं, नहीं? दादर में। यहाँ से ऐसी पीड़ा, चोट पड़े ऐसी, इतने में ही। अब उसमें पूरे शरीर में पड़े तो... आहा...हा...! मुर्दा है बापू! यह तो मृतक कलेवर है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** .....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह कहा न? अमृत का सागर मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया है। अन्तर भगवान का स्वरूप तो अन्दर अमृत सागर, सुख का सागर, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु, स्वयं आत्मा है। यह मृतक कलेवर-मरा हुआ मुर्दा है यह तो, अभी, हों! मृतक कलेवर में अमृत सागर मूर्च्छित हो गया है। आहा...हा...! सर्वस्व वहाँ आत्मा अर्पित हो गया। हम सुख का वेदन करते हैं, अरे!

मर जायेगा बापू! अरे! आत्मा के आनन्दस्वरूप का तूने घात कर डाला, प्रभु! तूने तेरे स्वरूप की हिंसा की है, प्रभु! आहा...हा...! दूसरे की हिंसा करे या दया पाले, वह तो कर नहीं सकता। आहा...हा...! स्वरूप की हिंसा कर सकता है और स्वरूप की दया पाल सकता है। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन में स्वरूप को स्वीकार करता है, उसने जीव की दया पाली, अपनी (दया पाली) आहा...हा...! ऐसी बातें हैं, भाई! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई!

दशलक्षण का पढ़ा न? भाई! दशलक्षण की (पुस्तक) भाई ने बनायी है न? ३४ पण्डितों ने महिमा की है। भाई! ३४ पण्डित! ३४ बड़े-बड़े पण्डितों ने महिमा की है। ओहो...हो...! यह पुस्तक अद्वितीय पुस्तक! दशलक्षण धर्म की ऐसी व्याख्या कोई नहीं कर सका। बहुत महिमा की है। ३४ पण्डितों का अंक रखा है (अभिमत दिये हैं)। वह उसमें है, देखो! है न? देखो, अंक है, देखो! ऐसे ३४ पण्डितों ने पुस्तक की महिमा की है। ओहो...हो...! (इनकी) कथन शैली, लेखक शैली, वक्ताशैली... आहा...! बात भी सच्ची है। है ४४ वर्ष की उम्र, परन्तु क्षयोपशम (बहुत)।

**मुमुक्षु :** आपका रंग लगा है न!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** एक व्यक्ति ने लिखा है। उसमें लिखा है, हों! एक व्यक्ति ने लिखा है। कहीं है। (एक विद्वान ने लिखा है)—यह सब श्री कानजीस्वामी ने धर्म का विज्ञान का धरातल दिया है, उसमें से यह सब निकाला है, यहाँ का है न! धर्म का-विज्ञान का धरातल दिया है। धरातल निकालकर बताया है। इसमें यह लिखा है। इसमें उसकी महिमा की है। आहा...हा...! वस्तु ही ऐसी है।

परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव गणधर और इन्द्रों के मध्य प्रभु ऐसा कहते थे। आहा...हा..! वह कहते हैं। **पुरुषकारनय....** उस काललब्धि से होता है, तथापि पुरुषार्थ! उस काललब्धि के समय पुरुषार्थ होता है। वह अकाल में आ गया न? आहा...! अन्तर में स्वभाव का पुरुषार्थ। राग—दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम राग हैं। हिंसा, झूठ, विषयभोग, वासना में पाप राग है। यह तो सब संसारबन्ध का कारण है। आहा...हा...! इससे भिन्न स्वभाव चैतन्यमूर्ति भगवान, अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उस ओर का पुरुषार्थ करके अन्दर जाता है। आहा...हा...!

**पुरुषकारनय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है...** पुरुषार्थ साध्य है। **ऐसा है,...** ऐसा आत्मद्रव्य है। है न? आहा...हा...! यह तो वीतराग की वाणी है, भाई!

**जिसे पुरुषकार से नींबू का वृक्ष प्राप्त होता है...** यह नींबू का वृक्ष मिलता है न? उसमें किसी समय उस नींबू में, ऐसा कहेंगे देखो **( उगता है ) ऐसे पुरुषकारवादी की भाँति। [ पुरुषार्थनय से आत्मा की सिद्धि प्रयत्न से होती है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्य को पुरुषार्थ से नींबू का वृक्ष प्राप्त होता है। ]** उसमें नींबू में से रत्न निकले। ठलिया के बदले रत्न निकले। यह है। एक भाई कहते थे। कलकत्ता में हुआ था। जामनगरवाले वकील थे न? वे कहते थे कि एक व्यक्ति को नींबू में से माणिक निकला। ठलिया के बदले माणिक! वह यह दृष्टान्त दिया है। आहा...हा...! जैसे नींबू लेने पर उसे माणिक मिला, इसी प्रकार भगवान की ओर का प्रयत्न करने पर परमात्मपद मिला। आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

धर्म कोई ऐसी चीज़ है। यह तो पूजा की, भक्ति की, और घण्टे भर कुछ सुना तो धर्म हो गया। धूल में भी (धर्म) नहीं है। आहा...! उसमें कुछ पैसा-वैसा देता हो, करोड़पति हो (तो वह) दस-पाँच लाख (देता हो)। पाँच लाख अभी नहीं दिये? (एक व्यक्ति ने) पाँच लाख दिये। आज सुना था कहीं? (एक भाई के पास) पाँच-छह करोड़ रुपये हैं। हम मुम्बई उसके घर गये थे। अरबस्थान में बड़ी दुकान है, बड़ी आमदनी है। वे मोरबी के होंगे, उसने पाँच लाख दिये। यह सब उद्धार करो, यह सब साफ करो। ऐसा सुना है। राहत चन्दा! तुम्हारा राहत चन्दा कहलाता है, परन्तु यह कुछ पैसा दिया, इसलिए उसे धर्म होता है, इस बात में जरा भी दम नहीं है। पैसा मेरा है और मैं देता हूँ (-ऐसा मानता है वह) महामिथ्यात्व के पाप को बाँधता है। आहा...हा...! और कदाचित् राग की मन्दता करके क्रिया हुई हो तो वह पुण्य है, धर्म नहीं। पुण्य बन्धन की बेड़ी है। सोने की भी बेड़ी और लोहे की भी बेड़ी। दोनों बेड़ी है। वैसे शुभभाव भी बेड़ी और अशुभभाव भी बेड़ी है। आहा...हा...! अरे रे! कहाँ दरकार है?

यहाँ कहते हैं कि **पुरुषकारवादी की भाँति। [ पुरुषार्थनय से आत्मा की सिद्धि प्रयत्न से होती है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्य को पुरुषार्थ से नींबू का वृक्ष प्राप्त होता है। ]** (माणिक की बात) देवनय में डालेंगे। यह तो पुरुषार्थ से नींबू का वृक्ष प्राप्त हुआ।

अब, **आत्मद्रव्य दैवनय से....** इसमें डालेंगे। दैवनय से, आहा! **जिसकी**

**सिद्धि अयत्नसाध्य है....** अन्तर का प्रयत्न करता है परन्तु यह कर्ता हूँ-ऐसा जहाँ नहीं, ऐसा। उसका अर्थ अयत्नसाध्य है। **( -यत्न बिना होता है ) ऐसा है; पुरुषकारवादी द्वारा प्रदत्त नींबू के वृक्ष के भीतर से....** पुरुषार्थ से जिसने नींबू का वृक्ष प्राप्त किया, वह नींबू इसे दिया। **नींबू के वृक्ष के भीतर से जिसे ( बिना यत्न के, दैव से ) माणिक प्राप्त हो जाता है....** उस नींबू में माणिक होता है। पुरुषार्थ द्वारा वह नींबू का वृक्ष मिला और उसने दूसरे को दिया, उसने कुछ पुरुषार्थ नहीं किया था, कहते हैं, परन्तु पुण्य के कारण उसमें से माणिक मिला। नींबू में माणिक! है या नहीं?

**मुमुक्षु :** नींबू में माणिक होता होगा, तभी आचार्य ने लिखा होगा।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** है, बात की थी न? (एक भाई ने) बात की थी। कलकत्ता में ऐसा हुआ था। (वे भाई) कलकत्ता भी जाते थे। काठियावाड़ में दिगम्बर शास्त्र का पहला अभ्यास उन्हें था। शुरुआत से, बहुत समय से (था) जामनगर। वे बहुत बार यहाँ आते थे, रहते थे। फिर एक बार बात की थी कि मैं वहाँ गया था तो नींबू में से एक व्यक्ति को माणिक निकला। कहा, शास्त्र में पाठ है। आहा...हा...!

जैसे अग्नि के निभाड़ा होते हैं न? अग्नि के निभाड़ा, उसमें उंदर पकता है। अग्नि का उदर! बोटाद के पास खस में हुआ है। कुम्हार ने निभाड़ा सुलगाया, नलिया का या ईंटों का होगा, उसमें उंदर देखा, यह क्या? शास्त्र कहता है अग्नि की योनिवाला उंदर होता है। अग्नि में उत्पन्न हुआ उंदर होता है, बाहर निकले तो मर जाये - ऐसी बातें हैं।

इसी प्रकार पुरुषार्थ न किया हो और पुरुषार्थ करनेवाले ने नींबू दिया हो, पुरुषार्थ नहीं करनेवाले को देव की योग्यता थी तो उसने नींबू दिया तो उसमें से माणिक निकला। आहा...हा...! ऐसा भी आत्मा में एक (धर्म है)। **दैवनय से जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है....** ऐसी एक योग्यता गिनी। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! एक ओर (कहे) मोक्ष यत्नसाध्य है, वह भी धर्म, उसकी योग्यता है। एक ओर (कहे) अयत्नसाध्य है, वह भी उसकी योग्यता का एक धर्म है। धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन धर्म, वह धर्म नहीं। आत्मा ने धार रखा हुआ भाव। आहा...हा...! अब ऐसा (समझने के लिये) कहाँ निवृत्ति है?

दोनों परस्पर विरुद्ध हैं परन्तु इसकी योग्यता के दोनों धर्म हैं। काल में मोक्ष

होता है, अकाल में (मोक्ष होता है) यह भी दोनों एक समय में होते हैं। यह पुरुषार्थ और दैव से, यह भी एक समय में होते हैं। किसी को पुरुषार्थ से हो और किसी को दैव (से हो) -ऐसा नहीं है। क्या कहा यह ? इसी आत्मा की पर्याय में पुरुषार्थ से होता है और यत्न बिना होता है—ऐसे दो धर्म एक समय में है। किसी को पुरुषार्थ से हो और किसी को अयत्नसाध्य से हो तो, ऐसा नहीं है। अरे! किसी को काल में मोक्ष हो और किसी को अकाल में हो-ऐसा नहीं है। जिस समय में मोक्ष होना है, उस समय में काल है और उसी समय में अकालनय उसके साथ है। अरे! ऐसी सूक्ष्म बातें! अभी समझने का ठिकाना नहीं, उसकी चीज़ क्या है ? उसमें भरा क्या है ? उसे जानकर भी, उसे वापस अन्दर द्रव्य का स्वभाव देखना है। चैतन्यप्रकाश की मूर्ति प्रभु है। अरे रे! यह तो महा परमात्मस्वरूप अन्दर आत्मा अन्दर परमस्वरूप है। इस धर्म का लक्ष्य करके भी जाना है इसे अन्दर में-दृष्टि में। आहा...हा...! ऐसा सब कठिन पड़े, इसलिए लोगों को बेचारों को चढ़ा दिया, व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो, दान करो, धर्म हो जायेगा। धर्म के चार प्रकार-दान, शील, तप, भावना (-ऐसा कहते हैं)। वह दान कौन सा ? यह पैसा देना, आहार देना आदि, परन्तु यह दान ही नहीं है। दान तो आत्मा में स्वरूप की दृष्टि करने से जो निर्मलता प्रगट हो, वह आत्मा को दे वह दान है। सम्प्रदान नाम का उसमें गुण है। अरे! ऐसी बातें! कहीं मेल नहीं खाता और मेलवाली बात है। आहा...हा...! क्या कहा यह ?

अपने पुरुषार्थ से वहाँ मिलता है और उसी समय में अयत्नसाध्य भी है। किसी को पुरुषार्थ से मिले और किसी को पुरुषार्थ बिना मिले-ऐसा नहीं है। एक दैव-अयत्नसाध्य की योग्यता भी इसमें गिनी है। आहा...हा...! काललब्धि पकने का समय इसे आ गया और अन्दर में ऐसे गया वहाँ वस्तु मिल गयी - ऐसा कहते हैं। फिर टिके या न टिके, वह अलग वस्तु है। समझ में आया ? आहा...हा....! यह यत्नसाध्य कहा। अन्दर आने का काल इसका पक गया न! इसलिए जहाँ अन्दर ऐसे गया, वहाँ वस्तु प्राप्त हुई। समझ में आया ? ऐसा भी इसकी योग्यता का एक धर्म है। अनन्त धर्म में से यह भी एक योग्यता का धर्म है। किसी जीव को पुरुषार्थ से हो और किसी को अयत्नसाध्य से हो-ऐसा नहीं। इसी प्रकार किसी को कालनय से हो और किसी को अकालनय से हो - ऐसा नहीं। इसमें योग्यता के ऐसे धर्म गिनने में आये हैं।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## नय-३४ से ३९

**ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थवालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ३४। अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ३५। गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारक-वद्गुणग्राहि ३६। अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ३७। कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादि-परिणामकर्तृ ३८। अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि३९।**

आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतन्त्रता भोगनेवाला है, धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक की भाँति। ३४.

आत्मद्रव्य अनिश्वरनय से स्वतन्त्रता भोगनेवाला है, हिरन को स्वच्छन्दता (स्वतन्त्रता, स्वेच्छा) पूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह की भाँति। ३५.

आत्मद्रव्य गुणीनय से गुणग्राही है, शिक्षक के द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमार की भाँति। ३६.

आत्मद्रव्य अगुणीनय से केवल साक्षी ही है (-गुणग्राही नहीं है), जिसे शिक्षक के द्वारा शिक्षा दी जा रही है ऐसे कुमार को देखनेवाले पुरुष (-प्रेक्षक) की भाँति। ३७.

आत्मद्रव्य कर्तृनय से, रंगरेज की भाँति, रागादि परिणाम का कर्ता है (अर्थात् आत्मा कर्तानय से रागादिपरिणामों का कर्ता है, जैसे रंगरेज रंगने के कार्य का कर्ता है।) ३८.

आत्मद्रव्य अकर्तृनय से केवल साक्षी ही है (-कर्ता नहीं), अपने कार्य में प्रवृत्त रंगरेज को देखनेवाले पुरुष (प्रेक्षक) की भाँति। ३९.

**प्रवचन नं. २६७, नय ३४ से ३९**
**भाद्र कृष्ण ४, सोमवार, १० सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, नय अधिकार। ३३ नय चले हैं। अब, ३४। उसका प्रश्न यह था कि यह आत्मा कितना है? उसमें इस प्रश्न का उत्तर, यह जो नयों का विषय है, वह सब इसमें है, इतना वह आत्मा है। अनन्त नयों में व्यापक ऐसा द्रव्य है अथवा अनन्त नयों में व्यापक श्रुतज्ञान है, उस श्रुतज्ञान प्रमाण से वह विषय हो, इतना वह आत्मा है। आहा...हा...! ३४।

**आत्मद्रव्य ईश्वरनय से....** ईश्वर अर्थात् स्वतन्त्रता के कारण से। है तो स्वतन्त्र, परन्तु अपनी शक्ति से निमित्त के आधीन होता है। समझ में आया? **ईश्वरनय से परतन्त्रता भोगनेवाला है,...** कर्म के निमित्त में स्वयं जुड़ता है, वह ईश्वरनय से स्वतन्त्ररूप से पराधीन होता है। उसे कोई पराधीन नहीं करता। आहा...हा...! समझ में आया? राग जो होता है, वह निमित्त के आधीन होता है, ऐसा एक धर्म इसमें है।

**ईश्वरनय से परतन्त्रता भोगनेवाला है,...** अपनी शक्ति के धर्म से वह निमित्ताधीन (होकर परतन्त्रता) भोगनेवाला है। स्वतन्त्र है, कर्म इसे भोगाता नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया इसमें? आहा...हा...! ऐसा भी इसमें—पर्याय में एक धर्म—योग्यता है। आहा...हा...! बलवानरूप से आया था न? बहुत जगह नहीं आता? कर्म के बलवानपने; उसका अर्थ, निमित्त के आधीन स्वयं होता है, ऐसी अपनी स्वतन्त्र एक शक्ति है, योग्यता है। कर्म के कारण इसमें बलवानपना नहीं है, स्वयं का ही बलवानपना निमित्त के आधीन होकर राग को करे, भोगे—ऐसा इसका एक स्वभाव है। आहा...हा...!

जहाँ शक्ति का वर्णन आया, वहाँ तो ऐसा कहा कि शक्ति और द्रव्य। शक्ति अर्थात् गुण और द्रव्य। इसकी जब व्याख्या चलती हो, तब ऐसा कहते हैं कि इसमें विकृतपने का परिणमन है, विकार के षट्कारक का परिणमन है, परन्तु उस विकार

से रहित इसका स्वभाव है। यह गुण और द्रव्य की बात की। आहा...हा...! क्या कहना है? कि षट्कारक जो आत्मा के गुण—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण, ये षट्कारक गुण जो है, वे विकाररूप परिणमते हैं, तथापि इसका गुण ऐसा है कि विकार से रहितपने होना, यह इसका गुण है। दृष्टि और शक्ति की अपेक्षा से ऐसा है। समझ में आया इसमें?

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है, इसलिए कहते हैं कि विकाररूप से परिणमना, यह निमित्ताधीन होना, वह स्वतन्त्ररूप से स्वयं (होवे-ऐसी) ईश्वर (नय से) योग्यता है। वहाँ भी षट्कारक से विकाररूप परिणमें, तथापि ऐसा भाव नाम का गुण है कि उससे रहित होना, वह इसका गुण है। यह दृष्टि और शक्ति और द्रव्य के पर्याय की अपेक्षा से वर्णन है। सूक्ष्म बात है, भाई! और यहाँ तो इसकी पर्याय में जो राग-द्वेष-वासना हो, वह निमित्ताधीन स्वयं स्वतन्त्ररूप से करता है। यहाँ स्वतन्त्र है, वह परतन्त्र होता है-ऐसा कहते हैं, परन्तु यह परतन्त्र होता है-ऐसा अपना पर्याय एक धर्म है। कोई परतन्त्र करता है-ऐसा नहीं। कर्म का उदय आया, इसलिए इसे विकार करना पड़े-ऐसा इसमें कोई पर्याय का धर्म नहीं है। गुण का धर्म तो विकाररूप होना, यह है ही नहीं। आहा...हा...! परन्तु पर्याय का धर्म भी ऐसा नहीं है कि जो कर्म के निमित्त से हो। अपनी शक्ति से स्वयं निमित्ताधीन होकर परतन्त्रता को भोगनेवाला है। ऐसा स्वरूप है।

**धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले...** धाय माता की दुकान होती है न? माता को दूध न आता हो तो ऐसी माता होती है, वहाँ बालक को दूध पिलाते हैं। बड़े शहर में दुकान होती है। **धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक की भाँति।** राहगीर रास्ते में निकला और उसके बालक था, उसे दूध पिलाना था तो धायमाता के पास रखता है। वह पराधीनपने से वहाँ भोगता है। वैसे आत्मा की योग्यता का ऐसा एक धर्म है कि निमित्ताधीन होकर पराधीनता भोगे, ऐसा इसका एक धर्म है। आहा...हा...! निमित्त इसे करावे—ऐसा कोई धर्म इसमें नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? परन्तु निमित्त के आधीन होने का इसकी पर्याय में ऐसा एक धर्म है। यह ईश्वरधर्म। ऐसा जानकर भी, मेरी पर्याय में विकार होता है, उस निमित्ताधीन मैं होता हूँ; इसलिए होता है, ऐसा ज्ञान में (लेकर), उसका यह धर्म-योग्यता (-ऐसा) लक्ष्य करके भी, ज्ञायकभाव पूर्ण चैतन्य प्रकाश

की मूर्ति है, वहाँ उसकी दृष्टि करना। आहा..हा...! अकेले एक धर्म पर लक्ष्य रखकर वहीं का वहीं खड़ा रहना —ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। है इसमें यह योग्यता। आहा...हा...! कर्म के कारण नहीं; अपनी योग्यता के कारण निमित्ताधीन होता है। आहा! अभी इसमें बड़ा विवाद है न? कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है, इस प्रकार पराधीन है (परन्तु) - ऐसा नहीं है। स्वयं निमित्त के आधीन होता है-ऐसा इसका एक धर्म है, वह परतन्त्रता है। ऐसा अन्तर है। समझ में आया?

आत्मा में सम्प्रदान नाम का गुण है न? वह जब पर्यायरूप विकाररूप परिणमता है, तब वह विकार स्वयं करता है और स्वयं लेता है। आहा...हा...! विकार करनेवाला पात्र भी स्वयं और विकार देनेवाला भी स्वयं। आहा...हा..! बहुत अलौकिक बातें हैं, भाई! इसका ऐसा स्वतन्त्र धर्म है। उसे यहाँ परतन्त्ररूप से इसका धर्म है—ऐसा कहा। पर के आधीन होने की परतन्त्रता इसका अपना धर्म है। आहा...हा...! धायमाता का कहा न? बालक की भाँति।

अब इससे उल्टा। **आत्मद्रव्य अनीश्वरनय से स्वतन्त्रता भोगनेवाला है,...** इसमें पराधीन होकर भोगना, यह भी इसका एक धर्म है और स्वतन्त्र षट्कारकरूप से परिणमता है, स्वयं भोगता है, यह भी इसका एक धर्म है। ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। इसे देखना है इसकी पर्याय की योग्यता और इसे देखना है द्रव्य की सामर्थ्यता। क्या कहा यह? पर्याय में उसकी योग्यता क्या है, यह देखना और देखकर देखना अन्दर द्रव्य सामर्थ्यवाला भगवान पूर्ण प्रकाशमय है, उसे देखना, यह इसका कार्य है। आहा...हा...! समझ में आया? पर को देखना तो इसमें कुछ है ही नहीं। यह पर को जानता है न? परन्तु यह (स्वयं को) स्वपने जाने, तब पर को जाने, वह यथार्थ कहा जाता है। अकेला पर को जाने, वह वास्तविक है ही नहीं। यह तो स्वयं स्वतन्त्र होने का इसका स्वभाव है, वह अपने में है, उसे जाने। आहा...हा...! समझ में आया? आहा!

बाहुबली और भरत, (दोनों) समकिती। भाई को मारने का विकल्प आया। समकिती है, ज्ञानी है, उस भव में तो दोनों मोक्ष जानेयोग्य हैं, दोनों, हों! परन्तु निमित्त के आधीन होने की, विकार के आधीन होने की योग्यता है, इसलिए विकार हुआ है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** .....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मारते नहीं, राग आता है। इससे ऐसी क्रिया होनी हो तो होती है। आहा! हुआ है न परन्तु? देखो न! चक्र चलाया, चरमशरीरी हैं, उस भव में मोक्ष जानेवाले हैं, तो भी उसे ऐसा ख्याल नहीं? कि इस चक्र से इसे मारूँ। यह चारित्र का-राग का पराधीन दोष स्वयं स्वतन्त्र करता है और उस परतन्त्रता को करे-ऐसा भी धर्म है और स्वतन्त्ररूप से करे-ऐसा एक इसका धर्म है। एक समय में दोनों हैं। आहा...हा...! यह राग स्वतन्त्ररूप से करता है। आहा...हा...!

षट्कारक जो गुण हैं, उनकी जो परिणति होती है, वह स्वतन्त्ररूप से स्वयं परिणति करता है। एक ओर ऐसा कहा कि यह राग, वह पर के आधीन होकर करे—ऐसा भी इसका एक धर्म है और उसी समय स्वतन्त्ररूप से राग करे, पर के आधीन नहीं-ऐसा भी इसका एक धर्म है। अरे! ऐसी बातें अब। और वह भी इस धर्म को देखकर... आहा...हा...! वह इन्द्रियों से तो दिखता नहीं। इसकी ज्ञान की पर्याय में उसका लक्ष्य करके, देखकर, यह मैं स्वतन्त्ररूप से राग करता हूँ और पर के आधीन होना, वह भी मेरी योग्यता है, मेरा धर्म है। आहा...हा...! ऐसी विरुद्ध बातें-परस्पर विरुद्ध। एक ओर कहते हैं कि वही राग को परतन्त्ररूप से भोगे-ऐसी योग्यता है। वह राग को स्वतन्त्र करे-भोगे—ऐसी भी इसकी एक योग्यता है। ऐसी बातें हैं। मूल तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है। आहा...! और उसका अस्तित्व देखकर, उसकी पर्याय में ऐसी योग्यता है-ऐसा जानकर, वहाँ इसे रुकना नहीं है। आहा...हा...! जिसकी पर्याय है, उसके द्रव्य को वहाँ देखना है। अरे! ऐसा है, भाई!

वह तो दया पालो, यह करो, दान करो (यह सरल था)। आहा...हा...! त्यागधर्म में आता है न? त्यागधर्म में। पद्मनन्दि में अभी आया था-दूसरों को पुस्तक दे। परन्तु वह परद्रव्य कहाँ कौन दे सकता है? वह तो व्यवहार का कथन है। त्यागधर्म में तो राग का त्याग और स्वरूप में स्थिरता (करे), उसका नाम त्यागधर्म है। आहा...हा...! पर का त्याग है ही नहीं। पर का ग्रहण कहाँ किया है कि उसका त्याग करे? परन्तु वास्तव में तो राग का त्याग और स्वरूप में स्थिरता (होवे); वह राग का त्याग करता है, यह भी एक कथनमात्र है। यह आता है न? भाई! आहा...हा...! पर के त्याग की तो बात ही कहाँ है? भाई! परवस्तु ग्रहण कहाँ की है? स्त्री-पुत्र, परिवार, पैसा, मकान ये तो पर हैं; इन्हें ग्रहण कहाँ किया

है (तो) इन्हें छोड़ना हो? आहा...हा...! इनके प्रति किया हुआ राग है, वह राग छोड़ना है। वह राग छोड़ना है-यह भी एक निमित्त कथन है, व्यवहारकथन है। आहा...हा...!

यह ज्ञायकभाव भगवान आत्मा ज्ञायकभाव को जानते हुए जहाँ अन्दर स्थिर होता है, तब राग उत्पन्न नहीं होता; उस राग का त्याग किया, यह नाम कथनमात्र है। पर के त्याग का तो कथन भी नहीं है। आहा...हा...! लोग तो पर का जहाँ त्याग करे, स्त्री-पुत्र-दुकान (छोड़े तो) ओहो...हो...! त्यागी हो गया। लोगों की दृष्टि ही (बाहर है)। आहा...! समझ में आया? पर का त्याग, वह कोई त्याग नहीं। उसका तो अनादि से त्याग है। आहा...हा...! मिथ्यादृष्टि को उसका त्याग तो अनादि से है। आहा...हा...! उनमें राग का त्याग, उनके प्रति जो राग हे, उसका त्याग, वह भी आत्मा के स्वभाव की दृष्टि के जोर से राग का त्याग, वह भी निमित्त का कथन है। आहा...! बाकी राग का होना, वह निमित्ताधीन, वह भी धर्म-योग्यता है और राग स्वतन्त्ररूप से करता है—ऐसी भी इसकी पर्याय में योग्यता है। दोनों योग्यता एक समय में है। आहा...हा...! कोई राग स्वतन्त्ररूप से करे और कोई राग परतन्त्ररूप से करे-ऐसा नहीं है। क्या कहा, समझ में आया इसमें? मार्ग बहुत (सूक्ष्म), बापू! यह राग भी स्वयं परतन्त्ररूप से करे-ऐसी भी योग्यता है और उसी काल में स्वतन्त्ररूप से करे—ऐसी भी योग्यता है। आहा...हा...! समझ में आया?

यह बड़ा प्रश्न उठा था न? विकार होता है, वह कर्म के कारण होता है। बड़ा प्रश्न (उठा था)। मैंने कहा—बिल्कुल नहीं। यह तो (संवत्) २०१३ के साल (की बात है)। बाईस वर्ष (हुए) आहा...! पर्याय में इसकी अपनी योग्यता निमित्ताधीन होना—ऐसी भी है और स्वतन्त्ररूप से करे—ऐसी भी इसकी एक योग्यता है। धर्म की पर्याय स्वतन्त्ररूप से करे या राग की पर्याय स्वतन्त्ररूप से करे... आहा...हा...! ऐसा इसका एक अनीश्वर धर्म है। ऐसा (क्या होगा)? मार्ग, बापू! बहुत ऐसी (सूक्ष्म) बात है। थोड़े-से बदलाव से बड़ा बदलाव पड़ जाता है। आहा...हा...!

(अनीश्वरनय से) **स्वतन्त्रता भोगनेवाला है, हिरन को स्वच्छन्दता (स्वतन्त्रता, स्वेच्छा) पूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह की भाँति।** देखा? इच्छानुसार सिंह, इच्छानुसार थाप मारकर टुकड़े करे। हिरण को कैसे ठीक पड़ेगा,

ऐसा (थाप नहीं मारता)। सिर फोड़े, थप्पड़ मारे, टुकड़े करे। हिरण को स्वतन्त्ररूप से मारनेवाले सिंह की भाँति। इसीप्रकार भगवान आत्मा स्वतन्त्ररूप से, राग को अपनी योग्यता से स्वतन्त्ररूप से करता है और राग को मिटाता है, वह भी स्वतन्त्ररूप से मिटाता है। कर्म का निमित्तपना पाटा, इसलिए राग (मिटा)-ऐसा नहीं। यहाँ तो अनीश्वरनय से राग को भी स्वतन्त्ररूप सेकरता है—इतना सिद्ध करना है। समझ में आया? परतन्त्ररूप से करता है—ऐसा भी धर्म है और स्वतन्त्ररूप से करता है—ऐसा भी धर्म है—ऐसा सिद्ध करना है। एक समय में दो (धर्म)। ऐसे अनन्त धर्म एक समय में हैं। अरे रे! ३५ (नय पूर्ण) हुआ। (अब-३६)

**आत्मद्रव्य गुणीनय से गुणग्राही है, शिक्षक के द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है....** लड़को को शिक्षक द्वारा शिक्षा दी जाती है। **ऐसे कुमार की भाँति।** राजकुमार होते हैं न? बड़े राजकुमार! पचास-पचास लाख, करोड़ की आमदनीवाले राजकुमार होते हैं। वे शिक्षक के समीप सीखते हैं न? शिक्षक साधारण हो और यह बड़ा राजकुमार हो। राजकोट में है न? राजकुमार की कॉलेज। सब राजकुमार हों, पन्द्रह-पन्द्रह, सत्रह-सत्रह, अठारह वर्ष के, तेरह वर्ष के, चौदह वर्ष के राजकुमार होते हैं न? तो कहते हैं कि (ऐसे) कुमार की भाँति गुणग्राही है। शिक्षक जैसा सिखाता है। आत्मा, पर में गुण क्या है, उसे जानता है, ग्राही है, गुणग्राही है। आहा...हा...! जैसा उसमें, सामनेवाले में गुण होता है, उसे ग्रहण करता है अर्थात् जानता है। शिक्षक जैसे स्वयं कुमार को सिखाता है, वैसा कुमार सीखता है। राजकुमार बड़ी अरबों की आमदनीवाले भावनगर दरबार या जामनगर दरबार (हों) परन्तु उनके राजकुमार हों, वे पढ़ें तो सही न पहले? तो शिक्षक जैसा सिखाता है, वैसा वे पढ़ते हैं। शिक्षक के पास जैसे ग्रहण करते हैं, वैसे आत्मा में ऐसा एक धर्म और योग्यता है कि जिसमें जितने गुण हों, उन्हें जाने और ग्रहण करे। समझ में आया? जिसमें जितनी योग्यता का गुण हो, उसे वह जानता है, ग्रहण करता है। यह व्यवहार हुआ परन्तु ऐसा इसका एक धर्म है।

**आत्मद्रव्य अगुणीनय से केवल साक्षी ही है....** उसे और उसे, हों! ग्रहण करने का नहीं, साक्षी है। जो है उसे जानता है (कि) यहाँ है, बस! इतना, साक्षीरूप से जानता है। आहा...हा...! क्या कहते हैं यह? **अगुणीनय से केवल साक्षी....** भाषा देखी? अकेला साक्षी, ऐसा नहीं कहा। जानता है कि है। यह भी अपनी पर्याय

में जानते हुए उसे जानता है, ऐसे साक्षीरूप से जानता है। किसी का गुण ग्रहण करना—ऐसी उसमें योग्यता नहीं है - ऐसा एक धर्म है। नय का विषय बहुत अलौकिक है! क्योंकि अनन्त धर्म में व्यापक पदार्थ है। अनन्त धर्म-इन सबमें व्यापक आत्मा है। वह कर्म के कारण व्यापक है - ऐसा नहीं है। आहा...!

**अगुणीनय से केवल साक्षी ही है....** ऐसा शब्द है न? आहा...! '**केवलमेव साक्षि**' ऐसा है न संस्कृत में? ३६। '**कुमारकवद्गुणग्राहि**' '**पाध्यायविनीयमानकुमार-कवद्गुणग्राहि**' ऐसा। '**गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमान**' '**अगुणिनयेनोपाध्यायविनीय-मानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि**' यह है न? आहा...हा...! ३७ (में) 'एव' शब्द पड़ा है न '**केवलमेव**' आहा...हा...! घड़ीक में कहे कि गुण ग्राही है और फिर कहे कि साक्षी है। ऐसा भी इसकी योग्यता का धर्म है, भाई! आहा...! परस्पर विरुद्ध ऐसे दो धर्म इसमें स्वयं में है। पर के कारण नहीं, पर में नहीं। आहा...हा...! ऐसे धर्म में व्यापक यह द्रव्य है। ऐसे धर्म में व्यापक-पसरा हुआ द्रव्य है और वह आत्मद्रव्य उसमें पसरा है, तथापि उसका लक्ष्य करके आत्मद्रव्य की नजर करना है। अन्तर्मुख दृष्टि करना है। पर्याय के बहिर्मुख धर्मों को जानने पर भी, पर्याय में हैं न वे तो? तथापि अन्दर में राग की योग्यता-वोग्यता कुछ (नहीं)। अन्दर तो कर्ता-कर्म शुद्ध पड़े हैं।

पर्याय में ऐसा एक गुणग्राही होने पर भी **साक्षी ही है ( -गुणग्राही नहीं है ),....** एक ओर कहे कि गुणग्राही है तथा एक ओर कहे गुणग्राही नहीं, ऐसा एक नय का इसमें विषय है। नय है न? नय है वह एक-एक धर्म को जाननेवाला है, तो दो नय हैं, उसमें एक धर्म ऐसा है और दूसरा एक धर्म भी ऐसा है। अरे! ऐसा है। कहो, भाई! ऐसा सूक्ष्म है यह। दोषरूप परिणमे या गुणरूप परिणमे, वह स्वतन्त्र स्वयं और परतंत्र स्वयं। आहा...हा...! समझ में आया? कर्म के कारण दोषरूप परिणमता है—ऐसा नहीं तथा साक्षी है, इसलिए वह विरुद्ध है - ऐसा नहीं। साक्षी है। पर के गुण हों, चाहे तो अरिहन्त के, पंच परमेष्ठी (हों), साक्षी (रूप से) जाने और एक नय से उनके जितने गुण हैं, जिस प्रकार से हैं, उन्हें ग्रहण करता है। जैसे शिक्षक कुमार को सिखावे, वैसे कुमार सीखता है। ऐसा नहीं कि हम करोड़ की आमदनीवाले राजकुमार है और यह शिक्षक तो २००-३०० के वेतनवाला है। यह तो अभी (इतना है)। पहले तो २५-३० (रुपये) वेतन था। आहा! जैसे कुमार

शिक्षक के पास सीखता है, वैसे आत्मा में दूसरे के जो कुछ गुण की, पर्याय की योग्यता हो, उसे ग्रहण करता है, लक्ष्य में लेता है और एक नय से लक्ष्य में नहीं लेता, साक्षी है। अरे! ऐसी बातें हैं।

यह अमृतचन्द्राचार्य स्वयं टीका करने के पश्चात् नय का परिशिष्ट करते हैं। सभी टीकायें कीं, २७५ (गाथाओं की)। पश्चात् स्वयं स्पष्टता के लिये परिशिष्ट बनाया है। कोई एकान्त न ले जाये, ऐसा अनेकान्त इसका धर्म है। रागरूप होना और रागरूप न होना, यह दोनों इसका धर्म है। राग पर के आधीन होना वह भी धर्म है और राग स्वाधीनरूप से करे -ऐसा भी एक धर्म है। आहा...हा...!

अब कर्तृत्वनय से। **आत्मद्रव्य कर्तृनय से,...** तथा एक ओर ऐसा कहते हैं कि आत्मा राग का कर्ता है ही नहीं। समझ में आया? जहाँ दृष्टि की विषय चले या इसकी शक्ति का वर्णन चले, तो शक्ति कहो या गुण कहो और गुणी कहो या द्रव्य कहो, उसमें तो राग का कर्तापना - (राग को) कर सके—ऐसा उसमें गुण है ही नहीं। गुण नहीं परन्तु पर्याय में ऐसा एक धर्म है कि जो राग का परिणमन करता है, वह कर्तृत्व इसका स्वयं का धर्म है। धर्म अर्थात् राग, वह धर्म है—ऐसी एक योग्यता का इसने धर्म धार रखा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अभी यहाँ बात नहीं है। समझ में आया? अरे! ऐसी बातें हैं। सन्तों को जंगल में रहकर करुणा का विकल्प आया है। आहा...हा...! है तो विकल्प, पुण्यबन्ध का कारण है। आहा...हा...!

दूसरों को समझाना, यह भी एक विकल्प है न? परन्तु कहते हैं कि वह विकल्प स्वतन्त्ररूप से आया है और निमित्ताधीन होकर आया है, इस अपेक्षा से परतन्त्ररूप है-ऐसी दोनों बातें हैं। आहा...हा...! धर्मी को भी इस अनुसार होता है, तथापि उसकी दृष्टि में विषय वह नहीं; विषय है वह तो त्रिकाल ज्ञायकभाव चिदानन्द प्रभु ध्रुव के ध्यान के ध्येय में जिसका ध्रुव ध्यान। समझ में आया? बहुत कठिन बात है, भाई! अनन्त काल में इसने यह वास्तविक तत्त्व की स्थिति (जानी नहीं है)। द्रव्य-गुण की और पर्याय की। पर्याय की वास्तविक स्थिति क्या है, यह वर्णन करते हैं। रागरूप होना, परिणमन करना-ऐसा कर्तृत्व नाम का योग्यता का ऐसा धर्म है। आहा! यह राग करता-परिणमता है, वह राग नाम का अन्दर में एक योग्यता का धर्म है। पर के कारण नहीं। आहा...हा...!

एक ओर कहना कि भगवान आत्मा (को) राग का कर्ता माने तो मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि उसका कोई गुण नहीं कि राग करे। वह गुण और द्रव्य को जहाँ बतलाना है, वहाँ राग का कर्ता (नहीं)। दया, दान के राग का भी कर्ता आत्मा नहीं। आहा...हा...! और यहाँ कहते हैं कि यह रागरूप परिणमता है, वह इसकी पर्याय का धर्म है। आहा...हा...! इसके ज्ञान के लक्ष्य में लेता है कि यह है—राग का परिणमन मुझमें है, इतना मुझमें कर्ता नाम का, कर्तृत्व नाम का धर्म है। आहा...हा...! ऐसी बातें! एक बार (कहे) कर्ता नहीं और दूसरी बार (कहे कर्ता है)। (एक भाई) ऐसा कहते थे-बुद्धि साधारण थी, (वे) कहते-सबेरे कुछ आता है, दोपहर को कुछ (आता है), इसमें हमें क्या समझना? ऐसा कहते। उनका लड़का अभी करोड़पति हो गया। आया था न? अभी कुछ कमजोर पड़ गया है। बाहर में दिखता नहीं। पैसेवाले को बहुत जवाबदारी होती है न! सरकार की और अमुक की... आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं **कर्तृनय से...** कर्तृत्व नाम एक धर्म है, उस नय से। आहा...हा...! पर्याय में राग होता है, द्वेष होता है, विषयवासना होती है... आहा...हा...! उस कर्तृत्वनय से **रंगरेज की भाँति, रागादि परिणाम का कर्ता है....** आहा...हा...! अभी तक दृष्टि के विषय में वह सुना हो कि राग का कर्ता आत्मा को मानना मिथ्यात्व है। वह तो द्रव्य और गुण की दृष्टि की बात है। यहाँ तो उसकी पर्याय में जो राग का परिणमन है... आहा...हा...! पर्याय में; द्रव्य-गुण में तो कहाँ है? पर्याय में जो राग का-अशुभ का या शुभ का (परिणमन है)। आहा...हा...! राग होता है, वह कर्तृत्वनय से इसका अपना धर्म है। स्वयं उस रागरूप परिणमना, विषय-वासनारूप परिणमना—ऐसा भी इसकी पर्याय की योग्यता का धर्म है। धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-ऐसा नहीं। आत्मा में धार रखा हुआ भाव, उसे यहाँ धर्म कहने में आता है। पर्याय में धार रखा हुआ भाव। इसकी पर्याय है या नहीं? आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें! वह तो सीधा था-व्रत करो, तप करो, दान करो। दान देने में भी पैसेवाले को मक्खन लगाते हैं कि इसमें खर्च करो तो तुम्हें लाभ होगा, तुम्हें ऐसा होगा। पैसा तो पर है, उसमें दे सकता है या ले सकता है, यह है ही कहाँ? पैसा दूसरे को देता है या लेता है, वह परद्रव्य को लेने-देने का आत्मा में है ही नहीं। उसमें उस समय जो राग हो, उसके कर्तारूप स्वयं है तब उस कर्तृनय

का ज्ञान सच्चा (कहलाता है)। द्रव्य का ज्ञान करे तो उस कर्तृनय का ज्ञान सच्चा है। क्या कहा यह?

जैसे रंगरेज... है न? **(जैसे रंगरेज रंगने के कार्य का कर्ता है।)** रंगनेवाला कपड़े का रंग करता है न? रंग... रंग कपड़े का! एक बार गये थे, तब देखा था। हमारे यह है न? बड़ा कारखाना, पहले तीन भाई थे तब बड़ा (था)। हम चरण करने गये थे। अभी तो वे विरुद्ध हो गये। गाँव में जावें तो आते नहीं, परन्तु तब हम पहले-पहले गये, तब ऐसे ऊँचा-नीचा करते थे। बहुत रंगरेजवाले रखे थे, वह रंगरेज जैसे रंग चढ़ाता है, **(रंगरेज रंगने के कार्य का कर्ता है।)** वैसे आत्मा, राग के रंग का करनेवाला है। आहा...हा...! ऐसी भी इसमें एक योग्यता का-लायकात का धर्म है। आहा...हा...! ऐसी बातें! निवृत्ति में रहे हुए सन्त वीतरागभाव में रहे हुए, ऐसी (बात) जगत को (करते हैं)। विकल्प आया है और यह बात कर डाली है, तथापि कहते हैं कि इस क्रिया का कर्ता मैं नहीं और विकल्प का कर्ता मैं नहीं; मैं तो ज्ञाता हूँ, तथा यहाँ कहते हैं कि विकल्प का परिणमन है, उसका कर्ता जीव है-ऐसा यहाँ कहा है।

ज्ञान करते हैं, प्रत्येक पर्याय की जितनी योग्यता है, उसका वह ज्ञान करता है और दृष्टि है, वह तो पूरे त्रिकाली द्रव्य अनन्त गुण का पिण्ड है, उसे स्वीकार करती है। उस दृष्टि के साथ हुआ जो ज्ञान, वह आंशिक-आंशिक पर्याय में जितना राग है, जितनी धर्म की पर्याय है, उसे भलीभाँति जानता है। आहा...हा...! द्रव्यदृष्टि में पर्याय का लक्ष्य ही नहीं है। समझ में आया? और द्रव्यदृष्टि के साथ जो ज्ञान हुआ, उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का ज्ञान है। आहा...हा...! ऐसी बातें अब। कहो, यह कर्तृनय से तो ऐसा आया। वे कहते हैं कि नहीं; विकार है, वह कर्म से होता है। यहाँ कहते हैं कि कर्तृनय से विकार जीव की पर्याय में स्वतन्त्र होता है। यह शास्त्र नहीं पढ़ा होगा? परन्तु दृष्टि पहले से गोम्मटसार की होती है न! ज्ञानावरणीय (कर्म) ज्ञान को आवरण करता है, दर्शनमोहनीय समकित को आवरण करता है, अन्तरायकर्म आत्मा के दान-लाभ की पर्याय को आवरण करता है; यह तो निमित्त के कथन हैं। आहा...हा...!

जैसे रंगरेज कपड़े को रँगता है, वैसे भगवान आत्मा, जिसकी दृष्टि द्रव्य पर है—ऐसे जीव को भी पर्याय में राग का कर्तापना कर्तृनय से दिखता है। समझ में

आया ? आहा...हा... ! ऐसा कहाँ था ? ऐई ! भाई ! (इनके) समय में ऐसा कुछ नहीं था। सब गीत गाते, ऐसा कुछ एक गीत गाते। सब लौकिक, सब बाहर की बातें। आहा ! यह महासिद्धान्त है। तुझमें जो राग की पर्याय होती है, उसे तू दूसरे के कर्तृत्व में डाल दे तो वह तेरी पर्याय का परिणमन हुआ, वह तेरा धर्म है, उसे तूने जाना नहीं। होता है, ज्ञानी को राग आता है, राग का परिणमन होता है, परन्तु वह परिणमन मुझसे हुआ है; दूसरे से नहीं, कर्म से नहीं तथा संयोग ऐसे थे तो हमें यह राग करना पड़ा; स्त्री का संग हुआ, इसलिए हमें राग हुआ, ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! अच्छा लड़का हुआ, पैसा अधिक पैदा होने लगा, इसलिए मुझे उसके कारण राग हुआ-ऐसा नहीं है। ऐसा कहते हैं। तेरी पर्याय में ही राग का परिणमन तू स्वतन्त्ररूप से करता है। अरे रे ! ऐसी बातें ! कहो, बनियों को फुरसत नहीं मिलती और बाहर के त्याग में पड़े हैं। स्वयं त्याग कर नहीं सकता और (दूसरा) त्याग करे, इसलिए ओहो...हो... ! (हो जाये) परन्तु वहाँ अभी मिथ्यात्व और राग का त्याग नहीं, वहाँ त्याग कहाँ है ? आहा...हा... ! धर्म-त्याग है, यह तो नियमसार में आता है न ? आहा !

भाई ने बहुत अच्छा लिखा है। ओहो...हो... ! ऐसा विस्तार और क्षयोपशमवाला व्यक्ति। एक-एक का वर्णन किया है। पढ़ा है पूरा ? भाई ! मैंने भी कभी नहीं देखा था। सब आत्मधर्म में आता था परन्तु कौन देखे ? यह सब इकट्ठा आया, ओहो...हो... ! क्या इसकी-त्यागधर्म की व्याख्या ! क्या उसकी संयम की व्याख्या ! गजब करते हैं ! उनकी कहने की पद्धति, लेखक की और वक्ता की कोई अलग प्रकार है। आहा ! नहीं तो, है तो छोटी उम्र, ४४ वर्ष, परन्तु गजब ! दान और त्याग में क्या अन्तर है ? उसका उन्होंने बड़ा विस्तार किया है। आहा ! दान में तो तीन व्यक्ति चाहिए - देनेवाला, लेनेवाला और वस्तु। त्याग में तो प्रभु स्वयं है, अन्दर में जाता है, तब राग का त्याग हो जाता है, वह त्यागधर्म है। दान, वह धर्म नहीं; वह पुण्य है। उसमें तीन व्यक्ति होते हैं। लेनेवाला, देनेवाला और देनेवाले की वस्तु। आहा...हा... ! चाहे तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकर को भी छद्मस्थपने में जो आहार दे तो आहार हुआ, देनेवाला हुआ और लेनेवाले हुए। तीन (हुए)। श्रेयांसकुमार का दृष्टान्त दिया है। ऋषभ भगवान ने आहार लिया न ? श्रेयांसकुमार राजकुमार दोनों चरमशरीरी। दान की (प्रवृर्ति) वहाँ से चली - ऐसा आता है। यह दान, वह

व्यवहारधर्म, पुण्य है, वह भगवान का आहार देना भी राग और पुण्य है, धर्म नहीं। त्यागधर्म-आहार का त्याग किया, इसलिए धर्म नहीं। आहा...हा...! यहाँ तो अन्दर में आहार के राग का त्याग और अन्तर में रमणता (होना), उसका नाम त्यागधर्म है।

यह यहाँ कहते हैं कि कर्तृत्व में राग का रंग आया। आहा...हा...! दान देने में या लेने में मुनि को भी विकल्प, राग आया। उस राग का कर्तृत्व उनका स्वयं का है। समझ में आया? कर्म के कारण आया, कर्म का उदय वहाँ ऐसा आया कि उसे राग करना (पड़ा) —ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। उस समय में ऐसा ही उदय आया कि लेने-देने का विकल्प आता है-ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

**कर्तृनय से, रंगरेज की भाँति, रागादि परिणाम का कर्ता है....** रागादि (अर्थात्) पुण्य-पाप, दया-दान, व्रतादि के परिणाम का करनेवाला-परिणमन आत्मा का है। है भले वह पुण्य परन्तु उसका परिणमन जीव का है। अरे! अशुभराग आवे। आहा...हा...! अशुभराग का कर्तृत्व भी स्वयं का है। समझ में आया? दृष्टि और दृष्टि के विषय की बात चलती हो, वहाँ तो राग का कर्ता माने, वह मिथ्यादृष्टि (है-ऐसा कहते हैं)। वह तो द्रव्य-गुण की अपेक्षा से बात है। यहाँ अब पर्याय की अपेक्षा से बात है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बात है। भाई! यह रंग अलग प्रकार का है। यह नया रंग है। आहा! भक्ति का राग आवे, वह राग का कर्तृत्व स्वतन्त्र जीव का है। वह भगवान को देखा, इसलिए शुभराग आया-ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? उस समय पर्याय में कर्तृनय से रागरूप परिणमन, वैसा उसका अपना स्वभाव है, धर्म है। आहा...हा...! और वह भी उस कर्तृनय से देखकर वहाँ खड़ा नहीं रहना है, उसका ज्ञान करके भगवान ज्ञायकस्वभाव अन्तर में है, वहाँ चैतन्य के प्रकाश का पूर बहता है, वहाँ इसे नजर करनी है। ऐसी बातें हैं। यह (समझने को) निवृत्त कहाँ होता है? अभी तो इसका वास्तविक जो पर्याय धर्म है, उसे जानने की योग्यता नहीं होती। आहा...हा...! और द्रव्यस्वभाव जो है, उस पर नजर करना है। इसे जानकर वापस नजर तो वहाँ करना है। आहा...हा...!

इसमें तो बड़ा विवाद था न! कहा नहीं? राग-द्वेष होते हैं, वे कर्म के कारण होते हैं। कहा-कर्म के षट्कारक हैं, उनका यहाँ कोई कारण है ही नहीं। आत्मा में

जो रागादि होते हैं, (उसमें) कर्म के कारण है ही नहीं। बड़ा विवाद उठा। सम्प्रदाय में यह चीज़ नहीं थी, इसलिए बेचारे क्या करें? उसे भी हित करने का भाव तो होता है परन्तु इस बात (के) संस्कार नहीं और वर्तमान में इस प्रकार की कोई योग्यता बतानेवाला नहीं। इसलिए क्या हो? आहा!

यहाँ तो अमृतचन्द्राचार्य स्पष्ट पुकार करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य और भगवान को ऐसा कहना है, उसका परिशिष्ट यह कहा जाता है। दिगम्बर सन्त हैं, तीन कषाय का अभाव है, वीतरागरूप परिणम रहे हैं, आनन्द में झूलते हैं। वे मुनि! आहा...!

भाई ने तो बहुत लिखा है। त्यागधर्म में इतना लिखा है कि दूसरे को दुःख हो, इसके लिये मुझे कहना नहीं है परन्तु वस्तु की स्थिति यह है, इसे कहकर मैं विराम लेता हूँ। आहा..! बहुत सरस बात! पढ़ते हुए उसे छोड़ने का मन नहीं होता- ऐसा विषय है। ऐसे ढंग से बात की है। ओहो...हो...! इतनी उम्र! वह भी दस-बारह वर्ष बाद होगी न? यह तो ४४ हुए, पहले से तो नहीं होता, पाथी-पाथी में जैसे बाल अलग पाड़कर जैसे तेल पूरते हैं, वैसे पाथी-पाथी में बात पूरी है। आहा...हा...! दशलक्षण पर्व! यह तो सबको (एक मुमुक्षु) की ओर से जायेगी न! हिन्दी और गुजराती दोनों। आत्मधर्म में आ गया है। यह एक साथ ऐसा संग्रह है। आहा! पढ़े और विचारे, उसे पता पड़े। ऐसा का ऐसा पढ़ जाये (तो पता नहीं पड़ेगा)। आहा! वहाँ तो उन्होंने त्याग और दान की व्याख्या की है।

एक बात उसमें रह गयी है। निश्चय भी एक दान सम्प्रदाय है, यह बात वहाँ नहीं है। निश्चयदान। आत्मा में एक सम्प्रदान नाम का गुण है कि जिसके कारण निर्मल परिणति करे और निर्मल परिणति स्वयं रखे, वह दान स्वयं-स्वयं को देता है, यह नहीं आया, दूसरे में डालेंगे। इसमें नहीं आया। समझ में आया? आहा...! पर को लेने-देने का तो विकल्प है। चाहे तो तीर्थंकर को आहार-पानी दे, तो भी वह शुभराग-पुण्य है; कोई धर्म नहीं। आहा...!

यहाँ तो आत्मा में सम्प्रदान नाम का एक धर्म है, गुण... गुण है कि जिस गुण का परिणमन होने पर निर्मल परिणति स्वयं करे और स्वयं ले। पात्र स्वयं और दाता स्वयं -ऐसे दोनों (लेने-देनेवाले) स्वयं। आहा...हा...! क्या कहा समझ में आया? इसमें-भगवान आत्मा में, वह सम्प्रदान नाम का एक गुण है कि उस गुण को

धरनेवाले द्रव्य की जहाँ दृष्टि करता है, तब उसे निर्मलपरिणति लेनेवाला स्वयं और निर्मलपरिणति देनेवाला स्वयं। निर्मल, हों! वहाँ विकार का बात नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ तो पर्याय धर्म में जितनी योग्यता, वह भी यहाँ बतानी है। कोई एकान्त निकाल डाले कि नहीं, नहीं; विकार है, वह कर्म के कारण है, कर्म के कारण है। उसकी अपनी योग्यता नहीं। उसके लिये कहते हैं कि नहीं; कर्म के कारण बिल्कुल नहीं। ज्ञानी को भी राग आता है, वह कर्म का बलवानपना है; इसलिए आता है-ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उस पर्याय में राग में रंगना (इसका धर्म है)।

एक दूसरी बात ली है, वह राग रंजितपना कहा है न? वह अलग वस्तु है। अकेले राग के रंगपने चढ़ जाये, वह अलग बात है और रागरूप परिणमने की पर्याय की योग्यता है, वह अलग बात है। अकेले राग के रंगपने चढ़ जाना, वह तो मिथ्यात्व है परन्तु राग इसकी क्षणिक पर्याय में होता है उसे जानने में मिथ्यात्व नहीं। रंजितपना आया था न?

ज्ञानी रंजित परिणामरूप से पर को भोगता नहीं। अज्ञानी रंग में रंग गया होकर भोगता है। वहाँ वह अलग वस्तु है। राग का रस करके भोगता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। यहाँ रागरूप होना—परिणमना, वह इसका कर्तृत्व धर्म है, उतना इसे लक्ष्य कराते हैं। उसमें एकाकार होना ऐसी वस्तु यहाँ नहीं है। गुण और द्रव्य में एकाकार होना, परन्तु पर्याय में राग का रंग चढ़ा है। धर्मी को भी शुभ-अशुभराग का परिणाम आवे, वह उसका कर्तृत्व है। आहा...हा...! राग का कर्तृत्व, द्वेष का कर्तृत्व।

बाहुबलीजी को चक्र चलाया, वह तो द्वेष था। भरत समकिती थे। चक्र ऐसे हाथ में लेकर ऐसे किया, वहाँ वे (बाहुबली) भी चरमशरीरी (था इसलिए) हाथ में आ गया। यह तेरा घाघरिया चक्र! ऐसा कहकर बाहुबली ने कहा - आहा...हा...! अरे रे! यह संसार! (सब) छोड़कर मुनि हो गये। नहीं तो राजकुमार थे। अरे रे! ऐसी स्थिति-दशा! तथापि वहाँ उस राग का परिणमन, वह तो उसका धर्म है। आहा...हा...!

सीताजी! धर्म परीक्षा (अग्नि परीक्षा) दो, नहीं तो अन्तःपुर में नहीं ले

जायेंगे। रावण के घर में रहे, लोग क्या कहेंगे? मुझे अभी राज्य का राग है। राज्य में विरोध हो कि ये रावण के घर में रही, उसे क्या अब यह? (इसलिए) एक बार परीक्षा दो। आहा! ऐसे राजचन्द्रजी धर्मी जीव समकिती हैं, उन्हें भी इस प्रकार का राग का एक अंश आया। उसे वे जानते हैं कि मेरा राग का परिणमन मेरे कारण है। समझ में आया? सीताजी भी जानती हैं। जहाँ परीक्षा पूरी हुई... अग्नि के स्थान पर पानी। यह कहीं ब्रह्मचर्य के कारण नहीं, परन्तु चरणानुयोग की स्थिति ऐसी हो सकती है। यह है तो पूर्व के पुण्य के कारण वहाँ पानी हुआ परन्तु इस ब्रह्मचर्य के कारण वहाँ सुलगे नहीं, ऐसा ब्रह्मचर्य का प्रताप है, ऐसा चरणानुयोग की विधि में आता है। वे परीक्षा देकर जहाँ नीचे उतरती हैं। रामचन्द्रजी कहते हैं - चलो अन्त:पुर में (तो सीताजी कहती हैं), बस हो गया। पतिव्रता सती सीता, उस परीक्षा में पास हो गयी। बस हो गया। संसार की स्थिति देख ली। धर्मी, मैं भी धर्मी हूँ— ऐसा तो मुझे पता है, तथापि राज्य के रंग में चढ़े हुए राग से उसमें तुम्हें रहना है; इसलिए यह मेरी परीक्षा की है। आहा...हा...! चली जाती हैं, साध्वी के पास जाती हैं। सीताजी ऐसे... आहा...हा...! उस प्रकार का जो राग था, वह छूट गया और फिर दीक्षा का राग, विकल्प आता है। परन्तु विकल्परूप परिणमते हैं, वे स्वयं। कर्तृत्वनय है। आहा...हा...! समझ में आया?

**कर्तृनय से, रंगरेज की भाँति,...** यह तो दृष्टान्त है न? **रागादि परिणाम का....** रागादि अर्थात् द्वेष, विषयवासना, सब रागादि, द्वेषादि, हर्ष-शोक आदि के परिणाम होते हैं। उसका-परिणाम का **कर्ता है ( अर्थात् आत्मा कर्तानय से रागादिपरिणामों का कर्ता है,... )** रागादि पर्याय की दशा का कर्ता है। आहा...हा...! **( जैसे रंगरेज रंगने के कार्य का कर्ता है। )** एक ओर कहें कि राग का कर्ता माने तो मिथ्यादृष्टि है। यह दृष्टि की अपेक्षा से (बात है)। ज्ञान की अपेक्षा से पर्याय के अंश-अंश में जितना दोष है, उसका मैं कर्ता, रंगा हुआ हूँ, वह मेरा परिणमन है। आहा...हा...! यह कर्तानय से (हुआ)।

इसी पर्याय के काल में अकर्तृनय भी है, कहते हैं **आत्मद्रव्य...** आत्मद्रव्य कहा न? आत्मद्रव्य-वस्तु। आहा...हा...! **अकर्तृनय से केवल साक्षी ही है....** राग का साक्षी है। राग का कर्तृत्वपने का परिणमन है और राग का साक्षी है—ऐसा भी एक प्रकार का धर्म है। आहा...हा...! रागरूप परिणमन होना—ऐसा भी एक

कर्तृत्व धर्म है और राग हुआ उसका साक्षी रहना-अकर्तापना, वह भी इसका धर्म है। धर्म (अर्थात्) समझ में आता है ? भाव। ऐसा एक पर्याय का भाव है। उस भाव को धार रखा हुआ भगवान है, अधिष्ठाता आत्मा है। उस पर्याय को धार रखा है। उस पर्याय को कर्म ने धारा है, ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

**( -कर्ता नहीं ), अपने कार्य में प्रवृत्त रंगरेज को देखनेवाले....** रंग करता हो और दूसरा देखे; वैसे राग होता है, उसे देखनेवाला है। आहा...हा... ! रंगरेज को ऐसे कपड़ा रंगता दूसरा देखे, वैसे राग हुआ उसे स्वयं देखता है। आहा...हा... ! ऐसा भी इसमें एक कर्तृत्व के सामने अकर्तृत्वधर्म एक समय में दोनों साथ में है परन्तु फिर भी उस अकर्तृत्वनय के धर्म को देखकर या कर्तृत्व नामक धर्म को देखकर, इसकी दृष्टि तो द्रव्य पर जाना चाहिए। जिसकी पर्याय है, उस द्रव्य (पर) जाना चाहिए।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

## वस्तुस्वरूप की गर्जना करनेवाले मुनिराज

आ...हा..हा ! जङ्गल में रहनेवाले वीतरागी सन्तों को तो देखो। जङ्गल में जैसे सिंह गर्जन करता है, वैसे ही मुनिराज वस्तुस्वरूप की गर्जना करते हैं। सिद्ध भगवान जैसा आत्मानुभव करते हैं, ठीक वैसा ही आत्मानुभव मुनिराज भी करते हैं। सिद्ध तथा साधक दोनों एक ही जाति का अतीन्द्रिय आनन्द अनुभवते हैं; उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है।.... यही मोक्षमहल का सीधा मार्ग है।

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, योगसार प्रवचन, पृष्ठ-१०९, ११०*

## नय-४० से ४२

**भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत् सुखदुःखादिभोक्तृ ४०। अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ४१। क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमुर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४२।**

आत्मद्रव्य भोक्तृनय से सुखदु:खादि का भोक्ता है, हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भाँति। [आत्मा भोक्तानय से सुखदु:खादि को भोगता है, जैसे हितकारक या अहितकारक अन्न को खानेवाला रोगी सुख या दु:ख को भोगता है।] ४०.

आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी ही है, हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य की भाँति। [आत्मा अभोक्तानय से केवल साक्षी ही है-भोक्ता नहीं; जैसे सुख-दु:ख को भोगनेवाले रोगी को देखनेवाला वैद्य वह तो केवल साक्षी ही है।] ४१.

आत्मद्रव्य क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है, खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय ऐसे अन्ध की भाँति। [क्रियानय से आत्मा अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि हो ऐसा है; जैसे किसी अन्ध पुरुष को पत्थर के खम्भे के साथ सिर फोड़ने से सिर से रक्त का विकार दूर होने से आँखें खुल जायें और निधान प्राप्त हो, उस प्रकार।] ४२.

**प्रवचन नं. २६८, नय ४० से ४२**

**भाद्र कृष्ण ६, मंगलवार, ११ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, ३९ नय हुए। शिष्य का यह प्रश्न था। आपने पहले बहुत तो कहा था, परन्तु उसमें विशेष समझने के लिये प्रश्न करता है कि यह आत्मा अन्दर कैसा है? और वह चीज़ कौन है? कितना है? और उसे प्राप्त करने की विधि-पद्धति क्या है? ऐसा पूछा है, तथापि जवाब इसी में आ जाता है। नय का जो एक-एक धर्म है... धर्म अर्थात् आत्मा ने धार रखा हुआ भाव, उसे जानने पर भी, अन्तर द्रव्य चैतन्यप्रकाशमूर्ति है, द्रव्य चैतन्यप्रकाश है, उसे जानना, इसलिए उसका उपाय भी आ गया है। विस्तार से उपाय बाद में कहेंगे। समझ में आया? ऐसी बातें हैं।

आत्मा जो है, उसमें अनन्त धर्म है। गुण-पर्याय आदि अनन्त धर्म हैं। धर्म अर्थात् धार रखे हुए भाव। उनका यह अधिष्ठान आत्मा भगवान है। उन समस्त धर्मों का आधार आत्मा है। उसमें एक-एक नय जो एक-एक धर्म को जाननेवाला है, उसे जानकर भी अन्तर द्रव्य में, द्रव्य चैतन्यमूर्ति प्रकाश है, ऐसा उसमें जानना, इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहा...हा...!

अब अपने यहाँ भोक्तानय आया है। आत्मद्रव्य कैसा है? **भोक्तृत्वनय से...** आहा...! वास्तव में तो राग और राग का कर्तृत्व और भोक्तृत्व, आत्मा में अन्तर एकत्वबुद्धि होने पर, आत्मा की शान्ति और आनन्द और कर्तृत्व और भोक्तृत्व रहेगा, परन्तु जब पर्याय में कमजोरी के कारण राग का होना और राग का भोगना, ऐसा इसका एक धर्म, पर्याय में बिना है। कब? कि जो राग-दया, दान या काम, क्रोध के परिणाम, उनका द्रव्यस्वभाव कर्ता नहीं और भोक्ता भी नहीं - ऐसी दृष्टि हुई, तब उसके साथ रहा हुआ जो ज्ञान है, वह ज्ञान जानता है कि मुझमें राग का परिणमन है, उतना कर्तृत्व मैं जानता हूँ। आहा...हा...! तथा राग का, सुख-दुःख का भोगना... है न? सुख-दुःख अर्थात् ये कल्पना के सुख। इन्द्रियों के दुःख

और सुख। आहा...हा...! इन्द्रियों की ओर के झुकाववाला जो भाव-अनिष्ट संयोग में दु:ख भाव; इष्ट संयोग में सुख कल्पना का भाव, ऐसी जो भोक्ता की पर्याय है... आहा...हा...! उस सुख-दु:ख का भोगनेवाला है। समझ में आया?

इस बात का (एक मुमुक्षु को) विवाद था न? कि सुख-दु:ख को आत्मा भोगता ही नहीं। यह द्रव्यदृष्टिप्रकाश पढ़कर उसका एकान्त हो गया। उसमें ऐसा आया कि शुभभाव एक भट्टी है। द्रव्यदृष्टिप्रकाश में आता है। शुभभाव भट्टी? ज्ञानी को (भी) शुभभाव में भट्टी का वेदन होता है। आहा...! भट्टी का भोगनेवाला दृष्टि की अपेक्षा से है नहीं, परन्तु ज्ञान में जो पर्याय में जरा राग का भोक्तापना है, उसका उस नय से ज्ञान करता है। आहा! ऐसी बातें और पहले राग की एकता टूटे बिना स्वभाव की एकता नहीं होती; अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहा...हा...! और सम्यग्दर्शन होने पर भी उसका जो ज्ञान भाग है, वह ज्ञान तो उसे जितना हर्ष-शोक का वेदन होता है, उतना धर्म-मैंने धार रखा हुआ धर्म है-(ऐसा जानता है)। ऐसी सूक्ष्म बातें हैं।

**मुमुक्षु :** एक बार कहा कि मेरा नहीं है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मेरा नहीं, अर्थात् स्वभाव की अपेक्षा से मेरा नहीं, परन्तु पर्याय में मुझमें है। आहा...हा...! भगवान आत्मा चिदानन्दघन प्रभु के अनन्त गुण हैं, वे तो पवित्र हैं। वह पवित्र हैं, वह राग को करे और भोगे-ऐसा कोई गुण नहीं है-इस अपेक्षा से तो उसका राग का करतापना, दया, दान, व्रत के राग का करतापना और भोगतापना उसके स्वभाव में नहीं, परन्तु पर्याय को देखने पर... सूक्ष्म बात है, भाई! उसकी पर्याय को देखने पर, राग का परिणमन और राग का, सुख-दु:ख का भोगना - ऐसा पर्याय में एक (धर्म) है, ऐसा एक धर्म उसमें है। धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह नहीं। धार रखा हुआ एक भाव है। ओहो! मार्ग वह मार्ग!

एक ओर ऐसा कहे कि आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व है नहीं। आता है न १०२ गाथा? जो करे, वह भोगे। अज्ञानी जिस समय में करता है, उसी समय में भोगता है। ज्ञानी को करना-भोगना है नहीं। आहा...हा...! तथापि वह तो द्रव्य और द्रव्य के गुणों की अपेक्षा से बात की है, परन्तु पर्याय में अभी जो राग का परिणमन ज्ञानी को होता है और उस राग में सुख-दु:ख की कल्पना का परिणमन भी है। आहा!

सुखबुद्धि नहीं, उसे उस राग में सुखबुद्धि नहीं। यदि राग में सुखबुद्धि हो, तब तो मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! समझ में आया? यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम में भी धर्मी को सुखबुद्धि नहीं होती। सुखबुद्धि न होने पर भी, पर्याय में राग और सुख-दुःख का वेदन है। आहा...हा...! यह स्याद्वाद! अन्तिम ऐसा कहा न? भाई! स्याद्वाद से वस्तु को पहिचानना। अन्त में कहा है न? पीछे (आता है) **इस प्रकार स्यात्कारश्री ( स्यात्काररूपी लक्ष्मी ) के निवास के वशीभूत...** ऐसा है। पीछे ५०२ पृष्ठ पर है। अर्थ है न अर्थ? **इस प्रकार स्यात्कारश्री ( स्यात्काररूपी लक्ष्मी ) के निवास के वशीभूत वर्तते...** है न? अपेक्षा से कथन है। स्याद्वाद का कथन है। आहा..! जहाँ सम्यग्दर्शन ही नहीं, वहाँ स्याद्वाद और नय और श्रुतप्रमाण नहीं हो सकता। आहा...हा...! कठिन बातें, भाई! है न? स्यात्कारश्री के अर्थात् स्यात्काररूपी लक्ष्मी के **निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से ( जीव )...** देखो... (अर्थात्) भगवान को-स्वयं को। **देखें तो भी और प्रमाण से देखें तो भी स्पष्ट अनन्त धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को....** अनन्त धर्मवाले निज आत्मद्रव्य को। **भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।** आहा...हा...! सूक्ष्म बात, भाई! मूल बात ऐसी है। आहा...हा...!

मिथ्यात्व है, वह एक अभ्यन्तर महापरिग्रह है। अभ्यन्तर के भेद लिये हैं न? मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौ नोकषाय, पच्चीस (लिये हैं)। मिथ्यात्व, वह कषायभाव है। वह अन्तर-अभ्यन्तर परिग्रह है। वह परिग्रह जिसने पकड़ा है, उसने बाह्य के परिग्रह छोड़े हों, तथापि छोड़े नहीं हैं। आहा...हा...! जिसने मिथ्यात्वभाव परिग्रहरूप से पकड़ा है, वह अभ्यन्तर परिग्रहवाला है। आहा! अभी तो यह स्थिति खड़ी हुई है न! साधु तो साधु नाम धरानेवाले तो धर्मशाला और मन्दिर में रहते परन्तु गृहस्थ हैं, वे प्रतिमाधारी आदि नाम धराकर वे भी धर्मशाला में रहते हैं। सब विकृतरूप हो गया है। आहा...हा...! ऐ ई! आहा...हा...! मूल वस्तु की स्थिति का पता नहीं, इसलिए यह बाह्य से जहाँ कुछ छोड़ा तो हमने राग का त्याग किया और इस पर का त्याग किया... परन्तु अन्तर में जो राग की एकताबुद्धि-मिथ्यात्व है, उस परिग्रह के त्याग बिना, अभ्यन्तर त्याग बिना बाह्य का त्याग उसे हो ही नहीं सकता। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** बाह्य का त्याग...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** इसीलिए वहाँ जरा ऐसा होता है न? बाहर से छूटे ऐसा कहलाता है, वह तो निमित्त है। अभ्यन्तर परिग्रह का बाह्य तो निमित्त है। निमित्त है, वह कहीं अभ्यन्तर को-विकार को नहीं करता। आहा...हा...! परन्तु उस परिग्रह का बाह्य त्याग उसे हो सकता है कि जिसे अभ्यन्तर मिथ्यात्व का त्याग हुआ है उसे। आहा...हा...! परन्तु जिसे अभी राग की एकताबुद्धि का मिथ्यात्वभाव तो अन्दर है... आहा...हा...! तो महापरिग्रह तो अन्दर पड़ा है। आहा...हा...! वह बाह्य का त्याग (करके सब) छोड़कर बैठे, वह तो सब कृत्रिम है। सूक्ष्म बात है, भाई! तेरे हित का मार्ग है प्रभु! कोई अलौकिक है!

**मुमुक्षु :** प्रभु अलौकिक है तो मार्ग भी अलौकिक ही होगा न!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ऐसा ही होता है न! आहा...हा..!

यहाँ **भोक्तृनय से सुखदुःखादि...** रति-अरति आदि का वेदन होता है, तथापि उसे एकत्वबुद्धि नहीं होती। आहा...हा...! समझ में आया? नय से धर्म को देखने पर या प्रमाण से देखने पर, द्रव्य चैतन्यप्रकाशमय भगवान है, उसे देखनेवाले को मिथ्यात्व नहीं होता अर्थात् राग मेरा है और यह क्रियाकाण्ड का राग करूँ तो मुझे लाभ होगा, यह मिथ्यात्वभाव ज्ञानी को नहीं होता। आहा...हा...! बहुत कठिन काम! बापू! यह तो तेरे मार्ग की विधि क्या है, उसकी बात है। आहा!

यहाँ कहते हैं कि सुख-दुःख के संयोग भले कम हों... समझ में आया? परन्तु सुख-दुःख की कल्पना में जो वेदन होता है, वह उसका एक अपनी योग्यता का धर्म है। समझ में आया? चक्रवर्ती का राज होने पर भी जिसे अभ्यन्तर राग की ओर सुख-दुःख की वेदन दशा है, वह उसका धर्म है। वह (पर चीज़) नहीं। समझ में आया? आहा...हा...!

**आत्मद्रव्य...** वेदन के नय से-अपेक्षा से देखें तो भोक्ता है। सुख-दुःख आदि अर्थात्? उसमें रति, विषय-वासना का वह भोगनेवाला है। आहा...हा...! यह वासना मेरी है—ऐसी तो दृष्टि वहाँ नहीं है, परन्तु वासना का वेदन है—ऐसा एक धर्म है। वह कर्म के कारण वेदन है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...! ऐसी बातें बहुत सूक्ष्म हैं। क्या हो? मूल पूरे तत्त्व की-मूल तत्त्व की दृष्टि बिना अभी बड़ा प्रचार हो गया है। आहा!

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मद्रव्य एक नय से-भोक्तृत्वनय से सुख-दुःख, रति-अरति... आहा...हा...! हास्य आदि के वेदन का भोगनेवाला है, कहते हैं। आहा...हा...! वह हास्य को अपनी चीज़ नहीं मानता। राग का भोगनेरूप वह मेरा स्वरूप है—ऐसा नहीं मानता परन्तु पर्याय में है—ऐसा वह जानता है। मेरे द्रव्य, गुण, स्वभाव में वह नहीं परन्तु पर्याय में वह राग, रति-अरति आदि का वेदन है। आहा...हा...! सुख में रति और दुःख में अरति - शोक।

**हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले...** यह तो दृष्टान्त है न! स्वयं को ठीक पड़े, ऐसा हितकारी अनाज खाये, दाल-भात-रोटी (खाये) या अहितकारी खाये (अर्थात्) ज़हर पीवे अथवा मरने के लिये प्रतिकूल खाये अथवा ऐसी दवा हो, पीलिया की ऐसी एक दवा आती है न? पीलिया होता है न? पीलिया। (उसमें) पीला देखे। उस पीलिये में ऐसी एक दवा है कि विष्टा दुर्गन्ध दे-ऐसी दवा आती है। जैसी कुत्ते विष्टा नहीं परन्तु मनुष्य की विष्टा गन्ध दे-ऐसी वह दवा बहुत गन्ध (दुर्गन्ध) देती है। ऐसी दवा भी ले। यह तो दृष्टान्त है न!

**हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भाँति।** आहा! हितकारी अन्न खाये अथवा अहितकारी अन्न, ज़हर या अपने को ठीक न हो ऐसा। बहुत तेज सर्दी होने पर भी पेड़ा और शाकर (मिश्री) खाये, वह अहितकारी है। आहा...हा...! उस **हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भाँति।** आहा...हा...! **[ आत्मा भोक्तानय से सुखदुःखादि को भोगता है, जैसे हितकारक या अहितकारक अन्न को खानेवाला रोगी सुख या दुःख को भोगता है। ]** अहितकारी खाये, तब उसे दुःख होता है न? आहा...हा...! उस दुःख को जैसे रोगी भोगता है और हितकारी खाये तब ठीक है, प्रसन्न हो, इस (प्रकार) भोगता है। वैसे ही आत्मा में उस सुख और दुःख का वेदन होना, भोगना-ऐसा एक धर्म है। आहा...हा...! ज्ञानी धर्मी को भी पर्याय में सुख-दुःख का वेदन है-ऐसा जानते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म भाई! अभी तो यह बात समझना कठिन! आहा...हा...! अन्दर बैठना और परिणमित होना, वह तो कोई अलौकिक बात है! आहा...हा...! लोग बाह्य में-क्रियाकाण्ड में मनाकर बैठे हैं न, उन्हें यह बात अन्दर की नहीं रुचती। आहा! है न? **[ सुख या दुःख को भोगता है। ]**

अब वापस इससे विरुद्ध। आहा...हा...! जिस समय में सुख-दुःख को

वेदता है—ऐसा भोक्ताधर्म है, उसी समय में एक अभोक्ताधर्म है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...! **आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से...** एक और भोक्ता है तथा एक ओर उसी समय में अभोक्ता है। आहा...हा...! राग का और सुख-दुःख का भोक्ता नहीं-ऐसा भी एक धर्म इसमें है। अरे रे! यह अपने आप पढ़े तो कुछ बैठे-ऐसा नहीं है। आहा...हा...! 'वाँचे पर नहीं करे विचार' आता है, हमारे 'दलपतराम' में आता था। ७५ वर्ष पहले दलपतराम थे न बड़े कवि? क.द.डा. कवि दलपतराम डाह्याभाई। हमारे समय में वह परीक्षक था। ७५ वर्ष पहले की बात है। वह कहे - 'वाँचे पर नहीं करे विचार, वह समझे नहीं सारा सार'-ऐसा कहता। पढ़े परन्तु उसका विचार और यह क्या कहना चाहते हैं—ऐसे भाव को समझे नहीं तो वह तो सब पढ़ा हुआ व्यर्थ है। आहा...हा...!

**आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी ही है,....** उस सुख-दुःख का जाननेवाला ही है। आहा...हा...! सुख-दुःख की कल्पना का जानने-देखनेवाला साक्षी है। जिस समय में सुख-दुःख का वेदन (भोगता है), उसी समय में साक्षी भी एक धर्म है। आहा...हा...! ऐसा स्याद्वादमार्ग! आहा...हा...! एकान्त खींच जाये कि समकिती को सुख-दुःख का वेदन नहीं और दुःख को, सुख को वेदे तो तीव्र कषायवाला है, यह बात एकान्त है। आहा...हा...! (एक मुमुक्षु में) यह हुआ था न? वह कहे कि यह (सोगानीजी) भट्टी कहते हैं। ज्ञानी को क्या राग भट्टी होता है? ऐसा कहते थे। अन्त में एकान्त हो गया था। बहुत आते नहीं, बारह महीने में सात-आठ दिन रहे और बातें सब बाहर की। उसे तो ऐसा एकान्त हो गया। दशहरे के बाद आते। यह बात सत्य, सात-आठ दिन रहते।

यहाँ तो कहते हैं कि भोक्तानय भी एक धर्म है और उसके साथ अभोक्ता-साक्षीरूप रहना, वह भी इसका एक धर्म है। आहा...हा...! जिस समय में सुख-दुःख को वेदता है, उसी समय में उसका साक्षी भी है। ऐसा इसमें एक समय में ऐसे दो धर्म हैं। विरोधी दो धर्म हैं। धर्म अर्थात् आत्मा ने धार रखे हुए दो भाव। आहा...हा...! अरे! ऐसी बातें! क्या कहा?

**प्रश्न :** ये धर्म नैमित्तिक तो नहीं?

**समाधान :** नहीं, नहीं; अपनी योग्यता ही है। यहाँ तो आत्मधर्म इसी भाववाला है -ऐसा कहना है न? नैमित्तिक, परन्तु वेदन किसका है? नैमित्तिक का

वेदन निमित्त के लक्ष्य से भले हो परन्तु निमित्त से नहीं होता। बड़ा अन्तर है। इस हर्ष-शोक का वेदन, निमित्त भले हो, परन्तु निमित्त से उस सुख-दुःख का वेदन नहीं है। सुख का वेदन इसके अशुद्ध उपादान में स्वयं से है। आहा...हा...! समझ में आया? यह कर्म का ऐसा उदय आया, इसलिए इसे सुख-दुःख भोगना पड़ा- ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

सोगानी में एक आता है। उसका एक नौकर था, वह बहुत खा गया था। फिर उन्हें रुकना पड़ा। नौकर था, वह बहुत खा गया; इसलिए उसे जरा रुकना पड़ा। उस प्रकार का राग बाकी था। आहा...हा...! है? ऐसा कि नहीं तो मुझे यहाँ सोनगढ़ आने का भाव था परन्तु इस प्रकार से ऐसा एक नौकर आया, वह सब अकेले में उठा ले गया। आहा...हा...! इसलिए उस प्रकार का राग (आया)। सोगानी समकिती थे। ऐई! तथापि उस प्रकार के सुख-दुःख की कल्पना आती थी और उसे वेदते थे। आहा...हा...! और वेदने के काल में भी उसके साक्षीरूप भी रहते थे। आहा...हा...! ऐसी बात है।

श्रीमद् कितनी ही बार ऐसा कहते हैं कि अरे! महाकठिनाई से गोते खाते-खाते पार उतरते हैं। श्रीमद् में यह आता है। राग और अन्दर हर्ष-शोक का वेदन आ जाता है। हिचकोले खाते-खाते अन्दर जाते हैं। आहा...हा...! श्रीमद् की स्थिति बहुत ऊँची थी। बाद में तो बहुत निर्मलता! सत्शास्त्रों के नाम दिये, (उसमें) अकेले दिगम्बर शास्त्रों के नाम दिये हैं। एक-दो वे तो ग्रन्थ के दिये हैं। श्वेताम्बर के किसी शास्त्र का नाम नहीं दिया। पहले दोनों शामिल थे। केवली, छद्मस्थ का विनय करे और पन्द्रह भेद से सिद्ध हो, यह सब श्वेताम्बर की बात है, वस्तु की स्थिति नहीं। पहले यह था, बाद में गया। क्या कहा समझ में आया इसमें? आहा...! केवलज्ञानी विनय करे, यह बात तत्त्व नहीं है। सर्वज्ञ किसका विनय करे? गुरु का विनय श्वेताम्बर में नौवें अध्याय में दश वैकालिक में आता है। दश वैकालिक उनका बनाया हुआ है, उसमें '....' अनन्त ज्ञान प्राप्त ज्ञानी शिष्य, गुरु का विनय करता है। केवली को विनय नहीं होता। आहा...हा...! यह श्वेताम्बर की कल्पना की बात उन्हें उस समय लक्ष्य में रह गयी है। इसलिए आत्मसिद्धि में डाला है न? 'गुरु रहे छद्मस्थ पर विनय करे भगवान' यह बात सत्य नहीं है।

यहाँ तो दिगम्बर धर्म ऐसा नहीं कहता कि पन्द्रह भेद से सिद्ध होता है। वह

तो नग्नता-वस्त्ररहित हो और अन्तर में रागरहित हो, वही मुक्ति को प्राप्त करता है। उसमें तो (श्वेताम्बर में तो) ऐसा कहते हैं कि वस्त्र होता है। आता है न? मरुदेवी हाथी के हौदे भगवान ऋषभदेव के दर्शन करने गयीं (और) हाथी के हौदे केवलज्ञान हो गया। एक तो स्त्री और हाथी के हौदे केवल (ज्ञान) हुआ-दोनों खोटी-झूठी बातें हैं।

**मुमुक्षु :** भगवान की माता को हो उसमें क्या दिक्कत है?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** भगवान की माँ कहाँ थी? वह तो आत्मा है। आत्मा को माँ कैसी और बाप कैसा और पुत्र कैसा? हाथी के हौदे भगवान की माता को केवलज्ञान (प्राप्त हुआ), स्त्रीपना, वस्त्रपना और हाथी को हौदे-ऐसा श्वेताम्बर में आता है। बिल्कुल झूठ बात है, सत्य से विरुद्ध है। ऐसी बातें हैं, बापू! कठोर पड़े, क्या हो? मार्ग जो हो ऐसा आता है न? भाई!

यहाँ कहते हैं आत्मद्रव्य जिस क्षण में हर्ष-शोक को भोगता है, वह भी एक धर्म अर्थात् धार रखा हुआ भाव कहने में आता है और उसी क्षण उसका साक्षी है ऐसा भी एक धर्मभाव धार रखा हुआ आत्मा है। आहा...हा...! इन दोनों धर्म को लक्ष्य में लेकर भी चैतन्यमूर्ति द्रव्य चैतन्य जो आत्मद्रव्य है, चैतन्य प्रकाशमय है। चैतन्य के प्रकाश की मूर्ति, वहाँ इसे नजर करना है। आहा...हा...! **आत्मद्रव्य...** है न अन्तिम? अभी कहा था।

**अनन्त धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को अन्दर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखता है ही है।** शुद्ध चैतन्यमात्र! द्रव्य को-आत्मद्रव्य को शुद्ध चैतन्यमात्र देखता है। यहाँ कहते हैं कि आत्मद्रव्य भोक्ता और अभोक्तानयवाला है। आहा...हा...! समझ में आया? इसकी पर्याय में सुख-दुःख का वेदन और सुख-दुःख का साक्षी, दोनों है; तथापि उनका ज्ञान करके आत्मद्रव्य अन्दर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखे। आहा! ऐसे अनन्त धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य भगवान को **अन्दर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखता ही है।** आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। साधारण लोगों को तो, यह क्या कहते हैं, यह बैठना कठिन (पड़ता है)।

पर्याय में ऐसे दो प्रकार के भाव / धारा हुआ भगवान अधिष्ठान आत्मा है, तथापि उस भाव से लक्ष्य छोड़कर अन्दर में शुद्ध आत्मद्रव्य चैतन्यमात्र का पुंज प्रभु

है, वहाँ इसे देखता ही है। ऐसा आया है न। देखता ही है। आहा..हा...! ऐसे पर्याय में ऐसे धर्म होने पर भी, उसे अन्तर चैतन्यद्रव्य-आत्मद्रव्य को चैतन्यमात्र प्रकाशमय देखता है। आहा...हा...! उसमें अन्दर ये सब प्रकार नहीं हैं। आहा...हा...! अरे! पर्याय में है परन्तु द्रव्यस्वभाव जो चैतन्य है, पूर्णानन्द का नाथ अन्दर में चैतन्यप्रकाशमूर्ति आत्मद्रव्य को अन्दर देखने पर, वह देखता ही है। इसका नाम सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

**हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले...** है न? **रोगी को देखनेवाले वैद्य की भाँति।** पहला खानेवाला रोगी है, रोगी खाता हो, उसे देखनेवाला वैद्य है, उसकी तरह। यह क्या कहा? हर्ष-शोक को वेदता है—ऐसा भी एक धर्म है और हर्ष-शोक को जाननेवाला है, जैसे रोगी बाहर के रोग को, हर्ष-शोक को वेदता है और वैद्य तो जानता है; इसी प्रकार आत्मा भी उस हर्ष-शोक का वेदन है, उसे जानता है। अरे! जानता भी है और वेदता भी है-ऐसी बात है। क्योंकि उसके ज्ञान में से वे दो नय नहीं—ऐसा (हो) जाये तो उसे अनन्त धर्म का धारक द्रव्य है, वह लक्ष्य में नहीं रहता। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

**केवल साक्षी ही है,...** वापस भाषा देखी? है? **आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी ही है,...** अकेला साक्षी है, ऐसा नहीं लिया; केवल साक्षी है। हर्ष-शोक है, उसे जाननेवाला रहता है, बस! आहा...! जाननेवाला भी रहता है और वेदना भी होती है-ऐसी बातें हैं, भाई! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज़ है! और सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान हो, वह भी कोई अलौकिक बात है! अनन्त काल में कभी एक सैकेण्ड भी किया नहीं, ऐसा सम्यग्ज्ञान कोई अलौकिक चीज़ है। आहा...हा...! यह यहाँ कहते हैं कि अन्दर अभोक्तानय से सुख-दुःख को वेदन करे-ऐसा एक धर्म है, तथापि जैसे वैद्य रोगी को जानता ही है, वैसे आत्मा उस सुख-दुःख को केवल साक्षीरूप से जाननेवाला ही रहता है। समझ में आया? उसे जाननेवाला रहता है—ऐसा भी एक इसका धर्म स्वतः है और भोक्ता है-ऐसा धर्म भी स्वतः है; पर से नहीं। ऐसी बातें हैं। अरे रे! इसे पाप के कारण फुरसत नहीं मिलती। पूरे दिन पाप... पाप... यह कमाना और यह खाना, यह पीना, उसमें पाँच-पचास लाख एकत्रित हो तो देखो फिर, फँस गया उसमें! फँस गया? उसमें कोई दो-पाँच करोड़, दस करोड़ हो... वह चीज़ तो पर है। आयी है, वह पररूप से आयी है परन्तु यह मेरी है-ऐसी ममता, वह मिथ्यात्व है।

**प्रश्न :** सबको क्यों नहीं आयी ?

**समाधान :** किसके पास आती है ? वह तो जिस क्षेत्र में जानी हो, वह जाती है। उसके पुण्य का उदय निमित्त है तो संयोग वहाँ आते हैं परन्तु संयोग है, वह संयोगीभाव कहाँ कराता है ? वे मेरे हैं-ऐसा संयोगी चीज कराती है ? तब तो चक्रवर्ती का संयोग हो उसे अधिक ममता हो और जिसे थोड़ा संयोग हो, उसे थोड़ी ममता हो - ऐसा नहीं है। इन्द्र के इन्द्रासन, करोड़ों अप्सरायें हैं, तथापि उसे अस्थिरता की ममता थोड़ी है और निर्धन द्रव्यलिंगी साधु हो, एक वस्त्र का टुकड़ा भी न हो परन्तु राग को अपना मानकर, राग वह धर्म है, पुण्य वह धर्म है—ऐसा माननेवाले को अनन्त मिथ्यात्व का परिग्रह पड़ा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसे देखो तब तो नारकी को पैसा नहीं है। तिर्यंच को पैसा है ? इसे फिर ऐसा कि पैसा-वैसा हो तो साधन मिले और ठीक। इस कुत्ते को पैसा कहाँ है ? इस बन्दर को, गिलहरी को पैसा है ? तो ये पैसे के त्यागी हैं ? पैसा नहीं, इसलिए पैसे का त्यागी है ? पैसा मेरा है—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसका त्याग नहीं, इसलिए त्यागी नहीं है। आहा... ! समझ में आया ? देव को कहाँ पैसा है ? देव में पैसा नहीं। दूसरे गहने सब होते हैं। वैसे नारकी को पैसा नहीं। पैसा तो इस एक मनुष्य में ही सब व्यवहार करने की पद्धति है। ऐसे गहने रखे, हाथी-घोड़ा होते हैं न ? माणिक, इसकी शोभा गहने रखता है, इसलिए यह मानता है कि यह मुझे शृंगारित किया, मैं शोभित होता हूँ - ऐसी ममता रखता है। कोई पैसा देता है न ? हाथी के मुँह में पैसा दे, ये कितने ही लोग होते हैं, वे सूँड में (पैसा) रखते हैं परन्तु वह तुरन्त उसे (महावत को) दे देता है। वह महावत ले लेता है। त्यागी कहलाता है न ? कोई चार आना, आठ आना रखे। हाथी को गणपति का रूप मानते हैं न ? ऐसे लोग हाथी के मुँह में रुपया, दो रुपया रखते हैं, वह इकट्ठा करके (सूँड़) ऊँची करके महावत को दे देता है। महावत भी तुरन्त ले लेता है। उसे पैसे मेरे हैं-ऐसा कहाँ है ? अन्दर में ममता है, पैसे का तो पता भी नहीं परन्तु अन्दर में परचीज़ है, वह मेरी है—ऐसा मिथ्यात्व का परिग्रह उसे पड़ा है। भले वह पैसा नहीं रखता। आहा...हा... !

**मुमुक्षु :** बैंकवाले रखते हैं परन्तु उनके नहीं मानते।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह मानता है, इसे ममता है। इसमें से ऐसा पैदा हो, वह मेरा-ऐसा मानता है। अच्छा ब्याज आवे। देना पड़े आठ आना और ले बारह आना।

अभी अधिक होगा। कोई पाँच लाख रखने आया हो तो दे छह आना और देवे उसके बारह आना ले। यह तो पहले, हों! अभी तो (बढ़ गया है)। यह तो पहले का सुना था। आहा! यह ममतावाले बड़े हैं। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं, ओहो...हो...! क्या गजब बात है न! भोक्ता का धर्म भी इसका और अभोक्ता-साक्षी रहने का भी धर्म इसका। देखो! कथंचित् स्याद्वादरूप मार्ग! आहा! यह अनेकान्त मार्ग, वह जैनधर्म है। अनेक अन्त अर्थात् धर्म जिसमें है। आहा...हा...! यह धार रखा हुआ धर्म कहलाता है न? अनेक अन्त अर्थात् धर्म। भोगने का धर्म और अभोगने का धर्म - ऐसा अनेकान्त है। आहा...हा...! आत्मा, शरीर को भोगता नहीं। स्त्री का शरीर है, उसे तो शरीर स्पर्श भी नहीं करता, आत्मा तो उसे स्पर्श करता ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? अज्ञानी की दृष्टि वहाँ जाती है, इसलिए मानो मैं शरीर के माँस और हड्डियों को वेदता हूँ, उसके साथ मैं रमता हूँ—ऐसा अज्ञानी ममता से मानता है। आहा...हा...! वह वेदता है दुःख को, विकार को; रमता है विकार के साथ, तथापि मानता है कि इस स्त्री के साथ मैं रमता हूँ। बहुत दृष्टि फेर है। जिसे यह स्पर्श भी नहीं करता, स्पर्श कर भी नहीं सकता... आत्मा शरीर को, कर्म को स्पर्श कर नहीं सकता। आहा...हा...! समझ में आया? अरे! ऐसी बातें हैं। कहो, भाई! आहा...हा...!

यह हाथ है, वह इस शरीर को स्पर्श ही नहीं करता, तथापि ऐसा होता है। स्पर्श नहीं किया। इसे होने के काल में अपने कारण ऐसा खड्डा पड़ा। आहा...हा...! आत्मा, शरीर को भोगता है, यह नहीं; वह तो राग-द्वेष को भोगता है, यह बात है। समझ में आया? दाल, भात को भोगे या मौसम्बी को पीवे या रसगुल्ला खाये, ये तो बिल्कुल झूठ बात है। मात्र इसके परिणाम में मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है कि मैं इन्हें भोगता हूँ, वह विकार का भाव मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व को वेदता है। आहा..हा...! ज्ञानी को पर को भोगता हूँ, यह बुद्धि नहीं है तथा भोगने का भाव, वह सुखरूप है- ऐसा नहीं मानता। उसे ऐसे दुःख के परिणाम आवें, उन्हें जाने और वेदे। आहा...हा...! ऐसा मार्ग है, भाई!

आत्मा अभोक्तानय से **केवल साक्षी ही है,...** देखो! यहाँ एकान्त किया है। आहा...हा...! **केवल साक्षी ही है,...** आहा! ये हर्ष-शोक के परिणाम हुए, वे वेदता है, वह जानता है और वेदन मेरा है, मुझमें है—ऐसा जानता है और फिर ऐसा

जानता है कि इस वेदन का मैं जाननेवाला हूँ, उसी समय में मैं वेदन को जाननेवाला हूँ-ऐसा धर्म है। अरे रे! यह पर के वेदन की बात नहीं है। यहाँ तो अन्दर में हर्ष-शोक का जो वेदन (होता है), उसकी बात है। आहा...हा...! मकान को भोग सके या दस-लाख, दो-पाँच करोड़ का बड़ा मकान करे, खिड़की, दरवाजे, फर्नीचर... यह क्या कहलाता है बिछाने का? मखमल का गलीचा, ऐसे फर्नीचर पाँच-दस-पच्चीस लाख के (करे), उसे भोग नहीं सकता। आहा...हा...! यह अज्ञानी उसे भोग नहीं सकता। आहा! ज्ञानी तो उसे भोगता नहीं परन्तु अज्ञानी भी उसे भोग नहीं सकता।

**मुमुक्षु :** उसे देखकर मजा तो आता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह मजा उसे देखकर नहीं आता; मजा उत्पन्न करता है। वह चीज़ तो निमित्त है। आहा...हा...! एक बार कहा था न? अपने (एक मुमुक्षु) है न? मुम्बई में है न? पाँच-छह करोड़ रुपये। वहाँ आहार करने गये थे। क्या कहलाता है तुम्हारा वह? ब्लाक! बहुत थे। उसमें मखमल बिछाया था। आहार करने गये थे। यहाँ किसी समय आता है। अभी ऐसा सुना है। मोरबी के होंगे या चाहे जो, परन्तु मोरबी में ऐसा तूफान (बाढ़) हुआ तो पाँच लाख दिये, परन्तु वह पैसा कौन ले? और पैसा कौन दे? उसमें उसने राग का मन्द भाव किया हो तो वह शुभभाव है और वे पैसे मैंने दिये, इसलिए वहाँ सही व्यक्ति को ध्यान रखना, ये सब आते हैं तद्नुसार प्रयोग होता है या नहीं? आहा...हा...! यह तो सब परिग्रह की पकड़ है। आहा..! जिसका त्याग किया, फिर उसका क्या होता है, उसे देखने का कहाँ रहा? परन्तु यह त्याग किया ही नहीं। आहा...हा...!

यहाँ तो **[ आत्मा अभोक्तानय से केवल साक्षी ही है-भोक्ता नहीं; जैसे सुख-दुःख को भोगनेवाले रोगी को देखनेवाला वैद्य वह तो केवल साक्षी ही है। ]** आहा...हा...! उसी प्रकार भगवान आत्मा सुख-दुःख की पर्याय को वेदे और केवल साक्षी भी रहे। ऐसी बातें हैं। जगत से अलग प्रकार है। अभी सम्प्रदाय में तो बड़ी गड़बड़ उठी है। अब ४२।

**आत्मद्रव्य क्रियानय से....** देखो! आया, इसमें विवाद उठा है। **क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है,...** ऐसी एक योग्यता गिनी है। राग की क्रिया से, दया, दान, व्रतादि के भाव से-ऐसी एक योग्यता गिनी। एक धर्म, हों! परन्तु उस एक धर्म के साथ में दूसरा भी धर्म-ज्ञाननय का धर्म साथ में ही है।

आहा...हा... ! किसी को क्रियानय से मुक्ति हो और किसी को ज्ञाननय से हो-ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है। यहाँ तो राग की दशा बहुत मन्द कर डाली, ऐसी एक योग्यता गिनी कि राग की क्रिया से उसे मुक्ति हुई। ऐसा एक धर्म अर्थात् अन्तर की योग्यता कहने में आयी, जानने में आयी, परन्तु उसी समय में उसे ही ज्ञाननय से उसकी मुक्ति है—ऐसा भी उस समय में उसका एक धर्म है। यह तो नय विशेष की व्याख्या है। आहा...हा... ! क्रियानय से अर्थात् ऐसा मान ले कि क्रियानय से हमारी मुक्ति होगी (तो) वह तो मिथ्यात्व है। आहा...हा... ! राग से मुझे मुक्ति होगी... इसमें कहा है न ?

**क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से....** राग की मन्दता के आचरण की मुख्यता से **सिद्धि सधे ऐसा है,....** ऐसा एक पर्याय में योग्यता का एक धर्म धार रखा हुआ कहने में आता है परन्तु उसी जीव को ज्ञाननय भी उसके साथ में है। आहा...हा... ! समझ में आया ? **खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय....** खम्भे में अन्दर निधान भरा हो (और) सिर फूटे। अन्दर आँख (खराब) हो गयी और खम्भे में हीरे भरे थे, एकदम मिले ! **खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर....** देखा ? आँख खुली।

**जिसे निधान प्राप्त हो जाय ऐसे अन्ध की भाँति।** अन्धे की भाँति। अन्धा हो, खम्भे से सिर (टकराया तो) आँखों से देखा और हीरा देखा, निधान देखा। वैसे राग की मन्दता के अनुष्ठान से भी एक योग्यता ऐसी गिनने में आयी। आहा...हा... ! इसमें (लोगों को) सब उलझन है।

**मुमुक्षु :** साक्षी ही है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** साक्षी है, तथापि राग की क्रिया से हो—ऐसा भी इसका धर्म है। इसमें पर्याय का एक धर्म-योग्यता गिनी है और उसी (समय में) ज्ञाननय से हो—ऐसी इसमें योग्यता है। किसी को क्रियानय से मुक्ति हो और किसी को ज्ञाननय से (हो)-ऐसा नहीं। आहा...हा... ! अनन्त धर्म जो आत्मा में हैं, पर्याय में हैं; उनमें की यह एक धर्म की योग्यता गिनने में आयी है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

व्यवहार साधन से मुक्ति होती है—ऐसी एक कथनशैली है तो ऐसा इसमें एक पर्याय में कथन-वाचक है तो वाच्य गिनने में आया है। क्या कहा यह ? शास्त्र

में ऐसा है। जयसेनाचार्य में तो बहुत (आता है), व्यवहार, साधन है और निश्चय, साध्य है, वहाँ लोग पकड़ते हैं परन्तु वह तो वहाँ व्यवहार, साधन कहा, वह तो योग्यता का एक धर्म गिना, एक धर्म। ऐसे तो अनन्त धर्म पर्याय में हैं। आहा...हा.... ! एक धर्म को पकड़े तो वह तो एकान्त है। आहा.. ! ऐसी बातें हैं।

**क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से....** ऐसा कहा न ? उसकी मुख्यता गिनने में आयी। भाषा में कहा तो वाच्य में उसका एक धर्म गिनने में आया है। आहा...हा... ! व्यवहार, साधन; निश्चय, साध्य - ऐसा आता है। उसका अर्थ कि ऐसी एक योग्यता गिनने में आयी है परन्तु उस समय ही ज्ञान है, वह जानता है कि राग से मुक्ति नहीं है, ज्ञान से मुक्ति है। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं। है ?

**[ क्रियानय से आत्मा अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि हो ऐसा है;... ]** आहा...हा... ! **[ जैसे किसी अन्ध पुरुष को पत्थर के खम्भे के साथ सिर फोड़ने से सिर से रक्त का विकार दूर होने से आँखें खुल जायें और निधान प्राप्त हो, उस प्रकार। ]** नीचे देखे तो निधान देखा ! आहा... ! श्वेताम्बर में आता है न वह... क्या कहलाता है वह ? वस्तुपाल, तेजपाल, करोड़पति (थे) यात्रा करने निकले। पैसे बहुत, करोड़ों रुपये, (इसलिए) अपना एक बड़ा.... वहाँ दबाने जाते हैं। दबाने जाते हैं, वहाँ करोड़ों रुपये निकले। हीरा की खान निकली। दबाने जाते हैं, वहाँ निकली। फिर महिलाएँ कहती है कि तुम्हें तो पग-पग पर निधान है, किसलिए यहाँ दबाते हो ? यह बात श्वेताम्बर में आती है। आती है न ? वह तो पूर्व का योग दिखता है, उससे क्या हुआ ?

इसी प्रकार यहाँ राग की मन्दता से कुछ लाभ है—ऐसा जो धर्म कहने में आया, इस कारण उससे मुक्ति होती है, यह तो व्यवहारधर्म की अपेक्षा से कथन है। ओहो... ! इसे पकड़ते हैं, देखो ! इसमें क्रियानय से मुक्ति कही है। जैसे अन्धे को सिर टकराने से निधान दिखा, वैसे किसी को राग की मन्दता के भाव में उसका आत्मा अन्दर जानने में आवे आहा...हा... ! निधान जानने में आवे।

मोक्षमार्गप्रकाशक में एक जगह है कि बहुत राग की मन्दता में... करे तो इसे उसका पुण्य बँध जाता है और उसके कारण बाहर का संयोग इसे अच्छा मिले तो यह धर्म भी पा जाये-ऐसा लिया है। उस समय तो वह दृष्टि बदले, तब धर्म पाये। निमित्त अच्छा मिला, इसलिए धर्म पाता है - ऐसा नहीं है। बहुत सूक्ष्म बातें, बापू !

आहा...हा... ! परमात्मा का मार्ग-अनेकान्तमार्ग अलौकिक है, अपूर्व और सूक्ष्म है। आहा...हा... ! उसमें अटककर बातें करे, देखो ! इसमें क्रियानय से मुक्ति कही है। बापू ! यह तो एक इसकी योग्यता कहने में आयी है परन्तु उसके साथ ज्ञान-आत्मा ज्ञातादृष्टा है-ऐसा ज्ञान है, उससे मुक्ति होती है, वह साथ में ही है। समझ में आया ? क्या हो ? कथन की शैली का आशय क्या है, उसे न समझे और एक ही पकड़े तो एक धर्म को पकड़ा तो वह तो एकान्त हो गया। साथ में ज्ञातादृष्टा हो, वह ज्ञातादृष्टा की परिणति मुक्ति का कारण है। द्रव्य के आश्रय से जो वीतरागता प्रगट हो,वह वीतरागता उस मुक्ति का-धर्म का कारण, धर्म है। शुद्धोपयोग धर्म और शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है। आहा...हा... ! प्रवचनसार में अन्त में नहीं आया ? शुद्धं ! शुद्ध को ज्ञान होता है, शुद्ध को समकित होता है, शुद्ध को चारित्र होता है, शुद्ध को मोक्ष होता है, लो ! यहाँ यह कहते हैं। अन्तिम गाथा है। इस प्रवचनसार की अन्तिम गाथा। है न अन्तिम ? २७४

**रे! शुद्ध ही श्रामण्य है, रु ज्ञान-दर्शन शुद्ध के।**
**हो शुद्ध के निर्वाण, शुद्ध ही सिद्ध, वन्दन है उन्हें॥२७४॥**

ठीक ! २७४ गाथा, ४८९ पृष्ठ, अन्तिम, अन्तिम, है ? मूल गाथा '**सुद्धस्स य सामण्णं**' उस शुद्धोपयोगी को चारित्र होता है। आहा.. ! '**भणियं**' भगवान ने ऐसा कहा है। '**भणियं**' है न ? '**सुद्धस्स दंसणं णाणं।**' शुद्ध को समकित और ज्ञान होता है। '**सुद्धस्स य णिव्वाणं**' उसे मुक्ति होती है। '**सिद्धो णमो तस्स।**' ऐसे शुद्धरूप जो है, उससे सिद्ध होते हैं, उनको नमस्कार करता हूँ।

यहाँ तो व्यवहार एक धर्म है-ऐसा गिनने में आया है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

## नय-४३ से ४५

**ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४३। व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ४४। निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्ध-मोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ४५।**

आत्मद्रव्य ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से सिद्धि साधे ऐसा है; मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि-रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी की भाँति। [ज्ञाननय से आत्मा को विवेक की प्रधानता से सिद्धि होती है, जैसे घर के कोने में बैठा हुआ व्यापारी मुट्ठीभर चना देकर चिन्तामणि-रत्न खरीद लेता है, उसी प्रकार।] ४३.

आत्मद्रव्य व्यवहारनय से बन्ध और मोक्ष में द्वैत[१] का अनुसरण करनेवाला बन्धक है, (बन्ध करनेवाले) और मोचक (मुक्त करनेवाले) ऐसे अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणु की भाँति। [व्यवहारनय से आत्मा, बन्ध और मोक्ष में (पुद्गल के साथ) द्वैत को प्राप्त होता है, जैसे परमाणु के बन्ध में वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ संयोग को पानेरूप द्वैत को प्राप्त होता है और परमाणु के मोक्ष में वह परमाणु अन्य परमाणु से पृथक् होनेरूप द्वैत को पाता है, उस प्रकार।] ४४.

आत्मद्रव्य निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बन्धमोक्षोचित स्निग्धत्वरूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भाँति। [निश्चयनय से आत्मा अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, जैसे बन्ध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध या रूक्षत्वगुणरूप परिणमित होता हुआ परमाणु अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, उस प्रकार।] ४५.

१. द्वैत=द्वित्व, द्वैतपन [ व्यवहारनय से आत्मा के बन्ध में कर्म के साथ के संयोग की अपेक्षा आती है, इसलिए द्वैत है और आत्मा की मुक्ति में कर्म के वियोग की अपेक्षा आती है, इसलिए वहाँ भी द्वैत है।]

**प्रवचन नं. २६९, नय ४३ से ४५**

**भाद्र कृष्ण ७, बुधवार, १२ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, ४२ नय कहे। क्रियानय है, वह एक धर्म गिनने में आया है। राग की मन्दता से अभाव होकर होता है, तथापि उस क्रियानय को एक नय का धर्म गिना है परन्तु क्रिया से मुक्ति होती है - ऐसा नहीं है। उसके साथ में ज्ञाननय है। आहा...हा...! वह यह ४३ आता है न?

**आत्मद्रव्य...** वस्तु जो भगवान आत्मद्रव्य, वह **ज्ञाननय से...** आहा...हा...! यह ज्ञाननय अर्थात् क्या? इन्द्रिय का ज्ञान नहीं, पाँच इन्द्रियों से हुआ ज्ञान, वह ज्ञान नहीं। अन्तर में आत्मज्ञान, वह ज्ञान कहने में आया है। आत्मज्ञान का एक नय-एक अंश प्रमाण में आता है। क्योंकि शामिल क्रियानय, अस्ति-नास्ति आदि बहुत नय हैं न? अनन्त धर्म का धारक आत्मा है, उसमें का एक यह ज्ञाननय है। क्रियानय के साथ ही एक ज्ञाननय है। आहा...हा...! जो आत्मा पाँच इन्द्रिय के विषय की ओर से लक्ष्य छोड़कर...

**जो इंदिये जिणित्ता** कहा है न? (समयसार) ३१ गाथा। एक ही स्पर्श को जीतना-ऐसा नहीं। स्पर्श में भी शीत, उष्ण / गर्म, भारी हल्का - ऐसे आठ स्पर्श हैं न? वे आठ स्पर्श इस स्पर्श इन्द्रिय का विषय है। आहा...! उससे होता जो ज्ञान, वह ज्ञान नहीं। आहा...हा...! तथा चार इन्द्रिय से जो बाह्य... आहा...हा...! आँख है, वह आँख पर को ऐसा जानती है। आँख, आँख को नहीं जानती। समझ में आया? यह स्पर्श इन्द्रिय है, वह स्पर्श विषय को जानती है। स्पर्श स्वयं क्या, उसे नहीं जानता। आहा! इसी प्रकार पाँचों इन्द्रिय को जीतना, ऐसा ३१ (वीं गाथा) में कहा है न? पाँच इन्द्रिय, उनकी ओर का जो झुकाव है, अरे! पाँच इन्द्रिय से होनेवाला ज्ञान—सुनकर, पढ़कर, देखकर (होता ज्ञान), वह ज्ञान भी ज्ञाननय नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई!

अन्तरस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञायकभावस्वरूप, ज्ञानस्वरूप त्रिकाल, उसे

ज्ञान का नय अन्दर में लक्ष्य करके वह ज्ञान सम्यक् प्रगट हो, उसे एक ज्ञाननय कहने में आता है। सूक्ष्म बात है, बापू! अरे रे! ऐसे काल में यह कहने का प्रसंग! इसमें कहाँ रुक जाये? कहते हैं कि पाँच इन्द्रिय के विषय के ज्ञान में रुक जाये तो उसे ज्ञाननय नहीं प्रगट होता। आहा...हा...!

भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु के सन्मुख होकर, उसे स्पर्श कर ज्ञान होता है, वह ज्ञाननय एक धर्म है, एक योग्यता-धर्म है। आहा...हा...! पाँच इन्द्रिय से जाना, पढ़ा, सुना, वह ज्ञान नहीं। आहा! ज्ञाननय अर्थात् ज्ञानस्वरूपी भगवान है, उसका ज्ञान होना, वह ज्ञाननय है। आहा...! ऐसी बात अब कहाँ है? लोगों को निवृत्ति नहीं मिलती?

**प्रश्न :** धारणा का ज्ञान, वह ज्ञान है?

**समाधान :** धारणा, यह पाँच इन्द्रिय से जो धारा, वह ज्ञान नहीं। जो मन से धारणा हुई है, वह भी ज्ञान नहीं क्योंकि मन है, वह विकल्पस्वरूप है; भगवान है, वह निर्विकल्पस्वरूप है। आहा! यह आता है न? भाई! समयसार ९६ वें गाथा। इन्द्रिय और मन। मन का विषय भी पर की ओर जाता है, विकल्प है। आहा...हा...! भले वह अरूपी को जाने। इन्द्रियाँ हैं, वे रूपी को जानें और मन है, वह रूपी-अरूपी दोनों को जाने परन्तु फिर भी वह परसन्मुख का झुकाव है। आहा...हा...! गजब बातें हैं, प्रभु! यह समयसार ९६ वीं (गाथा में) आता है। मृतक कलेवर का जो है न? उसमें यह आता है। अमृत का सागर भगवान! मृतक कलेवर-यह शरीर मुर्दा है यह तो; परमाणु में चैतन्य कहाँ है? आहा..हा...! इस मृतक कलेवर में मूर्च्छित हुआ। एक-एक विषय में मूर्च्छित हुआ, वह पाँचों इन्द्रिय के विषय में मूर्च्छित हुआ।

भाई ने तो यह स्पष्टीकरण किया है कि स्पर्श इन्द्रिय तो पूरे शरीरप्रमाण अखण्ड है और चार इन्द्रिय खण्ड-खण्ड है। यह स्पर्श तो सर्वत्र पूरे शरीर में है। यह अखण्ड स्पर्श इन्द्रिय और इसके विषय की ओर के भाव को अखण्डरूप से है उसे जीतना, तब अखण्ड आत्मा ज्ञायक है, उसकी दृष्टि होती है, भाई! ऐसी बातें! तेरी प्रभुता का पार नहीं, नाथ! आहा...हा...! परन्तु इसकी प्रभुता की इसे खबर नहीं। आहा...हा...! कहते हैं कि इस शरीर में पूरे में स्पर्श है। भले यह इन्द्रिय है परन्तु वहाँ भी स्पर्श तो है न? यह स्पर्श इन्द्रिय की ओर से जो विषय परसन्मुख हो, वह ज्ञाननय

(नहीं) है, उसे जीतना अर्थात् उसकी ओर का लक्ष्य छोड़ना, पाँचों इन्द्रियों की ओर का विषय और इन्द्रिय... आहा...हा...! उसका लक्ष्य छोड़कर अनीन्द्रिय अखण्ड प्रभु का ज्ञान करना। जाननेवाले को देख, जाननेवाला इन्द्रिय द्वारा पर को देखे, वह तो पराधीनता है। आहा...हा...! जाननेवाला भगवान आत्मा, उसे— जाननेवाले को अतीन्द्रिय द्वारा देख! इन्द्रिय द्वारा नहीं। आहा...हा...! उसने अतीन्द्रिय जो आत्मा को देखा, जाना और जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञाननय है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! प्रचलित प्रवाह से पूरी बात अलग है। आहा...हा...!

**आत्मद्रव्य....** वस्तु तो द्रव्य, उसे **ज्ञाननय से...** सम्यग्ज्ञान के एक प्रकार से **विवेक की प्रधानता से सिद्धि साधे ऐसा है;....** यह तो विवेक है। राग से भिन्न पड़कर स्वभाव का ज्ञान, वह विवेक है, भेदज्ञान है। आहा...हा...! भाई! यह तो सर्वत्र त्रिलोकनाथ का प्रवचन है, भाई! यह दिव्यध्वनि है, बापू! इस भगवान के न्याय को समझना, यह तो बहुत धीरज का काम है। कहते हैं कि **ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से....** मुख्यता से। उसमें था **क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता....** प्रधानता, हों! आहा...हा...!

पूरे स्पर्श इन्द्रिय से लक्ष्य छोड़े, तब अखण्ड में से लक्ष्य छोड़ा, इसलिए पाँचों इन्द्रिय की ओर से लक्ष्य छूट गया। समझ में आया? और जब पाँच इन्द्रिय की ओर का अखण्ड जो स्पर्श है, उसका लक्ष्य छूटा, इसलिए अखण्ड जो ज्ञायकभाव है, उसका लक्ष्य हुआ, उसका ज्ञान हुआ। अरे रे! ऐसी बातें हैं। इसमें कहाँ निवृत्ति है? ऐसा मार्ग है, भाई! प्रभु को-परमात्मा को यह कहना है। बाड़ा बन्दी बनाकर बैठ गये, भाई! महीने-डेढ़ महीने से यहाँ आये हैं। ऐसा मार्ग है, बापू! ऐसा नहीं, प्रभु! क्या करे? दूसरे ऐसे नहीं ऐसा कहना लज्जाजनक है। क्या हो? समझ में आया?

ऐसी जो चैतन्यस्वभाव की मूर्ति! अन्तिम है न? आत्मद्रव्य चैतन्यमात्र। आहा...हा...! इसके (ऊपर) जहाँ अन्तर्दृष्टि जाती है, उसका लक्ष्य जहाँ जाता है, वहाँ जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान की प्रधानता से जीव की मुक्ति होती है-ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! इसमें पण्डिताई काम नहीं आती। पण्डित तो उसे कहा है न? भाई! आता है न? कि सम्यग्दृष्टि, वह पण्डित है। अष्टपाहुड़ में आता है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** .....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो गाथा है। 'विद्वदजन भूतार्थ तज व्यवहार में वर्तन करें।' आहा...! कुन्दकुन्दाचार्य के समय में (ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...! प्रभु ऐसा कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य अर्थात् भगवान की तीसरी पीढ़ी। मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, आहा...हा...! जैन धर्मोस्तु मंगलम्। यह कुन्दकुन्दाचार्य का पुकार है। अरे रे! विद्वान शास्त्रों में से व्यवहार का विषय निकालकर उसमें वर्तते हैं परन्तु अन्दर निश्चय को छोड़ देते हैं। समझ में आया? व्यवहार का विषय जो आवे कि दया पालना, व्रत करना, भक्ति करना, पूजा करना, प्रतिमा लेना, वह सब व्यवहार है। यह व्यवहार का विषय है, उसमें पण्डित वर्तते हैं और निश्चय को छोड़ देते हैं परन्तु निश्चय-आश्रित मुनिवर को मुक्ति होती है; व्यवहार-आश्रितवाले की मुक्ति नहीं होती। आहा...! तथापि यहाँ क्रियानय का एक धर्म गिना है परन्तु अकेला एक धर्म नहीं। उसके साथ ज्ञाननय का धर्म साथ में पड़ा है। आहा...हा...! जो ज्ञायकस्वरूप भगवान, उसे देखकर अन्दर में देखकर जाना तो उस **ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से सिद्धि साधे ऐसा है;....** इस विवेक की प्रधानता से सिद्धि हो सकती है। आहा...हा...!

**प्रश्न :** ज्ञाननय की प्रधानता कही तो दूसरे नय?

**समाधान :** दूसरे हैं न अन्दर क्रिया आदि हैं। यह तो क्रिया में भी प्रधानता कही। वह दूसरा है। आहा...हा...! अनन्त धर्म में व्यापक, व्यापनेवाला—ऐसा अधिष्ठाता भगवान है। उसमें एक-दो में व्यापनेवाला - ऐसा नहीं। आहा...हा...! उसमें से एकान्त एक ही नय को माने तो वह मिथ्यात्व है। आहा...हा...!

यहाँ तो इन्द्रिय के विषय को तो भगवान की वाणी और भगवान को भी इन्द्रिय कह दिया क्योंकि उस ओर का झुकाव है, इन्द्रिय, भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय, यह सब इन्द्रिय में जाता है। आहा...हा...! इस इन्द्रिय को लक्ष्य में से छोड़कर अर्थात् भगवान और भगवान की वाणी को भी लक्ष्य में से छोड़कर। आहा...!

**ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से सिद्धि साधे ऐसा है; मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि-रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी की भाँति।** आहा...हा...! जिसे चिन्तामणि की कीमत नहीं। समझ में आया? वह

पत्थर जानकर व्यापारी के पास गया। व्यापारी घर में था। 'भरुच' में एक व्यापारी है तो (उसके) घर में ही सब व्यापार है, दुकान नहीं। हम माल लेने गये, तब गये हैं। वृद्ध मनुष्य था। यह तो बहुत वर्ष पहले की बात है। घर की दुकान, घर में ही घर की दुकान वहाँ माल रखे, जिसे चाहिए हो वह लेने आये। भरुच के छोर पर है। यह तो ७५ वर्ष पहले की बात है। कहते हैं कि जिसे चिन्तामणि की कीमत नहीं, वह चिन्तामणि लेकर मुट्ठी चना दे, उसमें प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है।

**मुमुक्षु :** उसने पत्थर माना था।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** उसे कुछ पता नहीं। कहा न, एक व्यक्ति को चिन्तामणिरत्न मिला था। उसे ऐसा कि इसका प्रकाश होगा, इसलिए दीपक नहीं जलाना पड़ेगा। रोटी, दाल, भात (इसके) प्रकाश में होते हैं। उसमें एक व्यापारी इसके घर आ चढ़ा, ऐसे जहाँ देखता है (इसे कहता है) भाई! यह क्या है तेरे घर में? (यह कहता है) इसके प्रकाश में दाल, भात, रोटी बनाते हैं। केरोसिन जलाना नहीं पड़ता। अरे...! भाई! यह तो चिन्तामणि रत्न है, हमारी सैकड़ों सोने के पाटों से भरी हुई बखारी है, वह ले और यह हमें दे। वह तो (देखता रह गया)! अरे रे! जहाँ मैं था, वहाँ ऐसे मणिरत्न तो लाखों पड़े थे। मैंने तो एक पत्थररूप से प्रकाश (मिलेगा)— ऐसा जानकर लिया है। आहा...हा...!

इसी प्रकार भगवान आत्मा में तो अनन्त चैतन्यरत्न अन्दर भरे हैं। आहा...हा...! उसमें एक नय इसने ले लिया। राग की मन्दता से हो, यह एक नय पकड़ लिया परन्तु ज्ञाननय से होता है, वह इसने साथ में नहीं रखा। भगवान ने इसे बताया कि भाई! ऐसा नहीं है। आहा...हा...! इसके अतिरिक्त यहाँ जामनगर में (एक भाई) थे न? उन्हें अरबस्थान का धन्धा-व्यापार था। वे जब समुद्र में जाये, तब वहाँ के खलासी... क्या कहलाता है? अमर... अमर... मगरमच्छ के (मुँह में से) झाग निकले, झाग ऐसे होते हैं, अमर हो, उसके एक-एक तोले की अस्सी-अस्सी - साठ रुपये कीमत होती है। उस समय की बात है, हों! अभी तो महँगा (हो गया)। वह खलासी लोग चार-चार मण का लावे और एक खजूर का बोरी दे। एक खजूर की बोरी चार मण। उस दिन तो एक मण ढाई रुपये का था। ढाई रुपये मण खजूर! चार पैसे सेर, यह दस रुपये का मण दे, तब वह एक मण अमर दे। जिसकी एक-एक तोले की साठ रुपये कीमत। चार मण दे। वे भाई कहते थे, गुजर गये।

उसमें से पैसे इकट्ठे हुए। उसे कीमत नहीं होती कि यह क्या है ? इसलिए खजूर की एक बोरी दे, वहाँ तो वह प्रसन्न-प्रसन्न हो। खलासी... समुद्र के होते हैं न ? क्या कहलाते हैं ? खलासी। समुद्र के जहाजरान... जहाजरान जहाज के जहाजरान ! नाम भी भूल जाते हैं।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि आत्मा राग से भिन्न पड़कर अपने ज्ञान की दशा सम्हाले, उससे उसकी मुक्ति हो जाती है, परमात्मा हो जाता है। मुट्ठी भर चने देकर रत्न लिया। एक क्षण में ज्ञान करके केवलज्ञान लिया। आहा...हा... ! भरत चक्रवर्ती, लो न ! आहा...हा... ! दर्पण भवन में गये, वहाँ अन्दर एकदम वैराग्य हुआ। आहा...हा.. ! अन्तर में स्थिर होकर देखने गये, वहाँ मुनिपना आया, नवकोटि से वस्त्र आदि छोड़ दिये। लोग कहते हैं कि भरत को वस्त्र थे, मुनिपना आया। यह मिथ्या बात है। उन्होंने दर्पण भवन में नवकोटि से त्याग किया था, तब उन्हें नग्नदशा थी, तब उन्हें अन्दर क्षण में मुनिपना प्रगट हुआ और उसी क्षण में एकदम लीन होने पर... आहा...हा... ! केवलज्ञान प्रगट हुआ। दर्पण भवन में दर्पण होते हैं। पूरे मकान प्रमाण दर्पण होते हैं, छोटा दर्पण हो ऐसे देखना पड़े। यह तो पूरे मकान में दर्पण, इसलिए पूरा मनुष्य दिखायी दे, उसे दर्पण भवन कहते हैं और यह तो चक्रवर्ती का भवन, इसलिए अरबों की कीमत का होता है। उसमें गये और समकिती तो थे, आत्मज्ञान तो था। उसमें जाकर जहाँ अन्दर स्थिर होते हैं, नवकोटि से त्याग करके अन्दर मुनिपना आया। दर्पण भवन में ! वस्त्र है और मुनिपना आया—ऐसा नहीं हो सकता। कितने ही ऐसा कहते हैं कि देखो ! दर्पण भगवान में वस्त्रसहित (थे)। हमारी दीक्षा के समय लोग गाते थे। (संवत्) ७० की बात है। दीक्षा के समय गाते थे। भरत को वस्त्रसहित मुनिपना आया और ऐसा हुआ, सब मिथ्या बातें।

जहाँ अन्दर में स्थिर होते हैं, तीन कषाय का अभाव है, तब उसे पहले से वस्त्र छूट जाते हैं।... परन्तु दिया नहीं। अन्दर में आनन्द का नाथ जहाँ जगता है, तब उसे वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं होता और स्थिरता हो जाती है। मुनिपने की बात है और मुनिपना प्रगट हुआ ऐसा अन्तर्मुहूर्त में स्थिर होता है (और केवलज्ञान होता है)। यह बाहर के दया, दान, व्रत, तप, अपवास कोई क्रिया नहीं की परन्तु ज्ञाननय की प्रधानता से एकदम केवलज्ञान होकर मुक्ति हुई। आहा...हा... ! जलहल ज्योति चैतन्यप्रकाश का पूर, चैतन्य के प्रकाश का प्रवाह जहाँ बहता था, वहाँ दृष्टि पड़कर

स्थिर हुआ... आहा...हा... ! जिनने क्षण में केवलज्ञान लिया। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह ज्ञाननय की प्रधानता की बात है। साथ में दूसरे नय हैं, ऐसा ख्याल है। समझ में आया ? ऐसी बातें हैं।

यह ज्ञान अर्थात् ? यह शास्त्र का ज्ञान और धार रखा, वह ज्ञान नहीं। पढ़कर, सुनकर (जो ज्ञान हुआ है), वह तो इन्द्रियज्ञान है। आहा...हा... ! वह ज्ञान नहीं। अन्तर ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि पड़ने से जो सम्यग्ज्ञान का अंकुर फूटता है, वह ज्ञाननय है। एक नय वह ज्ञान को देखता है और उससे अन्तर्मुहूर्त में मुक्त भी होता है। किसी को विशेष काल लगे परन्तु इस ज्ञाननय की मुख्यता से केवलज्ञान प्राप्त होता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? अरे... ! ऐसी बातें हैं।

**मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि...** चना और चिन्तामणि। दोनों 'च' है। चने की मुट्ठी देकर चिन्तामणि लिया। उसे (व्यापारी को) चिन्तामणिरत्न था, वह सोने मोहर की बखार देकर लिया, उसकी कीमत अरबों... अरबों ! आहा...हा... ! जिसे इसका पता नहीं... आहा...हा... ! राग की यह क्रिया करें तो अपने को समकित होगा और उससे आत्मा को (मुक्ति होगी) यह मिथ्यात्वभाव है। एक योग्यता गिनकर उसके साथ यह दूसरी योग्यता ज्ञान की गिनी है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

**घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी....** वापस देखा ? व्यापारी दुकान पर बैठा हुआ भी नहीं; घर के कोने में बैठा (था) और वह लेकर आया। भाई ! मुझे कुछ दो न ! क्या है यह ? ले भाई ! मुट्ठी भर चने दिये और चिन्तामणि ले लिया। आहा...हा... ! भाई ! इस आत्मा की कान्ति... है - ऐसा कहते हैं। जिसकी कान्ति को देखने से पर्याय में जो कान्ति प्रगटी, उस पर्याय से-ज्ञाननय से उसकी मुक्ति होती है। आहा...हा... !

एक व्यक्ति का पत्र आया है। बनारस से पत्र आया है। मुझे ऐसा हुआ है, मुझे ऐसा हुआ है। चैतन्य ऐसा ज्ञात होता है। चैतन्य प्रकाश ! फिर कुछ लिखा है। तुम मुझे बताओ कि मुझमें क्या फेरफार है या क्या है ? यह तो कुछ प्रकाश ज्ञात हो जाये, वह तो आँख बन्द करे और प्रकाश लगे वह तो जड़ का प्रकाश है। आहा...हा... ! चैतन्य के प्रकाश के अन्दर नजर में यह ऐसा है, ऐसा नजर में नहीं दिखता। ऐसा प्रत्यक्ष अरूपी को देखे, उस प्रकार नहीं, परन्तु अरूपी की ओर का लक्ष्य जहाँ

गया, वहाँ ज्ञान हुआ, उसे यहाँ ज्ञाननय कहने में आता है। आहा...हा...!

**चिन्तामणि-रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी की भाँति। [ ज्ञाननय से आत्मा को विवेक की प्रधानता से सिद्धि होती है, जैसे घर के कोने में बैठा हुआ व्यापारी मुट्ठीभर चना देकर चिन्तामणि-रत्न खरीद लेता है, उसी प्रकार। ]** आहा..हा...! एक भाई! कहते थे। चार-चार मण अमर लेकर आवे और हम खजूर की बोरी दें। खजूर की बोरी दस रुपये की और वह चार मण का एक रुपये के साठ... ऐसे चार मण लें। उसे कीमत नहीं न! मगरमच्छ होते हैं न? बहुत गर्मी हो फिर उसमें फूँ फूँ करे तो (मुँह में से) अमर निकलता है। अमर कहते हैं न? आहा...हा...! यह एक नय है, अनन्त नय में व्यापक ऐसा भगवान, उसमें यह एक नय है।

अब **आत्मद्रव्य व्यवहारनय से बन्ध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला...** आहा...हा...! क्या कहते हैं? राग का बन्धन है और राग का अभाव, वह मोक्ष है। ऐसे द्वैत को अनुसरण करनेवाला है। (द्वैतपने का अर्थ मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में दिया है।) ***द्वैत=द्वित्व, द्वैतपन [ व्यवहारनय से आत्मा के बन्ध में कर्म के साथ के संयोग की अपेक्षा आती है,.... ]*** कर्म के साथ संयोग की अपेक्षा आती है न? द्वैतपना, द्वैत है। ***[ इसलिए द्वैत है और आत्मा की मुक्ति में कर्म के वियोग की अपेक्षा आती है, इसलिए वहाँ भी द्वैत है। ]*** आहा...हा...! कर्म का निमित्तपना है, वह बन्ध में निमित्त है और निमित्त का अभाव, वह मोक्ष, परन्तु उसमें निमित्त की अपेक्षा आयी। इसलिए बन्ध-मोक्ष में द्वैतपना आया। अकेला नहीं, पर के निमित्तपने का द्वैतपना आया। आहा...!

**व्यवहारनय से बन्ध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला बन्धक है, ( बन्ध करनेवाले ) और मोचक ( मुक्त करनेवाले ) ऐसे अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणु की भाँति।** यह क्या कहा? एक परमाणु है और उसका दूसरे परमाणु के साथ में संयोग होता है, इसमें चार गुण हों और दूसरा छह गुण हो तो संयोग होता है। इस अपेक्षा से द्वैत हो गया और उसका वियोग होता है तो भी द्वैत हो गया। पर की अपेक्षा आयी न? वैसे ही भगवान आत्मा, कर्म के निमित्त के लक्ष्य में है; इसलिए बन्ध है और उसका अभाव हुआ तो भी निमित्त का अभाव हुआ, वह भी एक अपेक्षा द्वैत की आयी।

इस द्वैत को अनुसरण करनेवाला है। आहा...हा...! व्यवहारनय द्वैत को अनुसरण करनेवाला है। अरे... अरे... ऐसी बातें! ऐसा एक धर्म है। है?

**आत्मद्रव्य व्यवहारनय से बन्ध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला बन्धक है, ( बन्ध करनेवाले ) और मोचक ( मुक्त करनेवाले ) ऐसे अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होने....** एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ में सम्बन्ध पाता है, वह बन्ध और अभाव होता है, वह मोक्ष। यह परमाणु का जैसे संयोग होता है और वियोग होता है, संयोग हुआ और उसका अभाव हुआ, द्वैतपना आया। (क्योंकि) निमित्त की अपेक्षा आयी न? आहा...हा...! ऐसा है। बनियों को कहाँ (फुरसत मिलती है)? भाई! आहा...हा...! पण्डित और व्यापारी तो उसे कहते हैं, जिसे आत्मा का व्यापार करना आवे, उसे व्यापारी कहते हैं, बाकी तो पाप के व्यापारी हैं। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** व्यापारी रुपया दे तो धर्म चले न।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** धूल में भी चलता नहीं उससे। किसने कहा? यह तो आज (मुमुक्षु) आये थे। डेढ़ लाख की जमीन ली है। वह गढ़ है न? क्या कहलाता है? बड़ी वण्डी है न? उसमें नाम रखे। मैंने कहा नाम ही नहीं न! नाम किसका? आत्मा का आत्मा नाम, वह आत्मा में कहाँ है? आहा...हा...! यह तो शरीर के नाम हैं। दूसरों से भिन्न करके पहिचानने का। उसमें कहीं नाम लिखा है? आहा...हा...!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि तुझमें जो राग का सम्बन्ध है और उसका अभाव हो, इतना द्वैतपना है—ऐसा एक व्यवहारनय का विषय-धर्म है। धर्म अर्थात् योग्यता। आहा...हा...! ऐसा ज्ञान नहीं होता और अकेले क्रियाकाण्ड में जुड़ गये। सम्यग्दर्शन नहीं होता। वह तो भटकने का रास्ता है। आहा...हा...! अरे! यहाँ तो परमात्मा स्वयं परमस्वरूप से द्वैतरूप से जिसे व्यवहारनय से (देखते हैं)। व्यवहारनय अर्थात् दोपना हुआ, वह व्यवहार हुआ। बिगड़े दो, एकड़े एक। दो का जुड़ान हुआ, वह व्यवहार हो गया, कहते हैं। कर्म का-निमित्त का जुड़ान और उसका अभाव, वह द्वैत हो गया, व्यवहार हो गया। आहा...हा...!

**[ व्यवहारनय से आत्मा बन्ध और मोक्ष में ( पुद्गल के साथ ) द्वैत को प्राप्त होता है, जैसे परमाणु के बन्ध में वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ**

**संयोग को पानेरूप द्वैत को प्राप्त होता है और परमाणु के मोक्ष में वह परमाणु अन्य परमाणु से पृथक् होनेरूप द्वैत को पाता है, उस प्रकार।]** भगवान आत्मा कर्म के निमित्त के संयोग में आता है और उसका वियोग होता है— ऐसा द्वैतपना है, वह व्यवहारनय से द्वैतपने का एक धर्म है। आहा...हा...! आत्मा की पर्याय में (ऐसा धर्म है) आहा...हा...! ऐसी बात! स्याद्वाद अनेकान्त तत्त्व है। आहा...हा...! अनेकान्त समझे? अनेक-अन्त अर्थात् धर्म। अनन्त-अनन्त धर्म इसमें है; इसलिए इसे अनेकान्त कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा जो भगवान आत्मा का स्वरूप, निमित्त के संयोग में आवे, निमित्त के अभाव में-वियोग में आवे। आहा...हा...!

यहाँ तो कर्म के निमित्त की अपेक्षा से (बात) है, हों! वरना तो वास्तव में तो ध्रुव चीज़ जो है, उसे जो पर्याय प्रगट होती है, वह संयोग है और उस पर्याय का नाश होता है, वह वियोग है। ऐसा द्वैतपना उसमें है। समझ में आया? आहा...हा...! उस निमित्त के लक्ष्य से पर्याय होती है और उसके अभाव में भी पर्याय है न? यह द्वैतपना आया। दो अपेक्षा आ गयी न? अकेला आत्मा अन्दर नहीं रहा। पर की अपेक्षा से जैसे परमाणु दूसरे परमाणु के साथ संयोग को पाता है और उसके वियोग को पाता है, वैसे द्वैतपना जैसे परमाणु में है, वैसे भगवान आत्मा में... ऐसी बातें कहाँ हैं? ऐसा एक धर्म-योग्यता है कि निमित्त के सम्बन्ध में और निमित्त के अभावरूप सम्बन्ध, यह द्वैतपना हुआ। अकेला आत्मा का आश्रय नहीं रहा, वहाँ दो अपेक्षा हो गयी। आहा...हा...! अरे रे! ऐसा समझने के लिए समय लगाना। इसके बदले लोग कहीं के कहीं (पड़े हैं)। ऐसा मनुष्य का जीवन (चला जा रहा है)। जीव को उद्धार के मार्ग में ले जाना चाहिए, उसके बदले अकेले बन्ध के मार्ग में ले जाकर अनादि से भटकते हैं।

एक तो (एक विद्वान ने) ऐसा लिखा है कि स्पर्शरहित कभी जीव रहा नहीं। एकेन्द्रिय हो तो स्पर्शेन्द्रिय तो है। अनादि से स्पर्श इन्द्रिय बिना तो रहा नहीं। दूसरी चार इन्द्रियाँ तो आवे और जावे, ऐसा भी होता है। आहा...हा...! यह कान-आँख आवे और फिर मिथ्यात्वपना है, (इसलिए) जाकर निगोद में भी जाये, परन्तु स्पर्शेन्द्रिय है, उससे रहित कभी नहीं हुआ और स्पर्शेन्द्रिय से रहित हो, वह सिद्ध हो जाता है। आहा...हा...! समझ में आया? पाँचों इन्द्रिय के सम्बन्ध से, लक्ष्य से,

ज्ञान से छूटे... आहा...हा... ! उसका मोक्ष होता है। पाँच इन्द्रिय के विषय के ज्ञान में अटके तो उसे बन्ध होता है। आहा...हा.... !

यहाँ तो निमित्त की अपेक्षा लेकर बन्ध कहा है और उसके अभाव की अपेक्षा से मोक्ष कहा है। समझ में आया ? आहा...हा... ! गजब बातें की हैं न ! पहले क्रियानय और ज्ञाननय दोनों साथ में लिये। अब व्यवहार और निश्चय दो साथ में लेंगे। अकेला द्वैतनय का एक ही धर्म है-ऐसा नहीं। आहा...हा... ! ऐसे व्यवहारनय में नहीं कहा कि व्यवहारनय से विकार करता है और विकार का अभाव करता है। मात्र सम्बन्ध करता है और उसका अभाव, इतना। व्यवहारनय अर्थात् राग करते-करते होता है, यह तो क्रियानय में कहा (ऐसी) एक योग्यता (कही)।

यहाँ कोई ऐसा ले जाये कि व्यवहारनय से भी मुक्ति होती है, (तो) ऐसी बात यहाँ नहीं। यहाँ तो अखण्डानन्द का आश्रय होकर निश्चय हुआ है, उसे अभी निमित्त की अपेक्षा से बन्ध और निमित्त के अभाव से मोक्ष है। ऐसी अपेक्षा से व्यवहारनय कहने में आया। दोपना हुआ यही व्यवहार हो गया। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं। बहुत सूक्ष्म, बापू ! प्रभु ! तू सूक्ष्म है न ! विकल्पातीत है न ! पाँच इन्द्रिय के विषय से तो रहित है परन्तु मन का विकल्प है, उससे भी रहित है। आहा...हा... ! ऐसे रहित को व्यवहारनय होता है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? इस समकिती को ऐसा व्यवहारनय होता है-ऐसा कहते हैं। उसकी बात है न यहाँ ! निश्चयनय भी समकिती को और व्यवहारनय भी समकिती को। आहा...हा... ! अनन्त धर्म का धारक आत्मद्रव्य है—ऐसे एक नय से देखे तो वह चैतन्य प्रकाश की मूर्ति है और सम्पूर्ण अनन्त नयों के प्रमाण से देखे तो वह चैतन्यप्रकाशमूर्ति अन्दर है। आहा...हा... ! ऐसी बातें ! लोगों को सम्यग्ज्ञान का क्या प्रकार है ? उसकी ओर का झुकाव छूट गया। बाहर का झुकाव रहा, बस ! आहा...हा... ! अरे रे ! क्या हो भाई !

व्यवहारनय का अर्थ ऐसा नहीं है कि व्यवहार करते-करते होता है, यह यहाँ नहीं। यहाँ तो द्वैतपना खड़ा होता है, ऐसा एक व्यवहारनय का धर्म है। आहा...हा... ! एक भगवान, निमित्त के समीप में से बन्ध है, उसके अभाव से मुक्ति है इतना द्वैतपना, उसमें एक ऐसा धर्म गिनने में आया है। इसलिए व्यवहारनय से मुक्ति होती है - ऐसा यहाँ नहीं (कहना है)। आहा...हा... ! व्यवहारनय से अर्थात् एक स्वरूप

से भगवान है, उसे निमित्त के समीप में संयोग में आया और वियोग (हुआ), उतनी द्वैतता है। उस द्वैत को यहाँ व्यवहारनय कहने में आया है। आहा...हा...! अरे! वीतराग जिनशासन (अन्यत्र) कहीं है नहीं। सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त यह बात कहीं है नहीं। एकान्त... एकान्त... लोग मान बैठे हैं।

यह तो अनेकान्त है। इसमें अनन्त-अनन्त धर्म हैं। अन्त अर्थात् धर्म। यह भी एक व्यवहारनय का द्वैत इसका एक धर्म है और अकेला यह धर्म नहीं, इसके साथ वापस निश्चय का भी धर्म है। आहा...हा...! जैसे क्रियानय का एक धर्म है, वैसा ज्ञाननय का भी साथ में एक धर्म है। आहा...हा...! ऐसे व्यवहारनय का द्वैत योग्यता का धर्म है, वैसे निश्चयनय का अद्वैतपने का भी एक इसमें धर्म है। ऐसा सब कहाँ (समझे)? नय का विषय बहुत अलौकिक है! आहा...हा...!

४५ **आत्मद्रव्य निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बन्धमोक्षोचित....** अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है (-ऐसा कहा) देखा? **निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष में...** एक को अनुसरण करनेवाला-आत्मा को अनुसरण करनेवाला है। निमित्त के सम्बन्ध और असम्बन्ध को छोड़कर। आहा...हा...! क्या कहते हैं? **बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला...** बन्ध की पर्याय में भी अकेला है, पर की अपेक्षा नहीं। मोक्ष की पर्याय में भी अकेला है, पर की अपेक्षा नहीं। ऐसी बातें हैं। वीतरागमार्ग है, बापू! यह अनन्त काल में दिगम्बर जैन साधु अनन्त बार हुआ, पंच महाव्रत लिये, हजारों रानियाँ छोड़ी। आहा...हा...! परन्तु सम्यग्दर्शन क्या है, उसका ज्ञान किया नहीं। यह ज्ञान बिना अकेला व्यर्थ किया... आहा...हा...! जगत को कठिन पड़े, भाई! स्त्री छोड़ी, दुकान छोड़ी इसलिए मानो हमने कितना ही छोड़ा! आहा...!

वह एक कहता है न कि सब छोड़ा, उसमें सब ओर की आकुलता थी, वह छूट गयी। एक शरीर रहा-ऐसा कहता है। अरे! छोड़ा कहाँ है? वे तो छूटे हुए ही पड़े हैं। परवस्तु छोड़ी है, वह छोड़ना है कहाँ? वह तो छूटी पड़ी ही है। उसे कब ग्रहण किया था कि छोड़े? आहा...हा...! अन्दर में राग और विकार परिणाम को जो ग्रहण किया है, उसे छोड़ना वह भी एक व्यवहारनय का कथन है। आहा...हा...! कठिन बात। राग का नाश करनेवाला है... आहा...हा...! यह

भी एक नाम कथन है। भगवान में राग कब हो गया था (कि) उस राग को छोड़े? ऐसी बातें हैं।

चैतन्य भगवान बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है अर्थात् अकेला सवयं बन्ध की पर्याय और मोक्ष की पर्याय में पर के सम्बन्ध बिना वर्तता है। समझ में आया? उसमें पर के सम्बन्ध के कारण द्वैत कहा और (यहाँ) बन्ध में-राग में भी अकेला वर्तता है और मोक्ष में भी अकेला वर्तता है। आहा...हा...! क्या कहा समझ में आया इसमें? राग के बन्ध में (था और) पर का अभाव हुआ, इसलिए मोक्ष में वर्तता है-ऐसा भी नहीं। आहा...हा...! इतना सब याद रखना। आहा!

**निश्चयनय से...** स्व-आश्रित का नाम निश्चय; उसमें पराश्रित का नाम व्यवहार। निमित्त की अपेक्षा पराश्रित आयी, इसलिए द्वैत कहा। अब इसमें स्व-आश्रित है, पर नहीं। भले राग में वर्ते, तथापि स्वाश्रित है और मोक्ष में वर्ते तो भी स्वाश्रित है; इसमें पर की अपेक्षा नहीं। क्षण में यह और क्षण में यह... प्रभु! तेरी योग्यता ही इस प्रकार की है, भाई! आहा...हा...! तुझमें इस प्रकार का धर्म अर्थात् धार रखा हुआ भाव है। उस धर्म में व्यापक तू है। आहा...हा...! परन्तु उसे देखकर भी जाना है अन्दर में। बन्ध और मोक्ष के द्वैत में वर्तता है तो भी ऐसा ज्ञान करके जाना है अन्दर में। चैतन्य के प्रकाश की मूर्ति भगवान है, वहाँ इसे नजर करनी है और अद्वैत को अनुसरण करनेवाला है, उसे भी देखने का यह एक। राग में भी मैं वर्तता हूँ, मोक्ष में भी मैं हूँ; इसे पर की अपेक्षा नहीं—ऐसा धर्म गिनकर भी इसे द्रव्य में-चैतन्यमात्र में जाना है। आहा! ऐसा सुना न हो, उस बेचारे को ऐसा लगे। अन्य तो यह करो... यह करो... यह करो... व्रत ले लो, प्रतिमा ले लो। मिथ्यादृष्टि को व्रत और तप कैसा? वह तो बालव्रत और बालतप है। आहा...! जहाँ भगवान स्वयं कौन है और कैसा है, उसका स्वरूप ही जाना नहीं। जाननेवाले को जाना नहीं (और) तूने सब सिरपच्ची की। आहा...हा...!

यह जाननेवाला द्वैत की अपेक्षा से व्यवहारनय भी कहा जाता है और जाननेवाला अकेला बन्ध में तथा मोक्ष में वर्तता है, पर की कोई अपेक्षा नहीं। राग की एकता में, बन्ध में एकतास्वरूप नहीं परन्तु राग होता है, उसमें स्वयं अकेला वर्तता है और राग के अभाव में—मोक्ष में अकेला ही वर्तता है, वह अद्वैत

अनुसरता है। आहा...हा...! उसमें पर की अपेक्षा नहीं आती। ऐसी सूक्ष्म बातें! आहा...हा...! ऐसा मन्थन करने बैठे तो इसे कुछ लाभ हो, यह तो बाहर की सिरपच्ची में रुक गया है। अरे!

**निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष में....** अर्थात् पर्याय में राग और (उसका) अभाव, इन दोनों में **अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है,....** स्वयं ही अनुसरण करनेवाला है। जिसमें पर की अपेक्षा नहीं। आहा...हा...! ऐसा मार्ग, अब इसे जाने नहीं और सीधे प्रतिमा लेकर बैठे, प्रतिमा है। धूल भी नहीं। (वह तो) सम्यग्दर्शन के पश्चात् (होती है)।

**मुमुक्षु :** हमें समकित तो है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** धूल में भी नहीं। समकित किसे कहते हैं? इसका पता नहीं। आहा...हा...!

सम्यग्दर्शन के पश्चात्, अन्तर में आत्मा के अनुभव को वेदन कर, पश्चात् विशेष अन्दर आनन्द और शान्ति प्रगट हो, चौथे गुणस्थान से भी विशेष आनन्द प्रगट हो, उसे प्रतिमा का विकल्प आवे, उसे व्यवहार कहते हैं। आहा...हा...! परन्तु यह तो सम्यग्दर्शन का पता नहीं, आत्मा का अनुभव नहीं और यह प्रतिमा है। वह तो बालव्रत है, अज्ञानव्रत है। आता है न समयसार में? बालव्रत और बालतप है। अज्ञानी का तप है। भटककर मरनेवाला है, कहते हैं। आहा...हा...! कठिन काम।

उन्होंने तो फिर ऐसा लिखा है, अमुक प्रतिमा लेकर पूरा बोझ समाज पर डाला है। अब तुम हमें निभाओ। उस घर में रहकर हो वह अलग बात है। स्वयं कमाने का करे। प्रतिमाधारी कहीं (सब) छोड़कर धर्मशाला में बैठे, ऐसा नहीं है। यह तो दो-चार प्रतिमा लेकर नाम धराकर धर्मशाला में पड़ाव डाले; इसलिए लोगों को इसे आहार देना चाहिए, निभाना चाहिए। समाज पर बोझ डाला है। आहा...हा...! कठिन काम, भाई! यह तो वहाँ तक लेते हैं कि यह ब्रह्मचर्य लेता है, वह अकेला एकान्त में ले, ऐसा नहीं। पंच कल्याणक हो, दस हजार (लोग) एकत्रित हुए हों तो उसमें लेता है। तुझे तो उपाधि करना है या क्या करना है? दूसरे जाने कि मैंने ब्रह्मचर्य लिया है। वह तो स्पर्श इन्द्रिय का अमुक विषय। सभी विषय वहाँ छोड़े

नहीं हैं। पाँचों इन्द्रिय के तो छोड़े नहीं परन्तु स्पर्श इन्द्रिय का एक प्रकार का—मैथुन का एक प्रकार (छोड़ा), दूसरा स्पर्श, रस, गन्ध, सर्दी, गर्मी आदि तो छोड़े नहीं। आहा...हा...! बात यह है कि ब्रह्मचारीरूप से कहलाये और दुनिया में (मान मिले)। मन्दिर में बैठे, धर्मशाला में बैठे, अवसर आवे तब लोग इसे कहे त्यागी एकत्रित बैठे, इसलिए दूसरे त्यागी को कहे तो इसे भी कहना पड़े, इसके लिए बेचारा बैठे। अर र! मार डाला जगत को! समझ में आया? आहा..हा...! मर जाये अज्ञानरूप से। (उसमें) क्या है? भाई!

यहाँ तो अकेला भगवान, एक ऐसा इसमें धर्म गिना है कि राग में-बन्धन में है (उसके साथ में) एकत्व नहीं, एकत्व नहीं परन्तु राग की पर्याय है, उसमें वर्तता है, वह भी अकेला और उसका अभाव करता है अकेला, (उसमें) पर की अपेक्षा नहीं—ऐसा एक उसमें एक निश्चय धर्म है। आहा...हा...! समझ में आया? परन्तु उस धर्म को भी लक्ष्य में लेकर वहाँ बन्ध में मैं स्वतन्त्र वर्तता हूँ, मोक्ष में (अकेला वर्तता हूँ), इतना लक्ष्य में लेकर फिर द्रव्य पर जाना है। आहा...हा...!

आठ वर्ष के बालक, चक्रवर्ती के पुत्र भी चल निकले। उसकी-भगवान आत्मा की महिमा सुनकर जंगल में चल निकले। एक मोरपिच्छी और एक कमण्डल, नग्नदशा। अन्तर के आनन्द में घोलन में विशेष जाने के लिये (चल निकलते हैं)। चक्रवर्ती के नहीं सब? रविषेण और? कैसे? गिल्ली-डण्डा खेलते थे। १०८ रविकीर्ति, रविषेण। नहीं, १०८? रत्न का गेंद और क्या कहते हैं उसे? खेलते थे। उसमें जयकुमार उनके सेना के स्वामी थे। जयकुमार ने भगवान से दीक्षा ले ली। आहा...हा...! ९६ करोड़ सैनिकों का साहेब / नायक! मेरा नायक तो आत्मा है, मैं उसका नायक हूँ, एकदम उतरकर दीक्षा ले ली। लड़के खेल रहे थे। छोटी उम्र के, पन्द्रह-बीस वर्ष के युवक, गेंद खेलते थे। कौन है? जयकुमार ने दीक्षा ली, हें! आहा...हा...! उनकी माँ ने ध्यान रखने के लिये साथ में व्यक्ति को भेजा था। अब इन्हें करना क्या? इसलिए उससे कहा, चलो हम ऐसे जायें, ऐसे जायें, ऐसा करके उस व्यक्ति को (ले गये)। अन्दर का विचार हुआ कि हमें तो भगवान से मुनिपना ले लेना है। आहा...हा...! ९६ करोड़ सैनिकों का सेनापति दीक्षा लेकर अन्तर के आनन्द के नाथ को जगाकर स्थिरता करने गया है। आहा! हम भी अन्तर आनन्द के नाथ को जगाकर स्थिरता को जायेंगे। आहा...हा...! वे

पन्द्रह-पन्द्रह, बीस-बीस वर्ष के बालक! चक्रवर्ती के पुत्र! आहा...हा...! जिन्हें रुचि अनुयायी वीर्य (प्रगट हुआ है)।

**मुमुक्षु :** बड़े लड़के के लड़के....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** बड़ा था कब? यह तो माना है। आहा...! बड़ा तो अन्दर परमात्मा भगवान है। आहा...हा...! उसकी पर्याय उसकी प्रजा है। इस प्रजा की तो सब बातें हैं। आहा...हा...! १०८, हों! भगवान के समीप गये, वहाँ दीक्षा (अंगीकार कर ली)। उनकी माँ ने व्यक्ति भेजा था, (वह कहता है) मैं माता को क्या कहूँगा? दीक्षित हो गये (कहना)। अन्तर में आनन्द में विशेष उतर गये। वह दीक्षा, हों! नग्न (हो जाये वह नहीं)। आहा...हा...!

यह निश्चय से स्वयं को अनुसरण किया है, वह बन्ध में और मोक्ष में स्वयं अनुसरे - ऐसा एक धर्म गिनकर अन्दर में उतरे हैं। आहा...हा...! ऐसा भी एक धर्म गिनने में आया है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## मुनिराज का निज वैभव

सम्यग्दर्शन होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का अल्प स्वाद आता है, परन्तु मुनि को उसका अतिप्रचुर आस्वादन होता है। समयसार की पाँचवी गाथा की टीका में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने निजवैभव बतलाते हुए कहा है कि **कैसा है निजवैभव?** निरन्तर झरते हुए सुन्दर आनन्द की मुद्रा अर्थात् छापवाला अतीन्द्रिय प्रचुर स्वसंवेदन से आचार्य भगवान का निजवैभव उत्पन्न हुआ है। **आत्मवस्तु स्वभाव से तो वीतरागस्वरूप है, परन्तु मुनिराज को पर्याय में भी अतिशय वीतरागता-समताभाव है।** *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ २५०*

## नय-४६ से ४७

**अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ४६। शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधिस्वभावम् ४७। तदुक्तम्-'जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया।।' 'परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा। जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो।।' एवमनया दिशा प्रत्येकमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयैर्निरूप्यमाणमुदन्वदन्तरालमिलद्धवलनीलगाङ्गयामुनोदकभारवदनन्तधर्माणां परस्परमतद्भावमात्रेणा-शक्यविवेचनत्वादमेचकस्वभावैकधर्मव्यापकैकधर्मित्वाद्यथोदितैकान्तात्मात्मद्रव्यम्। युगपदन-न्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणेन निरूप्यमाणं तु समस्ततरङ्गिणी-पयःपूरसमवायात्मकैकमकराकरवदनन्तधर्माणां वस्तुत्वेनाशक्यविवेचनत्वान्मेचक- स्वभावानन्तधर्मव्याप्येकधर्मित्वात् यथोदितानेकान्तात्मात्मद्रव्यम्।**

---

आत्मद्रव्य अशुद्धनय से, घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र की भाँति, सोपाधिस्वभाववाला है। ४६.

आत्मद्रव्य शुद्धनय से, केवल मिट्टी मात्र की भाँति, निरुपाधिस्वभाववाला है। ४७.

इसलिए कहा है :—

**जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।**
**जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया॥**
**परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।**
**जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो॥**

[अर्थ : जितने [१]वचनपन्थ हैं, उतने वास्तव में नयवाद हैं; और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय (परमत) हैं।

---

१. वचनपन्थ=वचन के प्रकार [ जितने वचन के प्रकार हैं, उतने नय हैं। अपेक्षासहित नय, वे सम्यक् नय हैं और अपेक्षारहित नय, वे मिथ्यानय हैं; इसलिए जितने सम्यक् नय हैं, उतने ही मिथ्यानय हैं। ]

परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन सर्वथा (अर्थात् अपेक्षा बिना) कहा जाने के कारण वास्तव में मिथ्या है; और जैनों का वचन कथंचित् (अर्थात् अपेक्षा सहित) कहा जाता है, इसलिए वास्तव में सम्यक् है।]

**प्रवचन नं. २७०, नय ४६ से ४७**

**भाद्र कृष्ण ८, गुरुवार, १३ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, नय अधिकार। ४५ हो गये। शिष्य का यह प्रश्न था कि यह आत्मा कितना है? और किस प्रकार प्राप्त होता है? वह किस प्रकार प्राप्त होता है, यह बाद में कहेंगे परन्तु इसमें यह आ तो जाता है। तब कहते हैं कि आत्मा में अनन्त धर्म व्यापक हैं। धर्म अर्थात् विकारी पर्याय, अविकारी पर्याय, अविकारी गुण-ये सब धर्म हैं। धर्म अर्थात् आत्मा ने धार रखा हुआ भाव। आहा...हा...! जिसे अन्दर से यह गरज है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। आहा...! आत्मा प्रभु! है कैसा? वह कितना है? क्या है यह अन्दर? दूसरा कुछ पूछा नहीं। छह द्रव्य क्या है? अरिहन्त क्या कहलाते हैं? यह पूछा नहीं। आहा...हा...!

प्रभु! इस देह में आत्मा, है कैसा? क्योंकि उसका साधन होने से धर्म होता है। अब वह है कौन? और है कितना? आहा...! तो कहते हैं सामान्य जो आत्मा है, वह अनन्त-अनन्त धर्मों में व्यापक (होकर) व्यापकर रहा हुआ, उसका अधिष्ठान आत्मा है। ऐसी बात है। ४५ तक आ गयी है।

अब आत्मद्रव्य ऐसा है अन्दर कि **अशुद्धनय से, घट और रामपात्र....** घड़ा और रामपात्र। सकोरा कहते हैं, वह रामपात्र। एक बुढ़िया मर रही थी। उसे कभी राम (बोलना) रुचता नहीं था, इसलिए मरने के समय उसके पुत्र ने जरा सकोरा बताया (और पूछा) माँ! यह क्या है? कि सकोरा। रामपात्र बोले तब तो 'राम' (आ जाये) अरे रे! क्या करता है जीव? राम का नाम आवे तो उसे ठीक न पड़े, कहो!

**मुमुक्षु :** सिद्ध का नाम आवे तो....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वह था नहीं, वह तो राम अर्थात् भगवान का नाम आवे

तो ऐसा। कहाँ किसे पड़ी है अन्दर ? वर्तमान खाना-पीना, विषयभोग, कमाना और फिर मरना। जाओ चार गति में भटकने। आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु ! यह आत्मा कितना है ? कि यह एक नय से... हमने द्रव्यनय से, पर्यायनय से (कहते-कहते यहाँ तक आये) द्वैतनय से और अन्तिम अद्वैत आया, अर्थात् आत्मा अपना बन्धभाव है, उसे स्वयं ही अनुसरता है; उसे पर की अपेक्षा नहीं है और आत्मा को मोक्ष होता है, वह स्वयं अपने को अनुसरता है। उसमें... अभाव की अपेक्षा द्वैत में नहीं है। ऐसी बातें हैं। आहा...हा... !

**मुमुक्षु :** पूरी दुनिया से आप अलग कर देते हो।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह भगवान अलग कहते हैं और अलग है। आहा !

कर्म से और शरीर से तो है ही नहीं। आहा...हा... ! उसमें शरीर की क्रिया से आत्मा है ही नहीं। आहा...हा... ! वैसे कर्म है और उसका उदय है, उससे आत्मा है ही नहीं और यह स्त्री-पुत्र तथा परिवार है उनसे आत्मा है-ऐसा है ही नहीं।

**प्रश्न :** स्त्री-पुत्र कहाँ आये ?

**समाधान :** स्त्री-पुत्र उनमें आये। यहाँ कहाँ आये हैं ? (पुत्र, पुत्र में) रह गया, यहाँ आ गया ? ऐई !

यहाँ तो इसकी पर्याय में जितनी योग्यता और गुण की योग्यता है, उसका धारक वह भगवान आत्मा है। आहा...हा... ! वह शरीर का धारक है या स्त्री-पुत्र का आधार है, वह आत्मा नहीं। आहा...हा... ! कुटुम्ब का पतिपालन करे और उसका (स्त्री का) हाथ पकड़ा है, इसलिए उसका पालन करे, कहते हैं वह आत्मा नहीं। वह आत्मा ऐसा है ही नहीं - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... !

**अशुद्धनय से, घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र की भाँति,....** एकरूप जो मिट्टी है, उसमें घड़ा और रामपात्र की पर्यायें, भेद पड़ें, वह भी अशुद्धनय से है, कहते हैं। आहा...हा... ! क्या कहा यह ? जो द्रव्य-भगवान आत्मा है, उसका यह एक धर्म है अवश्य, परन्तु वह कैसा धर्म है ? कि पर्याय में जैसे मिट्टी का घड़ा और रामपात्र होता है; वैसे आत्मा में पर्याय भेद पड़ते हैं... आहा...हा... ! वह अशुद्धनय से पड़ते हैं।

राग होता है, वह तो फिर राग का धर्म स्वयं धारे, वह अलग वस्तु है। यह

तो अन्तर में द्रव्य जो वस्तु है, उसमें जो पर्याय का भेद (पड़े), पर्याय... पर्याय, यह (समयसार की) १६ वीं गाथा में आया है न? मेचक। आत्मा में दर्शन-ज्ञान और चारित्र के भेद पड़े, जैसे मिट्टी में घड़ा और रामपात्र का भेद पड़े, वह अशुद्ध है। आहा...हा....! वैसे भगवान आत्मा में पर्याय के भेद पड़ें कि यह दर्शन है और यह ज्ञान है और चारित्र है-ऐसे पर्याय भेद पड़ें, उसे यहाँ अशुद्धनय कहा है। आहा...हा...! इसमें विकार की पर्याय है, वह तो एक पहले गया। उसमें विकार पर्याय है - ऐसा एक नय है। समझ में आया? और विकार नहीं - ऐसा भी एक नय है। आहा...हा...! बहुत कठिन काम, भाई! जगत को कहाँ पड़ी है और कहाँ मार्ग रह गया! आहा...हा...!

आत्मा कितना है? ऐसा यदि तू पूछता हो तो कहता हूँ कि जो आत्मा सामान्य वस्तु है। वस्तु अर्थात् सामान्य अर्थात् पर से भिन्न वह अनन्त धर्म में (व्यापक है) धर्म अर्थात् इसने धार रखे हुए भाव में व्यापक है, उसमें एक यह भाव भी है कि एकरूप वस्तु जो द्रव्य है, उसके जो पर्याय के भेद पड़ते हैं... आहा...हा...! राग के और विकार के वह तो पहले निकाल दिया, उसमें हैं - ऐसा पहले कहा। समझ में आया? आहा...!

**मुमुक्षु :** समझ में नहीं आता।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** धीरे-धीरे कहा जाता है। पहले राग का आ गया है न? **आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतन्त्रता भोगनेवाला है...** है न ३४ में। राग भोगता है, वह परतन्त्रता है। स्वयं परतन्त्रता का इसका एक स्वभाव है। राग, निमित्त के आधीन परतन्त्ररूप से भोगना, यह भी इसका एक पर्याय का धर्म है। है ३४? कैसे? कर्तृ नय से भी आया था? राग को करना, परिणमना — ऐसा एक कर्तृत्वनय का धर्म इसने धार रखा है, पर के कारण नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...! ऐसे राग जो दया, दान, व्रत का परिणाम आवे, उसे कर्तृत्वरूप से (अर्थात्) परिणमता है, इसलिए कर्ता नाम का एक नय है। ऐसे उसे-राग को भोगता है, यह भी एक भोक्ता नाम का नय है।

यहाँ तो अब उस राग को निकालकर जो द्रव्य एकरूप है... आहा...हा...! उसमें जो पर्याय के तीन भेद पड़ें—दर्शन, ज्ञान और चारित्र और ऐसे पर्याय के भेद, कहते हैं कि वह भी एक अशुद्धता है। आहा...हा...! १६ वीं गाथा में कहा है न?

भाई! कि सम्यक्वस्तु जो त्रिकाल है, उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र—सम्यक्, हों! ऐसे भेद हैं, वे मेचक हैं, मलिन हैं। उन्हें मलिन को व्यवहारनय कहने का आशय है। आहा...हा...! विधि से है, कहते हैं। आहा...हा...! अरे रे! निश्चय का भान हुआ, ज्ञायकस्वरूप है, तथापि उसे राग का भाव आवे, उसे व्यवहार कहते हैं परन्तु उस राग को व्यवहार कहते हैं, वह राग की पर्याय अपने में हुई है—ऐसी एक उसकी योग्यता है, उससे निश्चय होता है—यह प्रश्न यहाँ है नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! परन्तु वह राग जो दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प आवे, वह राग है; वह राग भी अपनी पर्याय में होने के योग्य है। आहा...हा...! वह कर्म के कारण नहीं, पर के कारण नहीं। भाई! प्रभु का मार्ग बहुत अलग, बापू! आहा...हा...!

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ ने यह कहा है। परमेश्वर सर्वज्ञ परमात्मा को पूछा कहो या मुनियों को पूछा कहो, उसका यह जवाब आया है। प्रभु! तू एक द्रव्यरूप वस्तु-पदार्थ है न! पैसा द्रव्य नहीं, हों! द्रव्य अर्थात् वस्तु त्रिकाली, जो द्रवे... द्रवे। पानी में से जैसे तरंग उठे, द्रवे; वैसे वस्तु त्रिकाल है, वह पर्यायरूप से द्रवे, वह भेद है, वह अशुद्ध है, कहते हैं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! अभी तो बड़ी गड़बड़ चली है। उसके सामने यह जरा कठिन पड़ता है, बापू! तेरे हित की बातें हैं, भाई! आहा...हा...!

तेरा जो द्रव्यस्वभाव वस्तु है, एकरूप त्रिकाल है, उसमें जो पर्याय के भेद होते हैं... आहा...हा...! राग हो, वह तो एक धर्म गिना, वह (तो) ठीक, परन्तु द्रव्य में पर्याय दर्शन, ज्ञान और चारित्र, सम्यक् शुद्ध चैतन्य, हों! निश्चयमोक्षमार्ग। वह निश्चयमोक्षमार्ग है, वह पर्याय है; उसे यहाँ अशुद्ध कहा है। भेद पड़ा न! समझ में आया? प्रभु! तेरी बलिहारी है, बापू! तेरी चीज़ अन्दर क्या है? अरे! उसे सुनने को मिले नहीं, वह कब करे अन्दर? आहा...हा...!

कहते हैं कि यह आत्मा जो वस्तु-पदार्थ है, वह अनन्त-अनन्त धर्मों में व्यापक ऐसा जो द्रव्य, वह अनन्त धर्मों का अधिष्ठान / आधार है। आहा...हा...! अब यहाँ यह कहते हैं दया, दान और व्रत का विकल्प जो उत्पन्न होता है, वह तो अशुद्ध है, वह तो एक ओर रखो, कहते हैं परन्तु अन्दर में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के भेद पड़े... आहा! ऐसा एक उसमें धर्म है परन्तु वह अशुद्ध है। सूक्ष्म बात है,

भगवान! आहा! यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि है, प्रभु! लोगों को अभ्यास नहीं होता।

**मुमुक्षु :** यह अशुद्धता टले नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह शुद्धता है परन्तु पर्यायभेद है न? टले नहीं, यह प्रश्न नहीं अभी। यह पर्यायदृष्टि से पर्यायभेद है—ऐसा एक इसमें धर्म है, वह अशुद्ध है। उसे दृष्टि तो द्रव्य पर देनी है। ऐसा जानकर भी, पर्याय का दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः वह निश्चय, हों! व्यवहार नहीं। राग वह अधर्म है; मोक्षमार्ग नहीं, परन्तु जो निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र है, वह पर्याय है और पर्याय है, इसलिए उसे द्रव्य की अपेक्षा से अशुद्ध कहा गया है। आहा...हा...! और उसे देखकर भी अन्तर द्रव्य चैतन्यमात्र है, वहाँ इसे दृष्टि देना है, प्रभु! क्या हो? प्रभु! आहा...हा...! समझ में आया?

दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय है न? सम्यक्, शुद्ध... शुद्ध, हों! शुद्धपर्याय, वह भी द्रव्य का भेद हुआ न? इस अपेक्षा से उसे अशुद्ध कहा है। कलंक कहा है, मेचक कहा है, व्यवहारनय का विषय कहा है। आहा...हा...! अरे! राग जो दया, दान का है, वह तो व्यवहार है, इसकी पर्याय में भले एक धर्म है परन्तु यह तो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद पर्याय में पड़े, प्रभु! उन्हें यहाँ अशुद्ध कहा है क्योंकि उनका लक्ष्य इसे छोड़ना है। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो मोक्ष का मार्ग, निर्विकल्प वीतराग पर्याय... आहा...हा...! वह वीतरागी पर्याय भी वीतरागस्वरूप एकरूप द्रव्य है, उसका भेद पड़ा, आहा...हा...! इसलिए उसे व्यवहारनय का विषय गिनकर, उसे अशुद्ध कहा गया है। अरे! सूक्ष्म बात है भगवान! अभी कहाँ सम्प्रदाय में तो बापू! क्या हो? भाई! ऐसा कहने में तो लोगों को ऐसा हो जाता है कि बस! सब खोटे? अरे! प्रभु! ऐसा रहने दे भाई! यह तो सत्य की बातें करते हैं, प्रभु! आहा...हा...! दूसरे को, जो भूल में होते हैं, उनकी भूल टालने के लिए यह बात है। उसकी भूल बाहर प्रसिद्ध करना और उसकी निन्दा (करना), यह बात यहाँ नहीं, प्रभु! आहा...हा...! बहुत कठोर नय आया है।

पर्याय में भेद पड़ता है—ऐसा भी एक धर्म है और उस धर्म को धार रखा हुआ द्रव्य, वह द्रव्य है परन्तु यह भेद है, उसका लक्ष्य छोड़कर; है, उसका ज्ञान करना, पर्याय भेद है—ऐसा ज्ञान करना; ज्ञान करके फिर अन्तर द्रव्य भगवान

चिदानन्द प्रभु विराजता है (वहाँ जाना)। आहा...हा...! पर्याय के पाताल में भगवान विराजता है। पर्याय ऊपर का तल है। आहा! समझ में आया? प्रभु! पर्याय है, वह ऊपर का तल है और पर्याय के अन्दर में-पाताल में भगवान द्रव्यस्वभाव पड़ा है। इसे अशुद्धनय का ज्ञान करके भी इसे अन्तर चैतन्यमूर्ति भगवान को देखना है। आहा...हा...! भाई! ऐसा सुना भी नहीं होगा। पैसा... पैसा... पैसा... हैरान होकर मर गया। नैरोबी (के) बड़े पैसेवाले हैं। सत्तर लाख! बातें करे, कोई बात करता है, वह सुनते हैं, अपन कहाँ वहाँ गिनने गये थे? दो भाई हैं? कितने भाई हैं? चार भाई है। तुम्हारे से छोटा होगा। आहा...हा...! अरे रे! यह पैसा क्या?

यहाँ तो शरीर भी आत्मा ने धार नहीं रखा न! पैसा धार नहीं रखा न! आहा...हा...! धार रखा हो तो इसकी पर्याय में राग और भेद की पर्याय धार रखी है। आहा...हा...! भाई! ऐसा कहीं सुना है? तुम भक्ति-भक्ति करते थे न? भगवान की भक्ति करो, भगवान की भक्ति करो... हो गया पूरा! परन्तु भक्ति करो, वह तो विकल्प / राग है। वह राग है, वह आत्मा की पर्याय में होता है परन्तु उस राग से धर्म होता है-ऐसा नहीं है। अरे रे! वह राग है, उसका ज्ञान करके द्रव्यस्वभाव में नजर करने से उसे सम्यग्दर्शन होता है। अरे रे! ऐसा यह है, भाई! अरे! फुरसत कहाँ? निवृत्ति नहीं होती और ऐसा मार्ग निकला। आहा! थोड़ा -बहुत जहाँ पढ़ा और पढ़ा तो मानो ज्ञान हो गया! आहा...! ऐसा तो ग्यारह अंग का ज्ञान अनन्त बार किया, वह कहीं ज्ञान नहीं। आहा...हा...! यह ग्यारह अंग का ज्ञान है, वह पर्याय में हो, ऐसी पर्याय का भेद है, हो परन्तु उसका एक धर्म है—ऐसा धारकर, दृष्टि द्रव्य पर करनी है। जहाँ अनन्त धर्म का नायक अधिष्ठाता प्रभु विराजता है। आहा...हा...! अरे रे! ऐसी बातें! उसमें शरीर की युवावस्था प्रगट हुई हो, स्त्री भी जवान समान मिली हो, पैसा कुछ ठीक हो, मकान कुछ दो-पाँच-दस लाख के मकान मिले हों तो प्याला उल्टा पड़ जाये! (अभिमान फट पड़ता है)।

**मुमुक्षु :** दो-पाँच-दस लाख की अभी क्या कीमत है?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अभी तो अधिक पैसा (हो गया)। यह तो पहले की अपेक्षा से (बात है)। हमारे दशाश्रीमाली के बड़े सेठ कहलायें। उस समय तो दस लाख अर्थात् ओहो...हो...! अभी तीस गुने गिनो। समझ में आया? आहा! उस समय के एक लाख और अभी के तीस लाख, दोनों समान। हमारा चातुर्मास वहाँ

दामनगर में रहता, चातुर्मास किये, बहुत किये। (संवत्) ७३ और ७६ तथा ८३ के चातुर्मास। हीराजी महाराज का बोटाद सम्प्रदाय का क्षेत्र कहलाता था परन्तु सब हैरान-हैरान होकर मर गये, चले गये। आहा! तत्त्व की दृष्टि का पता नहीं। मैंने समयसार की बात एक बार ७८ में की थी परन्तु तब तो हम मुँहपत्ती में थे। सेठ! यह समयसार शरीर से रहित होने का शास्त्र है। हाँ किया था। उस समय तो उसमें थे। फिर तो लगा कि यह मार्ग नहीं है। इस सम्प्रदाय में मैं आया हूँ, यह भाई को कहा, मार्ग नहीं है। मैं तो छोड़ देनेवाला हूँ। बड़े भाई थे न! हमारे प्रति प्रेम था न! दुकान में हम (शामिल थे)। बहुत सरल थे, नरम बहुत थे। दुकान बड़ी चलती। कहा, भाई! मैं इसमें नहीं रह सकूँगा, यह मार्ग नहीं है, मुझे तो मार्ग कोई दूसरा (दिखता है) -ऐसा कहा। भाई ऐसा कहे—महाराज! आपकी प्रसिद्धि बहुत है तो धीरे-धीरे छोड़ना। भाई! बड़े भाई ने ऐसा कहा। यह बींछिया में, बींछिया। नया मकान है न? उसे कठोड़ों है न? कठोड़ों हैं, वहाँ भाई को ले जाकर कहा, भाई! मैं इसमें नहीं रह सकूँगा, यह मार्ग नहीं है, मैं यह छोड़ देनेवाला हूँ। यह साधुपना ऐसा नहीं होता। भाई! भाई को जरा लगा, बड़ी दीक्षा थी।

**मुमुक्षु :** लोगों को बहुत फायदा हुआ।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दीक्षा फिर बड़ी, धाम धूम, हाथी के हौदे! उस समय (संवत्) १९७० के साल। दो हजार लोग और हाथी। कमान दरवाजों से तोड़ना पड़ा। इतना बड़ा हाथी! और गाँव में हो... हा...! कानजीभाई दीक्षा लेते हैं। रूपवान शरीर! उस समय तो २३ वर्ष (हुए थे)। गाँव के संचालक और न्यायाधीश देखने आये, कानजीभाई ने दीक्षा ली है, दीक्षा ली है। किस प्रकार पालेंगे? ऐसा सुन्दर शरीर है न! उस समय २३ वर्ष की उम्र थी। अभी ९१ हुए। देखने आवे, बड़ा आवास है न वहाँ? वहाँ हाथी का जुलूस निकले, न्यायाधीश और वकील सब देखने बाहर आये थे। कैसा जुलूस है! फिर वहाँ निवास में दीक्षा ली थी। आहा! अरे! परन्तु यह कहीं वस्तु थी? उस समय गाते, भरतेश्वर ऐसे वस्त्रसहित थे और मुनिपना हुआ, ऐसा कुछ गायन आता है। उस समय कहाँ पता था कि यह क्या है? दीक्षा के लिये हाथी पर जहाँ बैठे... दो हजार लोग तो नये आये थे। भाई की ओर से भोजन था। खुशालभाई की ओर से सबका भोजन था। ऊपर निसरनी में कपड़ा-धोती फटी। ऊँची धोती पहनते थे न! वह फटी, क्या हुआ यह? फिर पता पड़ा कि

इस धोती का मुनिपना नहीं होता। निसरनी में फटने के पश्चात् पता पड़ा की... ओहो! समझ में आया? मार्ग अलग है बापू!

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! एक बार सुन! राग है, वह तो धर्म नहीं परन्तु आत्मा जो वस्तु है, वह तीन प्रकार से—दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमता है, वह अशुद्ध है, वह मलिन है, वह मैल है, व्यवहारनय का विषय है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बात कहाँ है? श्वेताम्बर में तो कहीं थी ही नहीं। भाई! इस दिगम्बर में अभी कहाँ ठिकाना है? क्रियायें करे और यह करे और यह करे... सम्यग्दर्शन क्या? (इसका पता नहीं)।

एक (साधु) कहता है, अभी शुभभाव है, धर्म कहता हो तो अभी नहीं। हम सब शुभभाववाले थे, शुभभाववाले हैं -ऐसा कहता है। आहा...हा...! अर र! और सुननेवाले वापस उसे मुनि मानते हैं! कहते हैं कि हम तो शुभभाववाले हैं, शुभ है, हमारे पास शुद्धता है नहीं। आहा! शुभभाव तो राग है, राग तो जहर है। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि यह तो ठीक, एक और बात रखो, परन्तु द्रव्य एक वस्तु अखण्डानन्द प्रभु की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो निर्मलपर्याय होती है, परन्तु पर्याय है न? भेद हुआ न? इसलिए उसे अशुद्धनय से उसे कहते हैं। आहा...हा...! गजब काम भाई! समझ में आया? यह तो हित के पंथ की बात है, प्रभु! अरे! चौरासी के अवतार में भटक-भटक कर मर गया है। नरक और निगोद के दुःख... आहा...हा...! परन्तु भूल गया है! ये निगोद के दुःख, ये नरक के दुःख, सातवीं नरक में तैंतीस सागर में अनन्त बार गया। जिसके एक क्षण की वेदना करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से नहीं कही जा सके-ऐसी वेदना! परन्तु भूल गया! वर्तमान यह कुछ ठीक धूल, स्त्री, पुत्र मिले... हो गया! भूल गया और जन्मते ही आँख खोल न सके, पहले आँख न खोले, ऊं... वा... ऊं...वा... करे (रुदन करे) मुँह खोले पहला। समझ में आया? जब बालक जन्मता है, तब पहले आँख नहीं खोलता। अन्दर सवा नौ महीने से बन्द था तो बाहर आवे तो ऊं...वा... ऊं...वा... करे, फिर इसकी माँ को देखने से पहले यह लड़की है या लड़का, देखने से पहले ऊं...वा... करे। अरे! यह वहाँ और मैं यहाँ, आहा...हा...! अव्यक्तरूप से भी वहाँ ऐसा प्रकार है। आहा! यह भी पता नहीं कि जन्मते समय क्या हुआ?

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तू तेरी पर्यायपने, द्रव्य है न? वह पर्यायरूप से, भेदरूप से **घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी....** विशिष्ट जो मिट्टी उसके **मात्र की भाँति, सोपाधिस्वभाववाला है।** मिट्टी में घड़ा और रामपात्र की उपाधि हुई। हो गया, लो! पर्याय की अपेक्षा से कहा। वैसे भगवान आत्मा अनन्त आनन्द का सागर नाथ की सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की निश्चय सच्चे मोक्षमार्ग की पर्याय, हों! आहा...हा...! परन्तु एकरूप जो द्रव्य है, उसमें भेद पड़ा वह उपाधि है, कहते हैं। ऐ...ई...! भाई! ऐसा सुना नहीं, बापू! प्रभु! यह सन्तों की वाणी! आहा! दिगम्बर मुनियों की वाणी कहीं नहीं मिलती। भाई! वस्तु जो है, वह पर से तो नहीं परन्तु भेदवाली पर्याय भेद पड़ें, वह उपाधि है, कहते हैं। आहा...हा...!

**प्रश्न :** यह पैसा-टका किसमें जाता है?

**समाधान :** पैसा-टका की बात ही कहाँ है? यह तो पहले कहा, पैसा-टका को तो आत्मा ने धारा नहीं, रखा नहीं; शरीर को धारा नहीं, रखा नहीं; कर्म को धारा और रखा नहीं। आहा...हा...! मात्र उसमें जो राग होता है, वह पर्याय में होता है, उसे इसने रखा है। आहा...हा...! पर्याय में, हों! द्रव्य में नहीं। आहा! गजब बात, हों! लोगों को कठिन लगता है। अभी यह तो सम्यग्दर्शन पाने की पहली कला (की बात है) आहा...हा...!

कहते हैं (भेद पड़ा) वह तो उपाधि है। विशिष्ट अर्थात् खास **मिट्टी मात्र की भाँति,...** तीन भेद पड़े वह अशुद्धनय से सपाधिस्वभाव है—ऐसा एक आत्मा में पर्याय के भेदवाला धर्म, उसमें आत्मा व्यापक है-ऐसा कहने में आता है। तथापि उसे देखकर इसकी दृष्टि तो द्रव्यस्वभाव पर जानी चाहिए। दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय भेदरूप है। आहा...हा...! देखो! एक जीव ही ऐसा लिया। आहा...हा...! तथापि उसका ज्ञान लक्ष्य में लेकर यह एक धर्म-योग्यता मुझमें है, पर्याय में है परन्तु ऐसा देखकर द्रव्य जो चैतन्य भगवान, ज्ञायकस्वरूप परमात्मा स्वयं (है), वहाँ इसे नजर करनी है। आहा...हा...! यह आत्मद्रव्य चैतन्यमात्र स्वभाव जिसका है। आहा...हा...! ऐसी बातें लोगों को कठिन पड़ती है, फिर सोनगढ़ के नाम से (कहते हैं) सोनगढ़वाले निश्चयाभासी हैं, वे व्यवहार को मानते नहीं। दोनों नय का विषय है, वह जाननेयोग्य है; आदरणीय तो त्रिकाल वस्तु एक ही है। आहा...हा...! व्यवहारनय नहीं - ऐसा नहीं। व्यवहारनय का विषय भी नहीं-ऐसा नहीं, परन्तु वह

आदरणीय नहीं। आहा...हा... ! ऐसा सूक्ष्म पड़ता है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। क्रिया से कहा, ज्ञान से कहा, द्वैत से कहा, अद्वैत से कहा, कर्ता-भोक्ता से कहा, अकर्ता-अभोक्ता से कहा, ईश्वरनय से कहा, अनीश्वरनय से कहा, यह तो दूसरी बात है। आहा... ! अन्तिम दो है न ? फिर तो ऐसे अनन्त नय हैं। आहा...हा... !

**मिट्टी मात्र की भाँति....** मिट्टी को जैसे यह घट और रामपात्र उपाधि है... आहा...हा... ! क्या कहा ? मिट्टी जो एकरूप है, उसमें घट या रामपात्र जो हो, वह उपाधि है। आहा...हा... ! वैसे भगवान आत्मा में कहते हैं कि आत्मा की दृष्टि, ज्ञान और रमणता (हुई), आत्मा जाना, आत्मा माना, आत्मा में रमा - ये तीन तो उपाधि के भेद हैं। लो ! एक नय ३५ मिनिट तो चला। प्रभु ! यह मार्ग बहुत अलग प्रकार का है। भाई ! और वह भी एक नय का एक धर्म गिनने में आया है। ऐसे तो अनन्त धर्म को धरनेवाला द्रव्य है। समझ में आया ? यह एक धर्म ऐसा गिना है। धर्म अर्थात् आत्मा में पर्याय का ऐसा धर्म धार रखा है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र धर्म है, वह ठीक परन्तु यह धर्म एकरूप धर्म को आत्मा ने धार रखा है। राग है वह भी एक धर्म; धर्म अर्थात् है, उसे धार रखा है। ऐसे यह सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र ये तो निर्मल धर्म हैं। धर्मी का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह धर्म है। यह धर्म भी एक नय का विषय है। एक अशुद्धनय का विषय है। आहा...हा... ! गजब बात की है न !

अमृतचन्द्राचार्य हजार वर्ष पहले दिगम्बर सन्त (हुए), उन्होंने ये नय निकाले हैं। आहा...हा... ! वहाँ कहीं सुनने को मिले ऐसा नहीं, तब यहाँ रुके हैं न ! ऐसी बातें हैं, बापू ! आहा ! अरे ! प्रभु ! तेरे हित की बात है न ! प्रभु ! आहा...हा... ! ऐसा नहीं लगना चाहिए कि अरे ! हमारी मानी हुई सब बातें मिथ्या करते हैं। ऐसा न होओ, प्रभु ! वह मिथ्या है, उसे मिथ्या जानना और सच्चा क्या है, उसका आदर करना। आहा...हा... ! यह ४६ (नय पूर्ण) हुआ।

अब ४७ अन्तिम। है तो अनन्त नय, परन्तु कितने कहें ? उसमें विशिष्टता ऐसी है कि शक्तियाँ भी सैंतालीस वर्णन की है, नय भी सैंतालीस वर्णन किये हैं, उपादान-निमित्त के दोहे भी सैंतालीस हैं और चार कर्म की प्रकृति भी सैंतालीस है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय-चार। परन्तु क्या मेल है न ! चार घातिकर्म है न ? उनकी प्रकृति सैंतालीस है, उपादान-निमित्त के दोहे सैंतालीस हैं, समयसार में शक्ति वर्णन की, वे सैंतालीस हैं, यह नय वर्णन किया, वह

सैंतालीस है। आहा...हा...! इसका ज्ञान करके द्रव्य में जाये, उसे सैंतालीस प्रकृति का नाश होकर केवलज्ञान होगा-ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! पहले तो अन्दर में जाये तो इसे सम्यग्दर्शन होगा, पश्चात् आगे बढ़ते-बढ़ते उसमें रमे (तो) केवलज्ञान होगा। आहा...हा...! यह क्रिया करते-करते—ऐसा नहीं, ये पर्याय के भेद जानते-जानते नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? आहा!

४७, **आत्मद्रव्य शुद्धनय से, केवल मिट्टी मात्र की भाँति,....** अकेली मिट्टी है, जिसमें भेद नहीं। आहा! (ऐसा) **निरुपाधिस्वभाववाला है।** पर्याय के भेदरूपी उपाधिरहित द्रव्य है। आहा...हा...! अब यहाँ तो अभी दया, दान, व्रत, भक्ति को धर्म मानकर... आहा! मिथ्यात्व में रुके हैं। आहा...हा...! क्या हो? पढ़-पढ़कर भी ऐसा उसमें से निकालते हैं। यह माल है, वह अन्दर से नहीं निकालते। बहुत वाँचन करे, बहुत पढ़े तो निकाले वापस यह कि व्यवहार से होता है, ऐसा तो होता है, साधक कहलाये और अमुक कहलाये... समझ में आया?

यहाँ तो वस्तु जो अखण्ड अभेद एक वस्तु है, द्रव्य / वस्तु है, उसमें पर्याय का द्रवना -परिणमना होता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान (हो तो कहते हैं), भाई! यह तो भेद पड़े न! अभेद में यह उपाधि है। आहा...हा...! ऐसा एक धर्म है परन्तु उसका लक्ष्य करके वहाँ खड़ा नहीं रहना है। जिसने अनन्त धर्मों को धार रखा है—ऐसा अधिष्ठाता भगवान द्रव्य, वहाँ इसे नजर करनी है। आहा! कहो, समझ में आया? आज का विषय कठिन है। परन्तु मार्ग तो यह है, भगवान! अनन्त तीर्थंकरों की पुकार है, अनन्त केवलियों का यह प्रवचनसार है। अनन्त केवलियों की दिव्यध्वनि में से निकला हुआ प्रवचनसार है, सन्तों ने अन्दर आढ़तिया होकर जगत को बात की है। आहा...हा...! अरे रे!

एक समय में दोनों हैं, हों! दर्शन-ज्ञान-चारित्र। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, निर्मल, हों! मोक्षमार्ग! वह पर्याय है, इसलिए उपाधि है—ऐसा भी एक धर्म है और एक शुद्धनय से उसी समय में वापस, दूसरे समय में, ऐसा नहीं। आहा...हा...! **आत्मद्रव्य शुद्धनय से, केवल मिट्टी मात्र की भाँति,....** केवल मिट्टी, ऐसे केवल द्रव्यस्वभाव। आहा...हा...! अकेला पर्याय के भेदरहित द्रव्यस्वभाव, वह **निरुपाधिस्वभाववाला है।** जिसके-पर्याय के भेदरहित निरुपाधिस्वभाववाला है। जिस समय में उपाधिवाला स्वभाव है, उसी समय में निरुपाधिस्वभाव है। ऐसा

वीतराग का तत्त्व है, भाई! समझ में आया? जिस समय में पर्याय के भेद सम्यग्दर्शन-ज्ञान निश्चय, हों! सच्चे; वह भी व्यवहार का भेद अशुद्धनय का विषय है, एक उस प्रकार की योग्यता का धार रखा हुआ धर्म है। उसी समय में एक शुद्धनय का धर्म वह एकरूप द्रव्य हूँ, उसमें पर्याय के भेद नहीं—ऐसा जो शुद्धनय, अकेली मिट्टी, उसके भेद नहीं, घड़ा या रामपात्र (-ऐसे भेद नहीं)। वैसे भगवान आत्मा एकरूप स्वभाव है, ज्ञाता-दृष्टा त्रिकाल, उसमें भेद नहीं। आहा...हा...! ऐसा केवल मिट्टी (की भाँति)। केवल-अकेली मिट्टी। घड़ा और रामपात्र तथा दूसरे बहुत होते हैं न, क्या कहलाते हैं? यह रोटी बनाने का तवा मिट्टी का होता है न? अब लोहे का (होता है), पहले तो अकेला मिट्टी का आता था न! मिट्टी के घड़े और दाल, भात, साग बनाने के मिट्टी के बर्तन। अब तो तपेली हो गयी है, उस समय तो दो पैसे का बर्तन मिलता था, अभी तो बढ़ गया है।

यहाँ तो कहते हैं कि वह बर्तन है, वह मिट्टी में उपाधि है (क्योंकि) भेद पड़ा और अकेली मिट्टी, वह निरुपाधि है। वैसे भगवान अकेला पर्याय के भेदरहित... आहा...हा...! अखण्डानन्द सच्चिदानन्द प्रभु, आहा...हा...! सत्साहेब अकेला प्रभु, इस नय से वह निरुपाधि है। आहा...हा...! सूक्ष्म पड़े, भाई! परन्तु भाषा तो सादी है। क्या हो? जो मार्ग हो, वैसा आवे या कोई दूसरा आवे? इसे न समझ में आवे और न माना हो, इसलिए दूसरा आवे - ऐसा कुछ है? आहा! वीतरागमार्ग की यह अनेकान्त की शैली गुप्त हो गयी। एकान्तमार्ग मानकर बैठ गये। आहा...हा...!

शुद्धनय से केवल मिट्टी मात्र की भाँति निरुपाधिस्वभाव है। जिस भूतार्थ को ग्यारहवीं गाथा में शुद्धनय कहा। '**ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' परन्तु यह तो शुद्धनय पूरी वस्तु को कहा और यहाँ तो द्रव्य के एक स्वभाव के धर्म को शुद्धनय कहा है। ऐसा एक धर्म गिना है। क्या कहा यह? देखो! ग्यारहवीं गाथा में है न समयसार की? वह जैनदर्शन का प्राण है, वस्तुस्वभाव का प्राण है। उसमें व्यवहार को अभूतार्थ कहा है। नहीं (है)—ऐसा नहीं, परन्तु निश्चय दृष्टि कराने को पर्यायमात्र को 'नहीं'—ऐसा कहकर गौण करके 'नहीं' कहा है। पर्याय नहीं, तब तो निश्चयाभास हो जायेगा। आहा...हा...! यह तो यहाँ कहा-पर्याय है, राग है, भेद है। आहा...हा...! ऐसे यह एक नय है, यह एक धर्म है। यह धर्म पूरे द्रव्य को स्वीकार करता है; इसलिए यह पूर्ण धर्म है-ऐसा नहीं है। एक शुद्धनय से

द्रव्यमात्र को देखता है; इसलिए इसे एक प्रकार का धर्म गिनने में आया है। क्या कहा यह ?

(समयसार की) १४ वीं गाथा में कहा है न ? भाई ! शुद्धनय कहो, अनुभूति कहो या आत्मा कहो। वहाँ वह अलग चीज़ है। वहाँ पूरा आत्मा एकरूप है, उसे कहा और (यह) तो एक नय का एक भाग है। जैसे उपाधिवाला है, भेदवाला है, वैसा भी एक धर्म है। ऐसे एक शुद्धनय त्रिकाली वस्तु है, ऐसा एक धर्म है। अरे रे ! भाई ! ऐसा है, बापू ! गजब कठिन बात है, कभी सुना न हो, उसे ऐसा लगे कि ये क्या कहते हैं ? भगवान ! ये तेरे घर की बातें हैं, प्रभु ! आहा ! इसे उकताहट नहीं आना चाहिए, प्रभु ! सुनकर ऐसे सब भेद क्या ? (ऐसी) उकताहट नहीं आना चाहिए, प्रभु ! उसका ज्ञान करके अन्तर में जाने के लिये प्रयत्न करना। आहा...हा... !

केवल मिट्टी अर्थात् अकेली मिट्टी, बस ! उसमें भेद नहीं; वैसे अकेला भगवान आत्मा, जिसमें पर्याय के भेद नहीं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद नहीं, आहा...हा... ! सोलहवीं गाथा में तो ऐसा कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय है। आनन्द का अनुभव है। सम्यग्दर्शन में आनन्द का अनुभव है। उस अनुभव की पर्याय को भी मेचक कहा है। मलिन, मैल, और व्यवहार है-ऐसा कहा है। आहा...हा... ! समयसार की १६ वीं गाथा है न ? उसके कलश हैं न कलश, पता है न ! आहा...हा... ! वह निरुपाधिस्वभाववाला, वह भी एक धर्म गिना। पूरा विषय है—ऐसा नहीं, क्योंकि उस पर्याय के वापस धर्म हैं न सब ! आहा...हा... ! भगवान ! तू तो परमात्मा है ! प्रभु ! आहा...हा... ! क्या सन्तों की वाणी !

एक ही पढ़े, बराबर समझे तब तो निहाल हो जाये ऐसा है। लम्बा-लम्बा पढ़े और करुणानुयोग का ऐसा है, अमुक का ऐसा है, करुणानुयोग में कर्म के कारण होता है—ऐसा कहा है, ये सब निमित्त की बातें हैं। ज्ञानावरणीय से ज्ञान रुकता है, यह बिल्कुल खोटी बात है-ऐसा यहाँ कहते हैं। ज्ञानावरणीय तो जड़कर्म पर है। पर कर्म के कारण आत्मा की पर्याय रुकती है ? वह तो निमित्त का कथन है। आहा ! ज्ञान की हीन दशा स्वयं से हुई है, कर्म के कारण नहीं। आहा...हा... ! ऐसी हीन दशा की योग्यता का धर्म उसने धार रखा है। आहा...हा... ! बड़ा विवाद।

यहाँ तो कहते हैं ओहो...हो... ! केवल मिट्टी, अकेली मिट्टी, जिसमें पर्याय का भेद नहीं। घट और रामपात्र का (भेद नहीं); वैसे भगवान आत्मा शुद्धनय से

अकेला द्रव्य है परन्तु अकेला द्रव्य है, इतना एक धर्म इसका नहीं, ऐसे तो अनन्त धर्म हैं। पर्याय के धर्म साथ है न! आहा...हा...! दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेदरूपी धर्म, रागरूपी एक धर्म, ज्ञाननय का एक धर्म, क्रियानय का एक धर्म, व्यवहारनय का एक धर्म, निश्चयनय का एक धर्म। आहा...हा...! ऐसे सब धर्मों में एक यह नय भी धर्म गिना है। धर्म अर्थात् धार रखा हुआ भाव। आहा...हा...! और उसका लक्ष्य करके, एक धर्म है, उसे फिर लक्ष्य में से छोड़कर पूरा आत्मा जो पूर्णानन्द का नाथ है, वहाँ इसे दृष्टि करनी है। आहा...हा...! ऐसा है। लो, ४७ हुए। दो हुए। पचास मिनिट में दो (नय) पूर्ण हुए।

सन्तों को गम्भीर कहना है, भाई! आहा...हा...! अनन्त-अनन्त काल हुआ प्रभु तुझे। नौवें ग्रैवेयक गया। मुनिव्रत धार ग्रैवेयक उपजायौ परन्तु आत्मज्ञान बिन लेश सुख न पायो। ये पंच महाव्रत ऐसे पालन किये कि निरतिचार (पालन किये)। इसके लिए (बनाया हुआ) भोजन या पानी की एक बूँद भी ले नहीं। आहा...हा...! अभी तो साधु के लिए पूरे चौका बनते हैं और क्षुल्लक ग्यारहवीं प्रतिमावाले के लिए तो... आहार होता है। अभी तो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है। आहा...हा...! अरे प्रभु! क्या हो? यह तो वस्तु की स्थिति है, सन्त प्रसिद्ध करते हैं, वह प्रसिद्ध होता है।

**इसलिए कहा है :—** यह निरुपाधिस्वभाव कहा (वह) द्रव्य-वस्तु, भेद नहीं परन्तु वह एक ही धर्म यहाँ गिनने में आया है। अनन्त धर्म में व्यापक कहा है न? नहीं तो वास्तव में तो शुद्धनय है, वह त्रिकाली भूतार्थ को कहा। वह त्रिकाली भूतार्थ जो आत्मद्रव्य है, एक पर्याय के ऐसे शुद्धनय के निरुपाधिस्वभाववाला है। त्रिकाली भूतार्थ भगवान जो ध्रुव है, उसे हम शुद्धनय कहते हैं। ग्यारहवीं गाथा में ऐसा आता है। आहा...हा...! वहाँ आगे वे पर्याय के धर्म नहीं, अकेला द्रव्यस्वभाव वह दृष्टि में लेने की बात है। यहाँ तो पर्याय के धर्म और यह एक धर्म, सब गिनकर अन्दर द्रव्य में-चैतन्यमात्र में जाने की नजर है। क्या कहा, समझ में आया? आहा...हा...! यह तो स्वयं के लिए है, बापू! आहा...हा...! अरे! चौरासी के अवतार में दुःखी... दुःखी... दुःखी है। आहा...हा...! इस प्रकार कहा है कि —

**जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।**
**जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया॥**

**परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।**
**जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो॥**

**अर्थ : जितने वचनपन्थ हैं,....** कहने की वाणी में। व्यवहार कथनमात्र है-ऐसा आया था न? भाई! पहले पाँचवें श्लोक में कथनमात्र है। कितने ही वचनमात्र है? **जितने वचनपन्थ हैं,....** (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट है) ***वचनपन्थ=वचन के प्रकार [ जितने वचन के प्रकार हैं, उतने नय हैं। अपेक्षासहित नय, वे सम्यक्नय हैं और अपेक्षा रहितनय वे मिथ्यानय हैं; इसलिए जितने सम्यक्नय हैं, उतने ही मिथ्यानय हैं। ]***आहा..हा...! एक ही नय को माने और दूसरा नय है-ऐसा न माने। व्यवहारनय नहीं? है; उससे धर्म नहीं होता परन्तु व्यवहारनय का विषय नहीं? आहा...हा...! यह कठिन काम है।

व्यवहारनय है तो नय है तो वह विषयी है तो विषयी का विषय हो तो ही नय होगा या नहीं? आहा...हा...! आत्मा में दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम (होते हैं), वह व्यवहारनय का विषय है, परन्तु उससे निश्चय होता है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? अरे! ऐसी बातें अब... बातें। वह तो व्रत पालो, प्रतिमा धारण करो, मुनिपना ले लो, वस्त्र छोड़ दो, सीधा सरल था। अरे बापू! उसमें तूने क्या किया? भाई! जो वस्तु है उसे तो तूने जाना नहीं। उसका तो ज्ञान नहीं, दर्शन नहीं तो स्थिरता कहाँ से? जिसे जाना नहीं, माना नहीं तो उसमें स्थिरता कहाँ से आयी? आहा...हा...!

ऐसा जो भगवान आत्मा उसे अनन्त वचनों से कहा जाता है। **जितने वचनपन्थ हैं, उतने वास्तव में नयवाद हैं;....** उतने नय के प्रकार हैं। **और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय ( पर मत ) हैं।** एक ही नय को मानना, वह परसमय है परन्तु अनन्त नयों को एक साथ जानना, वह अनेकान्त धर्म है। आहा...हा...! अनेकान्त अर्थात्? पर्याय में भी है, भेद है, राग है, द्रव्य में नहीं—ऐसे सब प्रकार के नयों को मानना। मानकर अन्तर्दृष्टि में जाना। और एक ही नय को माने तथा दूसरे नय को न माने। व्यवहारनय है ही नहीं, पर्याय को अभूतार्थ कहा, व्यवहार अभूतार्थ है, पर्याय झूठी है—ऐसा कहा परन्तु उसे झूठ ही मान ले, तो पर्याय नहीं तो द्रव्य दृष्टि में आता नहीं। पर्याय में दृष्टि में द्रव्य आता है। द्रव्य की दृष्टि द्रव्य में से नहीं आती। पर्याय में दृष्टि में द्रव्य आता है। क्या कहा यह?

ज्ञान की पर्याय है उसमें द्रव्य ज्ञात होता है। द्रव्य में द्रव्य ज्ञात नहीं होता। आहा...हा...! ज्ञान की पर्याय है, उसमें ज्ञेय पूरा द्रव्य ज्ञात होता है। ऐसे श्रद्धा की पर्याय है, उसमें पूरे द्रव्य की श्रद्धा, ऐसा द्रव्य है-ऐसा प्रतीति में आता है। उस पर्याय में द्रव्य नहीं आता परन्तु द्रव्य की जितनी ताकत है, उसकी श्रद्धा आ जाती है। आहा...हा...! इस प्रकार यदि पर्याय को है ही नहीं—ऐसा माने तब तो एकान्त मिथ्यात्व हो जायेगा। वेदान्ती जैसा कहते हैं। वेदान्त ऐसा कहते हैं, पर्याय नहीं। वस्तु है वस्तु और वस्तु का अनुभव (ऐसे) दो नहीं, ऐसा वे कहते हैं। मिथ्यात्व है। वेदान्त मिथ्यादृष्टि ने निकाला है।

यहाँ तो कहते हैं कि जितने वचन के कथन हैं, उतने नय हैं और जो नय हैं, उनमें यदि एकान्त माने तो मिथ्यात्व है। वे सब नय हैं, एक नय के साथ दूसरे नय भी हैं—ऐसा जानना, वह सम्यक् है। आहा...हा...! है? **परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन सर्वथा (अर्थात् अपेक्षा बिना) कहा जाने के कारण वास्तव में मिथ्या है;...** आहा...हा...! जैन के अतिरिक्त, परमात्मा के अतिरिक्त इन अन्य ने कहा है, वह सब एकान्त है। वेदान्त ने द्रव्य को ही माना, बौद्ध ने पर्याय को ही एकान्त से माना। यह सब एकान्त है, मिथ्यात्व है। आहा...हा...! अरे! ऐसी बात है।

**जैनों का वचन कथंचित् (अर्थात् अपेक्षा सहित) कहा जाता है,....** अपेक्षा सहित है इसलिए वह **वास्तव में सम्यक् है।**

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## मुनिराजों से जैनशासन की शोभा!

मुनिराज निरन्तर ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं। वे कभी-कभी पिछली रात्रि में थोड़ी निद्रा लेते हैं, उन्हें विशेष प्रमाद नहीं होता। **अहा, जिनका आत्मा चैतन्य की साधना में अत्यन्त जागृत है, उन्हें नींद लेना कैसे सुहाएगा? जागृत रहकर सिद्धपद को साधनेवाले मुनिराजों से जैनशासन की शोभा है।** उनका समावेश 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में होता है।

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वीतराग-विज्ञान, भाग ६, पृष्ठ २८*

इस प्रकार इस (उपरोक्त) सूचनानुसार (अर्थात् ४७ नयों में समझाया है उस विधि से) एक-एक धर्म में एक-एक नय (व्यापे), इस प्रकार अनन्त धर्मों में व्यापक अनन्त नयों से निरूपण किया जाय तो, समुद्र के भीतर मिलनेवाले [१]श्वेत-नील गंगा-यमुना के जलसमूह की भाँति, अनन्तधर्मों को परस्पर अतद्भावमात्र से पृथक् करने में अशक्य होने से, आत्मद्रव्य [२]अमेचक स्वभाववाला, एक धर्म में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से यथोक्त एकान्तात्मक (एक धर्मस्वरूप) है। परन्तु युगपत् अनन्त धर्मों में व्यापक ऐसे अनन्त नयों में व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण से निरूपण किया जाय तो, समस्तनदियों के जलसमूह के समवायात्मक (समुदायस्वरूप) एक समुद्र की भाँति, अनन्त धर्मों को वस्तुरूप से पृथक् करना अशक्य होने से आत्मद्रव्य [३]मेचकस्वभाववाला, अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से यथोक्त अनेकान्तात्मक (अनेक धर्मस्वरूप) है। [जैसे-एक समय नदी के जल को जाननेवाले ज्ञानांश से देखा जाय तो समुद्र एक नदी के जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक समय एक धर्म को जाननेवाले एक नय से देखा जाय तो आत्मा एक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है; परन्तु जैसे एक ही साथ सर्व नदियों के जल को जाननेवाले ज्ञान से देखा जाय तो समुद्र सर्व नदियों के जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक ही साथ सर्व धर्मों को जाननेवाले प्रमाण से देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है। इस प्रकार एक नय से देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है और प्रमाण से देखने पर अनेकान्तात्मक है।]

---

**१. गंगा का पानी श्वेत होता है और यमुना का पानी नील होता है।**

**२. अमेचक=अभेद; विविधता रहित; एक।**

**३. मेचक=पृथक्-पृथक्; विविध; अनेक।**

**प्रवचन नं. २७१, श्लोक-१९**

**भाद्र कृष्ण ९, शुक्रवार, १४ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, अन्तिम यह आता है न? (श्लोक) आया न? **इस प्रकार....** वहाँ आया न? क्या कहते हैं? शिष्य का ऐसा प्रश्न था कि प्रभु! यह आत्मा कितना, कैसा है? कि जिसे जानने से आत्मा को धर्म होता है। यह आत्मा अन्दर जो वस्तु है, सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो देखी है, वह वस्तु कैसी है? कितनी है? तो कहा कि उसमें एक-एक—राग होता है, सम्यग्दर्शन होता है आदि, ऐसे अनन्त-अनन्त नयों से जाननेयोग्य अनन्त धर्म अर्थात् भाव हैं। अरे! ऐसी बातें हैं। व्यवहार-राग होता है, वह भी एक इसमें भाव—धारण किया हुआ भाव—है। आहा...! ऐसा स्वपने है और परपने नहीं—ऐसा भी इसमें एक भाव है। ऐसी सूक्ष्म बात है, प्रभु! अनन्त काल में इसने आत्मा क्या चीज़ है? उसका आश्रय नहीं लिया। बाहर की क्रियाकाण्ड में-प्रवृत्ति में पड़कर जाननेवाले को नहीं जाना, बाकी सब बातें की। आहा...हा...!

इसलिए कहते हैं कि आत्मा में स्वपने है, परपने नहीं; राग है, राग का कर्ता है, राग का भोक्ता है तथा राग का अकर्ता और अभोक्ता है—ऐसे इसमें भाव भरे हुए हैं परन्तु उन भाव का स्वामी-आधार वह वस्तु है। आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। यह चैतन्य जो द्रव्यस्वभाव, चैतन्यमात्रस्वरूप, उसे ऐसे अनन्त धर्मों को एक नय से जानकर या अनन्त धर्मों को एकसाथ जानकर... आहा...हा...! परन्तु अन्दर चैतन्यद्रव्य जो है... सूक्ष्म बात, भाई! उसके सन्मुख होकर, उसका आश्रय कर। आहा...हा...! उसे जाने बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होगा नहीं और उसे जानने से जो ज्ञान और दर्शन हुआ, उसमें फिर रमणता होना, उसका नाम चारित्र है। चारित्र कोई यह क्रियाकाण्ड और शरीर और ये चारित्र नहीं है। आहा...हा...! यह यहाँ नय का अधिकार पूरा करते हैं।

**इस प्रकार इस ( उपरोक्त ) सूचनानुसार....** ४७ नयों में समझाया। ४७ लिये न? द्रव्य-पर्याय ऐसा। जीवत्वशक्ति तो गुण में जाती है। आहा...हा...! आत्मा

में द्रव्यनय से एकरूप है, पर्यायनय से अनेक है ऐसे-ऐसे ४७ नयों का वर्णन किया। इसके अतिरिक्त अनन्त नयों से अनन्त धर्म जानने के योग्य हैं। आहा...हा...! यदि सुखी होना हो तो। वरना तो तू जिस पक्ष में अनादि से पड़ा है... आहा...हा...! यह अनादि से राग और पुण्य-पाप के विकार के पक्ष में और लक्ष्य में तो अनादि से है। अब उसका पक्ष छोड़ना हो तो इसमें है, ऐसा पर्याय में जानना। आहा...हा...! तथापि उससे धर्म होता है - ऐसा नहीं है। यह क्रिया का राग है, वह पर्याय में है- ऐसा ज्ञान (करना) और वह राग किससे हुआ, उसके सामने इसे देखना नहीं परन्तु यह राग है, वह किसके आधार से है? उसे देखना है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग का धर्म कोई अलौकिक है। लोगों ने साधारण कर दिया, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहा...हा...!

ये ४७ नय, **एक-एक धर्म में एक-एक नय (व्यापे),...** है। है? यह क्या कहा? आत्मा एक द्रव्य है, यह नय भी एक धर्म अर्थात् भाव है। एक पर्याय है, ऐसा एक भाव है। स्वपने है, ऐसा एक भाव; परपने नहीं, ऐसा एक भाव—ऐसे-ऐसे अनन्त भावों को अनन्त नय से जानना। अरे! ४७ तो नाम दिये हैं। उनमें **एक-एक धर्म में एक-एक नय (व्यापे),...** है। है? क्या कहा यह? एक-एक पर्याय जो राग है या स्वपने है, परपने नहीं—ऐसा जो इसका भाव, उस एक-एक धर्म में अर्थात् भाव में एक-एक नय जानता है - एक-एक नय व्यापता है। अरे रे! आहा...हा...! ऐसी शैली।

**इस प्रकार अनन्त धर्मों में व्यापक....** अनन्त जो भाव अन्दर हैं, उन्हें जाननेवाले अनन्त नय, उन **अनन्त धर्मों में व्यापक अनन्त नयों से निरूपण किया जाय...** अर्थात् कथन किया जाता है, ऐसा नहीं परन्तु ऐसा जानने में आता है, ऐसा। आहा...हा...! **तो, समुद्र के भीतर मिलनेवाले श्वेत-नील गंगा-यमुना के जलसमूह की भाँति,...** (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट है) ***गंगा का पानी श्वेत होता है और यमुना का पानी नीला होता है।*** दो नदियों का पानी लिया। श्वेत और नील। **गंगा-यमुना के जलसमूह की भाँति, अनन्तधर्मों को....** आत्मा में जो अनन्त प्रकार के नय का विषय जो धर्म-भाव हैं, उन **अनन्तधर्मों को परस्पर अतद्भावमात्र से....** उनका अतद्भाव है (अर्थात्) एक में दूसरे का अभाव है। **अतद्भावमात्र से पृथक् करने में अशक्य होने से,....**

परन्तु भिन्न करना अशक्य है। जहाँ ज्ञान है, वहाँ दर्शन है, वहाँ आनन्द है, वहाँ पर्याय में राग है। आहा...हा...! मार्ग बहुत अलग, भाई! यह तो जन्म-मरण का अन्त लाने की बातें हैं। बापू! आहा...हा...! तेरे सुख के पंथ को कैसे प्रगट करना, उसकी बातें हैं, प्रभु! आहा...हा...!

उन अनन्त धर्मों में अनन्त नय व्यापक हैं, इससे **अनन्तधर्मों को परस्पर अतद्भावमात्र से पृथक् करने....** है तो अतद्भाव; एक भाव दूसरे भावरूप नहीं परन्तु **पृथक् करने में अशक्य होने से,....** अनन्त गुण का नाथ प्रभु, उसका एक गुण भिन्न करना अशक्य है। (ऐसा) **होने से, आत्मद्रव्य....** भगवान आत्मद्रव्य। **अमेचक -स्वभाववाला,....** अभेद है। नीचे अर्थ है। अभेद है, विविधतारहित है, एक है। ऐसा **आत्मद्रव्य अमेचक स्वभाववाला, एक....** होने पर भी **एक धर्म में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से....** एक धर्म को देखनेवाले नय से वह आत्मद्रव्य अभेद होने पर भी, एक नय से एक धर्म में व्यापक है। क्या भाषा? वह तो व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो, और यात्रा करो, सीधा सट्ट था, भटकने का! यह सब भटकने का, हों! भाई! मार्ग नाथ! तेरे सुख का पंथ कोई अलौकिक है। आहा...! तुझे कठिन पड़े परन्तु मार्ग तो यह है। आहा...हा...!

जो अनन्त गुण हैं, उन्हें भिन्न करना अशक्य होने से; है अभेद, तथापि एक नय के एक धर्म को देखने पर उस एक नय से पूरी चीज़ को देखना। एक धर्म को देखकर... धर्म अर्थात् भाव, (उसे देखकर) वस्तु को देखना। पर्याय में यह रागादि धर्म प्रगट हुआ है, वह किसके निमित्त से प्रगट हुआ, उसमें न देखकर, यह राग जिसकी पर्याय में है, उसका आधार जो द्रव्य है, उस आत्मद्रव्य को चैतन्यमात्र देखना। ऐसा स्वरूप है, भाई! भगवान है, भाई! सभी आत्माएँ भगवान हैं। समझ में आया? आहा...हा...! अन्दर कोई हीन, न्यून नहीं है; पूर्णानन्द का नाथ है। आहा...हा...! एक चींटी का आत्मा भी अन्दर पूर्णानन्द का नाथ है। उसकी पर्याय में अन्तर है, परन्तु वस्तु तो है वह पूर्ण है। आहा...हा...! अरूपी है, वह उसके अरूपी के ज्ञान के नय से जाननेयोग्य है। राग है, उसमें वह व्यवहार है अवश्य परन्तु उस व्यवहार से अन्दर निश्चय में जाया जाये - ऐसा नहीं है। उसका ज्ञान करके, अन्दर चैतन्यमूर्ति द्रव्य है, उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है, वह सुख की दशा प्रगट होती है। आहा...हा...! अनजाने व्यक्ति को तो

(ऐसा लगे कि) क्या होगा यह ? जैनधर्म का ऐसा स्वरूप होगा ? बापू ! फेरफार हो गया। नय सुने न हों, नय का विषय अनन्त धर्म क्या है, (वह) सुना न हो। धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह धर्म (की बात यहाँ) नहीं। यहाँ तो अन्दर पर्याय में और गुण में जो धार रखे भाव, वह धर्म। आहा...हा... ! यहाँ तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को शामिल लेना है न ? समझ में आया ?

पर्याय में दया, दान, व्रत, भक्ति का राग होने पर भी, वह एक प्रकार का एक धर्म है। धर्म अर्थात् भाव। सम्यग्दर्शन, वह धर्म (ऐसी बात यहाँ) नहीं। वह भाव, ऐसे अनन्त भावों को धरनेवाला चैतन्यद्रव्य है। आहा... ! परमात्मा और दिगम्बर सन्तों की पुकार है, प्रभु ! तुझे सुख के पंथ में जाना हो तो प्रभु ! तू राग की क्रिया में रुककर तू दुःख के पंथ में चला गया, भाई ! आहा ! समझ में आया ? आहा...हा... ! प्रभु ! तूने राग की क्रिया दया, दान, व्रत, भक्ति यह तो राग और दुःख की क्रिया है, वह तो दुःखरूप है। इसकी पर्याय में है अवश्य परन्तु वह दुःखरूप है, उसका ज्ञान करके भी, जानकर भी जाना है अन्दर में; जहाँ चैतन्य अन्तरात्मा भगवान पूर्णानन्द का नाथ विराजता है। आहा...हा... ! भगवन्त ! तेरी बात तुझे भगवन्त कैसे प्रगट हो ? उसकी बात है, प्रभु ! आहा...हा... ! इसमें किसी का अनादर करना या यह बात नहीं है। आहा ! आहा...हा... !

कहते हैं कि ये अनन्त धर्म अमेचक (अर्थात्) अभेद होने पर भी **एक धर्म में व्याप्त....** एक नय से देखने पर यह स्थिति है, पर से नहीं, पर्याय में राग है, पर्याय में राग का कर्ता है, पर्याय में राग का भोक्ता है, पर्याय में राग का अकर्ता है, पर्याय में राग का अभोक्ता है। आहा...हा... ! अरे रे ! भगवान सन्तों की वाणी ऐसी है। सन्त-दिगम्बर मुनि सन्त हैं, परमेश्वर हैं ! आहा...हा... ! वीतरागी मुनि, जिनकी बाह्य दिगम्बरदशा होती है। अन्तर में कोई महाव्रत का विकल्प हो, वह एक अंश से-नय से जाननेयोग्य है; पश्चात् जाना है अन्तर द्रव्य के स्वभाव में। आहा...हा... ! वहाँ रुक जाये, तब तो अनादि से मिथ्यादृष्टि रुका हुआ है। आहा...हा... !

**एक धर्म में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी....** एक ही राग में व्यापनेवाला तो राग के धर्मवाला यह आत्मा-ऐसा कहा जाता है। धर्म अर्थात् भाव। अपने अस्तिस्वभाव से है -ऐसे एक भाव से देखें तो एक नयस्वरूप है, परन्तु एक नय से देखने पर भी देखना है त्रिकाल (को)। अरे ! ऐसी बातें हैं। आहा...हा... ! ३८

गाथा में कहा है न ? भाई ! यह हम कहते हैं, उस प्रकार से सब जीव समझो और अनुभव करके आनन्द को प्राप्त करो।

भाई ने (एक विद्वान ने) दसलक्षण धर्म में ऐसा कहा है। प्रत्येक में (कहा है)-यह करके हे जीवों ! तुम इस प्रकार परमानन्द को पाकर सुखी होओ, अब यह कहकर विराम लेता हूँ - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! उनकी भाषा ! प्रत्येक को ! सभी जीव, सब भगवान है, उसे अन्दर में पहिचानकर आनन्द को पाओ। ३८ गाथा में भी कहा है, यह लिया है। जीव का अन्तिम अधिकार है न ? आहा...हा... ! कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य ! हम जो यह कहते हैं, प्रभु ! अन्तर्मुख होकर उसकी दृष्टि करने से जो सम्यग्दर्शन होता है, अन्तर्मुख भगवान का ज्ञान होता है, अन्तर्मुख में स्थिर हो, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पाकर मोक्ष को पाओ, सब परमानन्द को पाओ, सुखी होओ ! आहा...हा... ! ३८ की जो शैली है, वह शैली उन्होंने ली है। यह कहकर अब विराम लेता हूँ। सभी आत्माएँ अतीन्द्रिय आनन्द के सागर प्रभु हैं, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर-समुद्र है। प्रभु ! उसमें जा। बाहर को देखने में तू रुक गया। आहा...हा... ! तेरे भाव हैं, उन्हें देखने में रुका नहीं, बाहर को देखने में रुक गया। आहा...हा... ! उसमें जो अस्तिरूप से स्वपने है, परपने नहीं - ऐसे जो अनन्त भाव हैं, उन्हें एक-एक को जानकर... है ?

**एक धर्मी होने से यथोक्त एकान्तात्मक ( एक धर्मस्वरूप ) है।** इस अपेक्षा से भगवान एक स्वरूप से, एक धर्मस्वरूप है। आहा... ! एक नय से देखें तो वह धर्मी एक धर्मस्वरूप है। आहा... ! ऐसी बातें। अन्य तो प्रतिमा लो, महाव्रत लो, अणुव्रत लो... भगवान ! कहाँ अणुव्रत और महाव्रत थे ? अभी सम्यग्दर्शन ही नहीं, वहाँ (व्रत आये कहाँ से) ? भाई ! तेरे हित के पंथ की विधि तो यह है। तुझे ऐसा लगता है कि अरे रे ! हम इतने-इतने क्लेश करते हैं, परीषह सहन करते हैं, कष्ट करते हैं और वह धर्म नहीं ? अरे... भाई ! प्रभु ! यह तेरा स्वरूप ही नहीं। राग, वह पर्याय में एक अंश का एक भाव है। उसका त्रिकालस्वभाव वह नहीं है। आहा...हा... !

इसलिए कहते हैं **यथोक्त एकान्तात्मक ( एक धर्मस्वरूप ) है।** अनन्त धर्म अभेद होने पर भी, एक धर्म से देखें तो वह एक धर्मस्वरूप है। एक धर्मस्वरूप है; इसलिए एक धर्म को देखकर फिर देखना अनन्त। आहा...हा... ! यह तो प्रशस्त शुभराग... अभी यही कहते हैं न कि अभी शुभराग है। आहा ! आहा...हा... ! शुभ

कहते हैं न ? अभी तो शुभराग ही है, कहते हैं। अरे रे ! प्रभु... प्रभु ! क्या करता है ? भाई ! एक ही राग—ऐसे एक ही भावस्वरूप आत्मा है ? आहा...हा... ! प्रभु ! तुझे कहाँ जाना है ? यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग है, वह एक धर्म अर्थात् एक योग्यता गिनने में (आयी है)। धर्मस्वरूप नहीं, है तो वह अधर्म। आहा...हा... ! परन्तु वह एक नय का विषय जानकर पूरा तत्त्व एक धर्मस्वरूप-ऐसे जानना। आहा...हा... ! ऐसा स्वरूप है, भाई ! नये लोगों को तो ऐसा लगे कि यह क्या है यह ? प्रभु ! मार्ग अलग, भाई ! तूने सुना नहीं, प्रभु ! आहा...हा... ! तेरे घर को तूने देखा नहीं, जाना नहीं परन्तु सुना भी नहीं। आहा...हा... !

ऐसा जो **( एक धर्मस्वरूप ) है। परन्तु युगपत् अनन्त धर्मों में व्यापक...** एक साथ में अनन्त धर्मों में रहा हुआ, व्यापक। **ऐसे अनन्त नयों में व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण से....** भावश्रुतज्ञान, हों ! ये शब्द नहीं। इन शब्दों से जो ज्ञान (हो), वह ज्ञान नहीं। आहा...हा... ! इन शब्द का पढ़-पढ़कर ज्ञान होता है, वह ज्ञान नहीं। अरे रे ! जो ज्ञान अन्तर ज्ञायकस्वरूप में—भगवान में पूर्णानन्द का नाथ भरा है, उसके आश्रय से जो श्रुतज्ञान होता है और उस श्रुतज्ञान के साथ आनन्द की दशा होती है, उसे ज्ञान कहने में आता है। आहा...हा... ! यहाँ तो राग की क्रिया में धर्म नहीं—ऐसा अकेला सुनकर पढ़ा है, वह भी धर्म नहीं। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात, भाई !

'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, सेया नहीं गुरु-सन्त को...' सेवा अर्थात् कहीं पैर दबाना, ऐसा नहीं। आहा...हा... ! वे क्या कहते हैं ? उनके भाव को पकड़ना, वह उनकी सेवा है। 'सेया नहीं गुरु-सन्त को छोड़ा नहीं अभिमान' अपना अभिमान-हम जानते हैं, हमें पता है, हम धर्म में हैं। अरे रे ! ...प्रभु ! ऐसे अभिमान तो अनन्त काल से किये हैं, नाथ ! ग्यारह अंग का पठन अनन्त बार किया; निरतिचार और निर्दोष पंच महाव्रत अनन्त बार पालन किये। अरे ! देव, गुरु और शास्त्र की श्रद्धा भी अनन्त बार की। आहा...हा... ! परन्तु आत्मा अन्दर आनन्द का नाथ सागर प्रभु है, उसकी सत्ता का अस्तित्व है, उसका स्वीकार नहीं अर्थात् उसका आश्रय नहीं, भाई ! ऐसा है भगवान ! भगवान ! यह तेरी बात है, बापू ! ओहो...हो... ! गजब करते हैं न !

भाई ने दशलक्षण धर्म में वर्णन बहुत किया है। उसमें एक क्रोध का वर्णन

किया है। आहा! तू क्रोध करे तो दूसरे को भी जब क्रोध आवे तो थप्पड़ मारे, यह काया की विकृतता (हुई) और तू क्रोध से गाली दे और वह गाली दे तो वचन की विकृतता तथा तू उसका अपमान करे और उसे मन में क्षोभ हो, वह मन की मानसिक व्याधि है - ऐसा स्पष्टीकरण किया है। एक बार हमारे (एक मुमुक्षु) कहते थे। वे सोते-सोते पढ़ते हैं। एक ओर बहिन की पुस्तक और एक ओर यह, बस! दो ही बस है। (उनके) शरीर को ठीक नहीं है न! छह महीने से पड़े हैं। मैंने कहा, भाई! यह पढ़ो, भाई! यह दशलक्षण धर्म का पढ़ो, फिर दिया। फिर वे बेचारे बोले, हों! यह आपने मुझे दिया न! मैंने कहा - मैंने तो दिया नहीं। एक बहिन का वचनामृत पुस्तक और एक यह, बस है, कहते हैं। छह महीने से बिस्तर पर पड़े हैं बेचारे। जंगल हमारे (एक भाई ने) वह जगा है, वह सब (करता है), दूसरा कोई कर नहीं सकता। मल पोंछे, पानी से धोये, साफ करे। आहा...हा...! राजकोटवाले (एक मुमुक्षु) है न? बहुत काम करते हैं परन्तु वे आज बोले, हों! किसी ने दिया और पढ़ा... यह बात। बहिन की पुस्तक और एक यह, बस है, दोनों बस है। इनका क्षयोपशम है, बहिन को तो अनुभव है परन्तु फिर भी शैली ऐसी है कि पढ़नेवाले को अन्दर (जम जाती है)।

क्रोध नहीं करना—ऐसी बात चलती है परन्तु वास्तव में तो अस्ति से क्षमा करना चाहिए - ऐसा होना चाहिए। क्रोध नहीं करना, मान नहीं करना, अज्ञान नहीं करना—ऐसा नहीं आता; ज्ञान करना, ऐसा आता है। इस प्रकार उसमें क्रोध नहीं करना-ऐसा आया है क्योंकि जैसे बालक को उसकी भाषा में समझाना है; उसी प्रकार श्रोता को उसकी भाषा से समझाते हैं। वक्ता के भाव अन्दर दूसरे हैं परन्तु उसकी भाषा प्रमाण समझाते हैं; जैसे कि कोई लड़का रो रहा हो या ऐसा हो तो उसे उसका पिता कहता है—माँ को बुलाओ! माँ के पास जा! वह लड़का समझता है कि यह माँ कहीं मेरे पिता की माँ के लिए नहीं कहते, मेरी माँ के लिए कहते हैं। इन्होंने ऐसा स्पष्ट किया है। सादी भाषा में इतनी गम्भीरता से... आहा...हा...! श्रोता के कारण ऐसी भाषा की है कि क्रोध नहीं करना... आहा...हा...! नास्ति से बात की है, ये लोग इस भाषा में समझते हैं इसलिए। आहा...हा...! परन्तु वास्तविक तो भगवान पूर्ण अस्तित्व है, पूर्णानन्द का नाथ महासत्ता प्रभु की है, उसका आश्रय करने की बात तो पहले होनी चाहिए और उसका आश्रय करे, तब इसे सम्यग्दर्शन

होता है, वरना राग की मन्दता और तीव्रता करे, (ऐसा तो) अनन्त बार किया, उससे कुछ नहीं होता। कषाय की मन्दता ऐसी की है कि नौवें ग्रैवेयक (गया)। दिगम्बर जैन साधु (हुआ) पंच महाव्रत और नौ-नौ कोटि से बाह्य का त्याग (किया परन्तु) अन्तर की दृष्टि मिथ्यात्व। आहा...हा..! अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक में गया। प्रभु! उसमें तेरा कुछ नहीं हुआ। चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे—ऐसी दशा नौवें ग्रैवेयक जानेवाले की थी परन्तु वह दशा पर लक्ष्यवाली थी। अन्तर भगवान आनन्द के नाथ का आश्रय नहीं था। इसलिए उसमें कहा न? आहा...हा...! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो पै निज आतमज्ञान....' इस चिदानन्द भगवान का आश्रय नहीं लिया। बाहर की राग की क्रीड़ा में रमा। आहा...हा...! वह तो संसार है। समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं, प्रभु! तू एक बार तुझे, तेरे भावों को जानकर द्रव्य को देख! आहा...हा...! समझ में आया? दूसरे को जानकर तू भाव को देख-ऐसा नहीं कहा। देव-गुरु को जानकर तू अन्दर में देख-ऐसा नहीं कहा। भाई! देव-गुरु को जानकर अन्दर में देख—ऐसा नहीं कहा परन्तु देव-गुरु की श्रद्धा का जो राग है; देव-गुरु की श्रद्धा है, वह तो राग है, वह कहीं समकित नहीं। आहा...हा...! उस राग को देखकर भी अब अन्दर में जा। आहा...हा...! इस आत्मा के आश्रय बिना प्रभु! तुझे कहीं कल्याण नहीं है। चाहे जितनी क्रिया कर और कषाय मन्द कर, बालब्रह्मचारी हो, तो उससे क्या हुआ? स्व का आश्रय नहीं लिया, उसे ब्रह्मचर्य है ही कहाँ? ब्रह्म अर्थात् भगवान आत्मा में जो चरना, उसका आश्रय लेकर रमना, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। इस शरीर से नौ कोटि से ब्रह्मचर्य पालन किया, इसलिए ब्रह्मचारी है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! क्या है ऐसा सब? आहा! भाई! अनजाने को तो ऐसा लगे, एक तो भाषा (समझ में आये नहीं), हिन्दीवाले को गुजराती (भाषा समझना और) उसमें भाव ऐसे, कठिन पड़ते हैं, प्रभु! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं **अनन्त धर्मों में व्यापक ऐसे अनन्त नयों में व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण से....** आहा...हा...! देखा? यह श्रुतज्ञानस्वरूप सामने (वाले) को ऐसा कहते हैं कि तेरा जो आत्मा है, वह पूर्ण स्वरूप आनन्द है, उसमें उसके आश्रय से प्रगट हुआ भावश्रुतज्ञान है, उस भावश्रुतज्ञान द्वारा उसे देख। आहा! जिसके आश्रय से प्रगट हुआ है, उसे देख। आहा...हा...! यह शास्त्र सुनकर

या सूत्र से ज्ञात हो - ऐसा नहीं है। अन्दर भगवान पूर्णानन्दस्वरूप, आनन्द का दल है, अतीन्द्रिय आनन्द का दल है, पिण्ड है, महाप्रभु! आहा...हा...! उसका आश्रय लेकर जो ज्ञान हुआ, उसे यहाँ भावश्रुतज्ञान कहने में आता है। आहा...हा...! और भगवान ने भी अरिहन्त त्रिलोक के नाथ ने श्रुतज्ञान से प्ररूपणा की है - ऐसा धवल में (आता) है। केवलज्ञान से किस प्रकार कहना? आहा...हा...! क्या कहा? भाई!

धवल में पाठ है कि भगवान तीन लोक के नाथ ने श्रुतज्ञान द्वारा प्ररूपणा की—ऐसा धवल में पाठ है। क्यों? कि सुननेवाले को वह निमित्त होकर श्रुत होता है, इसलिए यहाँ श्रुत द्वारा कहा है - ऐसा आता है। केवलज्ञान से क्या कहना? नय और प्रमाण से ज्ञात हो—ऐसा है, वह तो श्रुतज्ञान से ज्ञात हुआ। अरे! परमात्मा को श्रुतज्ञान नहीं, तथापि धवल में भगवान का पाठ ऐसा है। तीन लोक के नाथ को केवलज्ञान हुआ, स्व के आश्रय से पूर्णानन्द की प्राप्ति हुई, उन्होंने श्रुतज्ञान द्वारा जगत को उपदेश किया। केवलज्ञान द्वारा उपदेश किया-ऐसा पाठ नहीं। आहा...हा...! ऐसा क्यों कहा? क्योंकि सुननेवाले को श्रुतज्ञान प्रगट होता है। इसलिए उनकी वाणी-भगवान की वाणी श्रुतज्ञानस्वरूप कहने में आयी है। आहा...हा...! नहीं तो (वह है) तो ओम ध्वनि परन्तु वह श्रुतज्ञानस्वरूप है। समझ में आया?

**ओमकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारै;**
**रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारै।**

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा का ओम ध्वनि द्वारा उपदेश निकला। उन्हें कहीं ऐसी वाणी नहीं होती, क्योंकि वीतराग एकस्वरूप प्रभु हो गये; इसलिए उनकी वाणी एकाक्षरी होती है। एकस्वरूप हो गये की वाणी एकाक्षरी ओमध्वनि होती है। पूरे शरीर में से निकलती है, होंठ हिलते नहीं, कण्ठ हिलता नहीं और ओमध्वनि निकलती है। आहा...हा...! बातें-बातें फेर। यह ओमकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारै। देखो! वहाँ श्रुतज्ञान हुआ है। उसे-सुननेवाले को स्व के आश्रय से श्रुतज्ञान प्रगट होता है, हों! कान से नहीं। उसे अन्दर से द्रव्य के आश्रय से श्रुतज्ञान प्रगट होता है और बारह अंग की रचना गणधर, सन्त करते हैं। उस आगम की रचना सुनकर भविक जीव संशय निवारै। भव्य जीव-लायक प्राणी हैं, वे मिथ्यात्व का अभाव करते हैं - ऐसा कहते हैं। संशय निवारे, यह नास्ति से बात की है क्योंकि अनादि का मिथ्यात्व में है न वह? वह चीज़ है, उसका पता नहीं;

इसलिए मिथ्यात्व को निवारे—ऐसी वहाँ से बात की है। आहा...हा...! बात बहुत (कठिन), भाई! जैनधर्म कोई अलौकिक चीज़ है, उसे लौकिक जैसा कर डाला है। आहा...हा...! यह व्रत पालो और उपवास करो, भक्ति करो और मन्दिर बनाओ, और दस लाख का दान दो। यह सब तो राग की क्रियायें हैं और देने आदि की क्रिया तो जड़ की है। उसमें प्रभु आत्मा कहाँ आया? उसमें आत्मा का आश्रय कहाँ आया? आहा...हा...! और आत्मा के आश्रय बिना सम्यग्दर्शन, ज्ञान प्रगट नहीं होते। पर्याय के आश्रय से, भेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहा...हा...! अरे! ऐसी बातें हैं। भाई! दूसरे को ऐसा लगे कि ऐसी बातें करके दूसरों को मिथ्या ठहराते हैं? बापू! उसके सुख के लिए बात है, भाई! आहा! उसके आत्मा के हित की बात है, प्रभु! वह अनादि से हैरान हो गया है, दुःखी है। आहा...हा...! उस आत्मा का कल्याण कैसे हो-ऐसे अभिप्राय से सन्तों की वाणी है। समझ में आया?

यह यहाँ कहा कि **अनन्त धर्मों में व्यापक ऐसे अनन्त नयों में व्याप्त होनेवाला...** अनन्त नयों में व्यापक होनेवाला, क्या? **एक श्रुतज्ञानस्वरूप...** आहा...हा...! श्रुतज्ञान जो भाव है, उसमें अनन्त नय हैं। श्रुतज्ञान है, वह अवयवी है और नय है, वह उसका अवयव है। अरे रे! अब ऐसी बातें! शरीर एक अवयवी है, उसके हाथ-पैर वे अवयव हैं; इसी प्रकार श्रुतज्ञान अवयवी है, उसके नय हैं, वह एक अवयव है। उन अनन्त नयों में व्यापक श्रुतज्ञान। आहा...हा...! अरे रे! उस श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण, भावश्रुतज्ञान, हों! द्रव्यश्रुत नहीं। आहा...हा...! वह पूछता है और जवाब यह देते हैं। आहा...हा...!

भाई! तू कितना है? उसने पूछा है कि मैं कौन हूँ? इसलिए फिर भाई ने अर्थ किया है, कितना है? आत्मा कितना है? 'केवडो' को हिन्दी में क्या कहते हैं? कैसा है? आहा...हा...! तो कहते हैं आत्मा ऐसा है। अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाला ऐसा आत्मा है। यह धर्म अर्थात् क्या? सम्यग्दर्शन की यहाँ बात नहीं है। उसमें उस प्रकार के धारे हुए भाव हैं, उस भाव को धर्म कहा गया है। राग को धारा है परन्तु वह रागरूपी एक धर्म है। धर्म अर्थात् भाव है। आहा...हा...! अरे प्रभु! तेरा मार्ग अलग, भाई! आहा...हा...! अरे रे!

भगवान तो ऐसा कहते हैं, आहा...हा...! पद्मनन्दि में एक लेख आता है। पद्मनन्दि आचार्य दिगम्बर सन्त महामुनि, जिन्हें एक भव में केवलज्ञान होने की

योग्यता लगभग है। पद्मनन्दिपंचविंशति (के रचनाकार) पद्मनन्दि मुनि हैं। उन्होंने ब्रह्मचर्य की व्याख्या की, ऐसी की, ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते... करते.... करते... प्रभु! तूने शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया, वह ब्रह्मचर्य नहीं। मन के विकल्प से ब्रह्मचर्य पालन किया, वह ब्रह्मचर्य नहीं। ब्रह्म अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, उसमें चर्या अर्थात् रमना, उसका नाम ब्रह्मचारी है। आहा...हा...! बहुत व्याख्या की। अन्तिम (अधिकार) है। पद्मनन्दिपंचविंशतिका कहलाती है (परन्तु) है २६ अधिकार। सब देखे हैं न, हजारों ग्रन्थ-शास्त्र देखे हैं। समयसार तो (संवत्) १९७८ से देखते हैं। कितने वर्ष हुए? ५७।

फिर आचार्य महाराज कहते हैं, प्रभु! हे जवानों! तुम्हें शरीर में सुन्दरता लगे, स्त्री सुन्दर लगे और उसमें यह मेरी बात सुनते हुए तुम्हें न रुचे तो प्रभु! माफ करना। आहा...हा...! भाई! मुनि आनन्द के नाथ, सागर (ऐसा कहते हैं), हम तुझे सत्य बात कहते हैं और वह बात (सुनते हुए) तुझे (ऐसा हो कि) यह क्या है? निश्चय... निश्चय... निश्चय... निश्चय... करके क्या करते हैं? भाई! तुझे न रुचे तो माफ करना प्रभु! मुझसे क्या आशा रखोगे? आहा...हा...! गजब करते हैं न! हम तो मुनि हैं, हम तो मोक्षमार्ग को बतानेवाले मोक्षमार्गी हैं, मोक्षमार्ग बतानेवाले हैं। तू हमसे दूसरी क्या आशा रखेगा, भाई!

**मुमुक्षु :** जिसकी दुकान पर जो माल बिकता हो, वही माल मिले।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** हलवाई की दुकान पर कहीं अफीम मिलेगी? अफीमवाला ऐसा कहे कि यहाँ क्यों अफीम नहीं रखा? बापू! हमारी दुकान तो यह है, तुम दुकान लगाकर बैठे और हमारे अफीम चाहिए तो तुम्हें रखना नहीं? भाई! हमारे पास यह नहीं, हमारे पास तो यह पकवान है, भाई! आहा...हा...! इसी प्रकार दिगम्बर सन्त तीन कषाय का अभाव करके अनुभव की दशा में झूलते हैं। अतीन्द्रिय प्रचुर आनन्द के स्वामी, अतीन्द्रिय प्रचुर आनन्द के अनुभवी को सन्त कहते हैं, वे दूसरे के पास ऐसी बात करते हुए (ऐसा कहते हैं कि) भाई! तुझे यह नहीं समझ में आये, नहीं रुचे (तो) प्रभु! मुझसे आशा मत रखना, माफ करना। भाई! आहा...हा...! भाई! मार्ग तो यह है। दूसरे प्रकार से किस प्रकार तू मानेगा? भाई! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं **एक श्रुतज्ञानस्वरूप....** समझे न? **अनन्त नयों में व्याप्त**

**होनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप...** भावश्रुत। उस **प्रमाण से निरूपण किया जाय...** अर्थात् जानने में आवे। 'निरूपण' शब्द लिया है। (उस श्रुतप्रमाण द्वारा) जानने में आवे तो **समस्तनदियों के जलसमूह के समवायात्मक (समुदायस्वरूप) एक समुद्र की भाँति,...** पूरा समुद्र हो, (उसमें) सब नदियाँ पड़ी हों परन्तु समुद्र तो एक है न? (पहले) दो नदी ली थी, वह नहीं, यह तो समस्त नदियाँ लीं, भाई! आहा...हा...! उसमें तो दो ही ली थी। यह तो सभी नदियाँ... गंगा और जमुना और जितनी सब नदियाँ (हों, वे सब ली है) आहा...हा...! अकेला समुद्र पूरा उछलता है, कहते हैं। आहा...हा...!

श्रुतज्ञान द्वारा अन्दर देखने पर... आहा...हा...! वह इस आँख द्वारा नहीं दिखता, इन इन्द्रियों द्वारा नहीं दिखता। आहा...हा...! इन्द्रियाँ तो इन्द्रियों को नहीं जानती। आँख, आँख कैसी है, यह जानती है? वह तो ऐसे (बाहर) देखती है। तो इन्द्रियों से ज्ञात हो - ऐसा नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें अब। फिर वे कहते हैं न, सोनगढ़वाले निश्चय की बातें करके निश्चयाभासी है। व्यवहार से लाभ हो, ऐसा अनेकान्त तो मानते नहीं। अरे! प्रभु! सुन न भाई! व्यवहार है अवश्य परन्तु उससे निश्चयधर्म हो, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है। आहा...हा...! उसके आश्रय से धर्म नहीं होता परन्तु त्रिलोक के नाथ भगवान आत्मा, अनन्तधर्म का समुदाय, ऐसी जो वस्तु और अनन्त नयों का समूह, ऐसा जो श्रुतज्ञान, उसके द्वारा आत्मा को अन्दर देखना। आहा...हा...! गजब बात की है! दिगम्बर मुनियों ने तो केवलज्ञान को खड़ा रखा है! आहा...! बात ऐसी है, भाई! आहा...हा...!

श्रुतज्ञान द्वारा सम्पूर्ण अनन्त धर्मों के एक समुद्र की तरह समस्त नदियों का एक समुद्र है, वैसे अनन्त धर्मों का एक। **अनन्त धर्मों को वस्तुरूप से पृथक् करना अशक्य....** है। जो अनन्त भाव हैं, उन्हें भिन्न करना अशक्य है। (ऐसा) **होने से आत्मद्रव्य मेचकस्वभाववाला,...** है। इसलिए वह भेदस्वभाववाला है। भिन्न-भिन्न हैं। तथापि **अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से...** आहा...हा...! भेदवाला होने पर भी, अनन्त धर्मों में, अनन्त भावों में व्याप्त होनेवाला एक धर्मी-एक ही वस्तु होने से **यथोक्त अनेकान्तात्मक (अनेक धर्मस्वरूप) है।** वह अनेक स्वरूप है। (पहले ऐसा आया कि) एक धर्म को देखकर द्रव्य को देखो तो आत्मा एक धर्मस्वरूप है। यह पूरे सबको देखने पर वह अनेकात्मक

स्वरूप है। यह क्या कहते हैं ? बनियों को समय नहीं मिलता। आहा...हा... ! भगवान ! तेरा अन्तर मार्ग कोई अलग प्रकार है, प्रभु ! आहा...हा... !

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा की (यह पुकार है)। वहाँ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। आहा...हा... ! संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के पास गये थे। भगवान विराजते हैं, पाँच सौ धनुष की देह है। आठ दिन रहे थे, भगवान की वाणी आठ दिन सुनी, कितने ही प्रश्न श्रुतकेवली से करके निर्णय किया; थे तो समकिती मुनि परन्तु विशेष निर्मलता हुई और यहाँ आये तथा ये शास्त्र बनाये। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! आहा...हा... ! श्वेताम्बर शास्त्र हैं, वे तो एक साधु ने कल्पित बनाये हैं, वह कहीं वीतराग की वाणी नहीं है। अर र ! कठोर लगे, प्रभु ! क्या हो ? मार्ग तो यह है, प्रभु !

कहते हैं कि अन्तर के जो अनन्त धर्म-भाव हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला जो द्रव्य और अनन्त नयों में व्याप्त होनेवाला जो भावश्रुत... आहा...हा... ! अनन्त भाव में व्याप्त होनेवाला जो द्रव्य और अनन्त नयों में व्याप्त होनेवाला जो श्रुतज्ञान; उस श्रुतज्ञान से अन्दर देखो तो अभेद भाव है। चैतन्यमात्र उसे देखने में आयेगा, कहते हैं। अरे रे ! ऐसी बातें हैं। तब इसे सम्यग्दर्शन होगा। आहा...हा... ! सम्यग् अर्थात् जितना द्रव्य है, उसकी जितनी ताकत है, उस अनन्त स्वभाव से भरपूर भगवान है, उसे यथार्थ श्रुतज्ञान द्वारा अन्दर देख तो देखे हुए की प्रतीति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। जाने बिना प्रतीति किसकी ? विश्वास करो, परन्तु किसका विश्वास ? जाना कि चीज़ यह है तो उसका विश्वास होता है। आहा...हा... ! ओहो... !

**एक समुद्र की भाँति, अनन्त धर्मों को वस्तुरूप से पृथक् करना अशक्य होने से आत्मद्रव्य मेचकस्वभाववाला,...** है, तथापि **अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से....** वे अनन्त धर्म हैं, परन्तु वस्तु एक है। **यथोक्त अनेकान्तात्मक...** है। आहा...हा... ! उसे श्रुतज्ञान द्वारा.... आहा...हा... ! एक-एक धर्म को एक नय द्वारा देखने पर भी, जाना तो अन्दर में है और श्रुतज्ञान द्वारा-प्रमाण द्वारा देखे तो भी अन्दर में जाना है। आहा...हा... ! प्रमाण में तो वर्तमान पर्याय का भी ज्ञान आया, परन्तु प्रमाण में वह आया तो भी प्रमाण, द्रव्य में ढलता है, तब उसे राग का और पर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है। क्या कहा यह ?

जो श्रुतज्ञान है, भावश्रुतज्ञान, उससे द्रव्यस्वरूप जो भगवान पूर्णानन्द का

नाथ परमात्मा है, वह भगवानस्वरूप है, उसकी नजर पड़ने पर उसे प्रमाणज्ञान कहते हैं। प्रमाण में द्रव्य का स्वभाव है, उसका ज्ञान हुआ और पर्याय में जितने भाव हैं, उनका भी ज्ञान हुआ, परन्तु उस द्रव्य का ज्ञान हुआ, तब पर्याय का ज्ञान यथार्थ हुआ। आहा...हा...! समझ में आया? कठिन बात, भाषा जरा ऐसी है। ऐसा मार्ग है, भाई!

कहते हैं कि अनन्त स्वभाव उसकी पर्याय के, गुण के द्रव्य के भाव अनन्त-अनन्त हैं, उन अनन्त धर्मों में व्यापक एक द्रव्य है। ऐसे एक-एक धर्म को देखनेवाला एक ज्ञान का अंश, उस एक-एक धर्म को देखकर भी, अनन्त धर्मवाला तत्त्व है, उसे देखना है और अनन्त नयों से व्याप्त ऐसा जो भावश्रुतज्ञान, उस भावश्रुतज्ञान द्वारा भी अन्दर देखना है। प्रमाण में पर्याय का ज्ञान होता है परन्तु अन्दर देखने पर उसे द्रव्य का ज्ञान यथार्थ हो, तब पर्याय का ज्ञान यथार्थ होता है। आहा...हा...! गजब बात की है न! सन्त-दिगम्बर मुनियों ने तो गजब कर दिया है! संसार का भुक्का उड़ा दिया है! आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** ऐसे तो दिगम्बर मुनि दिखते नहीं।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह दिगम्बर मुनियों का पुकार है। अभी तो क्या कहें? प्रभु! अरे! अभी तो मुनि नाम धराकर ऐसी बात करते हैं कि अभी तो शुभयोग ही होता है—शुभ उपयोग ही होता है। क्रिया करे न यह, यह क्रिया भी दया, दान और व्रत की साधारण (क्रिया)। अभी शुभयोग ही होता है, ऐसा शुद्धधर्म और शुद्ध की प्रतीति और ऐसा अभी होता ही नहीं - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! अरे रे! समाचार-पत्र में आया है। (वे कहते हैं) सब साधु शुभभाववाले ही हैं, इससे आगे शुद्ध की श्रद्धा ज्ञान (वाले कोई नहीं) और शुभभाव ही अभी तो धर्म है। अर र! शुभभाव एक भाव का-एक नय का अंश है, उसे जाननेवाला है। आहा...हा...! तथापि उसे देखकर भी फिर अन्तर में जाना है, यह बात तो रही नहीं। आहा! क्या हो?

ऋषभदेव भगवान के समय में चार हजार साधुओं ने साथ में दीक्षा ली थी। भगवान तो चार ज्ञान के धनी! छह महीने तक आहार नहीं मिला तो भी आनन्द में लहर है! चार हजार मित्र थे, इसलिए (दीक्षा ले ली परन्तु) सहन-शक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन नहीं, इसलिए फिर अलग-अलग वेश पहनने लगे। आहा!

ऊपर से देव का प्रहार आया, देखो! इस वेश में रहकर दूसरे प्रकार से तुम्हारे लिये खाने का इत्यादि का बने तो छोड़ दो यह वेश! उस समय तो काल ऐसा (था तो) विपरीत करनेवालों को देवों ने रोका। अभी कौन रोके? प्रभु! आहा...हा...! चोर कोतवाल को दण्डे ऐसा है। ए...! सोनगढ़ की बातें एकान्त है... एकान्त है - ऐसी पुकार करते हैं न? बापू! भाई! यह पुकार कर, बापू! भाई! तुझे पता नहीं। आहा...हा...! यह तो भगवान की बात है। आहा...हा...!

त्रिलोक के नाथ जिनेश्वरदेव के पास गये थे, वहाँ से अन्तर से ज्ञान तो था परन्तु विशेष निर्बल हुआ, इसलिए भगवान कुन्दकुन्दाचार्य... आहा...हा...! मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो-तीसरे नम्बर में आये, गणधर के पश्चात् ये आये। जैनधर्मोस्तु मंगलम्। आहा...हा...! उन कुन्दकुन्दाचार्य की यह वाणी है। उनकी टीका करनेवाले ने भी उसको स्पष्ट किया है, भाई! तुझे कठिन लगे तो बारम्बार उसका विचार करना। आहा...हा...! समझ में आया? प्रभु! तेरे हित के पंथ की बात है न! तू सुखी कैसे हो? और आनन्द का स्वभाव तुझे पूर्ण कैसे प्रगट हो? उसकी यह बात है, प्रभु! आहा...हा...! तुझे न समझ में आये, इसलिए तुझे ऐसा नहीं लगना चाहिए कि यह वस्तु ऐसी कैसी है? यह क्या है? समझने के लिए प्रयत्न करना। आहा...हा...!

कोष्ठक में है न? **जैसे-एक समय नदी के जल को जाननेवाले...** एक समय में एक नदी के जल को जाननेवाले **ज्ञानांश से देखा जाय तो समुद्र एक नदी के जलस्वरूप ज्ञात होता है,....** एक धर्म से पूरा समुद्र ज्ञात होता है। **उसी प्रकार एक समय एक धर्म को जाननेवाले....** स्व से है, पर से नहीं - ऐसा कोई भी एक धर्म। **एक नय से देखा जाय तो आत्मा एक धर्म स्वरूप ज्ञात होता है;....** एक धर्म स्वरूप भी है। आहा...हा...! धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन यहाँ (यह बात) नहीं। इसमें पर्याय में रागादि, अस्तित्वादि, वस्तुत्वादि जो स्वभाव है, उन्हें यहाँ धर्म अर्थात् भाव कहा गया है। है?

**परन्तु जैसे एक ही साथ सर्व नदियों के जल को जाननेवाले ज्ञान से देखा जाय तो समुद्र सर्व नदियों के जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक ही साथ सर्व धर्मों को जाननेवाले प्रमाण से देखा जाय....** पहले नय से देखने का (कहा) था। एक नदी के पानी से देखने पर भी पूरा समुद्र दिखायी दिया।

अब पूरी सब नदियों के पानी से पूरे समुद्र को देखा जाता है। आहा...हा...! **एक ही साथ सर्व धर्मों को जाननेवाले प्रमाण से देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है।** आहा...हा...! गजब, अमृतचन्द्राचार्य टीका करनेवाले ने भी गजब काम किया है! आहा...हा...! लट-लट में जैसे तेल पूरते हैं न! ऐसा नहीं कहते? लट-लट में तो फिर दो-पाँच बाल इकट्ठे हों। यह तो एक-एक बाल में (तेल डाला है)। लट अर्थात् उसमें दो-पाँच-दस बाल शामिल हों, यह तो एक-एक बाल में! आहा...हा...!

**प्रमाण से देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है। इस प्रकार एक नय से देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है....** एक धर्म से देखने पर एक स्वरूप है (और) **प्रमाण से देखने पर अनेकान्तात्मक है।** आहा...हा...! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो जो हो वह आयेगा। उसमें चाहे जितनी हल्की (सरल) भाषा करे परन्तु भाव तो होगा वह आयेगा न? आहा...!

अब इसी आशय को काव्य द्वारा कहकर, आत्मा कैसा है—इस विषयक कथन पूरा किया जाता है। है? कैसा है यह पूछा था। अनन्त धर्म में व्यापक है—ऐसा बताया, वह कथन पूरा होता है। यह विशेष आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## मुनिराज और सर्वज्ञ में भेद नहीं

मुनिराज इस प्रकार परिणमित हो गये हैं, **मानो वीतरागता की मूर्ति हों! राग-द्वेष के अंशरहित मात्र वीतरागता की मूर्ति हैं मुनिराज!** मुनि को तो तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है, उन मुनिराज को शान्ति का सागर उछलता है। भगवान आत्मा स्वभाव से वीतरागमूर्ति है और **मुनिराज तो पर्याय में वीतराग की मूर्ति हैं।** श्री नियमसार के कलश में तो कहा है कि अरेरे! हम जड़मति हैं कि मुनिराज में और सर्वज्ञ में भेद मानते हैं। **अहाहा! मुनिराज तो मानों साक्षात् वीतराग की मूर्ति हों, इस प्रकार परिणमित हो गये हैं; उन्हें मुनि कहते हैं।**

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, ८९२, पृष्ठ २०४*

## श्लोक-१९

**स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः**
**पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि।**
**पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्म-**
**स्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः।।१९।।**

**इत्यभिहितमात्मद्रव्यमिदानीमेतदवाप्तिप्रकारोऽभिधीयते-अस्य तावदात्मनो नित्यमेवानादिपौद्गलिककर्मनिमित्तमोहभावनानुभावघूर्णितात्मवृत्तितया तोयाकरस्येवात्मन्येव क्षुभ्यतः क्रमप्रवृत्ताभिरनन्ताभिर्ज्ञप्तिव्यक्तिभिः परिवर्तमानस्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बहिरर्थव्यक्तिषु प्रवृत्तमैत्रीकस्य शिथिलितात्मविवेकतयात्यन्तबहिर्मुखस्य पुनः पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैत-मनुवर्तमानस्य दूरत एवात्मावाप्तिः। अथ सदा त्वयमेव प्रचण्डकर्मकाण्डोच्चण्डीकृता-खण्डज्ञानकाण्डत्वेनानादिपौद्गलिककर्मनिर्मितस्य मोहस्य वध्यघातकविभागज्ञानपूर्वकविभागकरणात् केवलात्मभावानुभावनिश्चलीकृतवृत्तितया तोयाकर इवात्मन्येवातिनिष्प्रकम्पस्तिष्ठन् युगपदेव व्याप्यानन्ता ज्ञप्तिव्यक्तीरवकाशाभावान्न जातु विवर्तते, तदास्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बहिरर्थव्यक्तिषु न नाम मैत्री प्रवर्तते; ततः सुप्रतिष्ठितात्मविवेकतयात्यन्तमन्तर्मुखीभूतः पौद्गलिककर्मनि-र्मापकरागद्वेषद्वैतानुवृत्तिदूरीभूतो दूरत एवाननुभूतपूर्वमपूर्वज्ञानानन्दस्वभावं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति। अवाप्नोत्येव ज्ञानानन्दात्मानं जगदपि परमात्मानमिति।**

---

अब इसी आशय को काव्य द्वारा कहकर ''आत्मा कैसा है'' इस विषय का कथन समाप्त किया जाता है :]

**[ अर्थ : ]** इस प्रकार स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से (जीव) देखें तो भी और प्रमाण से देखें तो भी स्पष्ट अनन्त धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।

इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया। अब उसकी प्राप्ति का प्रकार कहा जाता है:—

प्रथम तो, अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका निमित्त है, ऐसी मोहभावना के (मोह के अनुभव के) प्रभाव से आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है, इसलिए यह आत्मा समुद्र की भाँति अपने में ही क्षुब्ध होता हुआ क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त [१]ज्ञप्तिव्यक्तियों से परिवर्तन को प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसकी मैत्री प्रवर्तती है, इसलिए आत्मविवेक शिथिल हुआ होने से अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह पुनः पौद्गलिक कर्म के रचयिता रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है और इसलिए उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है। परन्तु अब जब यही आत्मा प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकाण्ड को प्रचण्ड करने से अनादि-पौद्गलिक-कर्मरचित मोह को [२]वध्य-घातक के विभागज्ञानपूर्वक विभक्त करने से (स्वयं) केवल आत्मभावना के [आत्मानुभव के] प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से समुद्र की भाँति अपने में ही अति निष्कम्प रहता हुआ एक साथ ही अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों में व्याप्त होकर अवकाश के अभाव के कारण सर्वथा विवर्तन [परिवर्तन] को प्राप्त नहीं होता, तब ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं, ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसे वास्तव में मैत्री नहीं प्रवर्तती और इसलिए आत्मविवेक सुप्रतिष्ठित [सुस्थित] हुआ होने के कारण अत्यन्त अन्तर्मुख हुआ ऐसा यह आत्मा, पौद्गलिक कर्मों के रचयिता राग-द्वेषद्वैतरूप परिणति से दूर होता हुआ, पूर्व में अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्मा को आत्यन्तिकरूप से ही प्राप्त करता है। जगत भी ज्ञानानन्दात्मक परमात्मा को अवश्य प्राप्त करो।

---

**१. व्यक्तियों=प्रगटताओं; विशेषों। [बाह्यपदार्थविशेष ज्ञप्तिविशेषों के निमित्त होने से ज्ञेयभूत हैं।]**

**२. आत्मा वध्य (हनन योग्य) है और मोह घातक (हननेवाला) है।**

**प्रवचन नं. २७२, श्लोक-१९**
**भाद्र कृष्ण १०, शनिवार, १५ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, १९ कलश है। है न?

**स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः**
**पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि।**
**पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्म-**
**स्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः।।१९।।**

**इस प्रकार स्यात्कारश्री ( स्यात्काररूपी लक्ष्मी ) के निवास....** अर्थात् कथंचित् राग भी है, कथंचित् गुण भी त्रिकाल है, स्वपने भी है, परपने नहीं-ऐसे स्यात्कार अर्थात् अपेक्षा से जो ज्ञान है, उस स्यात्काररूपी लक्ष्मी (अर्थात्) भगवान का मार्ग इस प्रकार से अनेकान्त है। एकान्त शुद्ध ही है, एकान्त अशुद्ध ही है, एकान्त स्वपने ही है, एकान्त परपने नहीं - ऐसा एकान्त नहीं है। स्वपने है, परपने नहीं, रागपने भी है और शुद्धस्वभावपने भी है। आहा...हा...! नय का विषय जरा सूक्ष्म है।

स्यात्कार अर्थात् अपेक्षा से कहना **( स्यात्काररूपी लक्ष्मी ) के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से....** यह पर्याय में राग है, स्वपने अस्ति, परपने नास्ति, राग का कर्ता है, राग का अकर्ता है, राग का भोक्ता है, राग का अभोक्ता है। ऐसी जो नय की लक्ष्मी... आहा...हा...! उसके द्वारा, उसे **वर्तते नयसमूहों से ( जीव ) देखें...** आहा...हा...! **तो भी और प्रमाण से देखें तो भी....** नयसमूह द्वारा देखे, एक-एक नय से देखे या नयसमूह द्वारा देखे या प्रमाण द्वारा देखे। द्रव्य और पर्याय दोनों को जाननेवाला श्रुतप्रमाण, उस द्वारा देखे... आहा...हा...! तो **स्पष्ट अनन्त धर्मोंवाले...** प्रगट अनन्त भाव को धरनेवाले धर्मोंवाला **निज आत्मद्रव्य....** अपना आत्मद्रव्यस्वरूप त्रिकाली... आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म।

एक ओर राग का कर्ता भी जानना तथा एक ओर राग का अकर्ता भी

जानना-ऐसा नय है। एक ओर राग का भोक्ता भी जानना... वे आनेवाले हैं न? सरदारशहरवाले। आज नहीं आये, तार आया है, मंगलवार को आयेंगे। ...एक ओर राग का भोक्ता भी जानना। आहा...हा...! तथा एक ओर राग का अभोक्ता भी जानना, वह नय है। ज्ञानांश द्वारा एक-एक नय को जानने पर, एक-एक धर्म को जानने पर पूरी चीज़ भगवान निज आत्मद्रव्य की देखे, अन्तर्मुख दृष्टि करे या प्रमाण द्वारा देखे और अन्तर्मुख दृष्टि करे तो निज आत्मद्रव्य... भगवान का आत्मद्रव्य-ऐसा नहीं। निज आत्मद्रव्य। बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! आहा...हा...!

जिसमें अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ है। आहा...हा...! अन्तर्मुख झुकना, चाहे जितने नयों के प्रकार कहे, उन्हें जानकर भी अन्तर्मुख देखना। आहा...हा...! प्रमाण द्वारा भी अन्तर्मुख झुकना और नय द्वारा भी अन्तर्मुख झुकना। आहा...हा...! ऐसा बहुत सूक्ष्म विषय है। ऐसा निज आत्मद्रव्य, उसे **भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।** आहा...हा...! अन्तर प्रभु अनेक नय-धर्म धारक ऐसा भगवान, अनन्त नयों के धर्म में व्यापक भगवान को नय से देखे तो भी अन्दर देखना है। आहा...हा...! नय से देखकर भी अन्दर देखना है और प्रमाण से देखे तो भी अन्दर में देखना है। आहा...हा...! प्रमाण अर्थात् द्रव्य और पर्याय दोनों को जाने। ऐसे द्वारा भी देखना तो अन्दर है। आहा...! सूक्ष्म विषय है, भाई!

परद्रव्य इसे नुकसान करनेवाला नहीं। यह अभी कहेंगे। यह अपनी ज्ञप्तिशक्ति की व्यक्तता में वह तो निमित्त है। परद्रव्य, आत्मा को नुकसान करनेवाला नहीं। आहा...हा...! तथा परद्रव्य, आत्मा को लाभ करता नहीं। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** बाजार में भाव घट जाये तो नुकसान तो होता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** भाव किसका घटे? भाव किसे कहना? जो चीज़ है, उसका भाव / स्वरूप तो उसमें है। एक बार कहा था। एक बार प्रश्न किया था न? सोना का भाव क्या है? तो कोई कहे कि पाँच सौ रुपये तोला और अमुक, यह सोने का भाव कहलाता है? सोने का भाव तो चिकनाहट, पीलापन, वजन, वह उसका भाव है। यह तो लोगों ने कल्पित भाव है। पच्चीस रुपये का तोला था, बारह रुपये का आधा तोला था हमारे समय में। बारह रुपये का आधा तोला। चौबीस रुपये का तोला। अभी कितना हो गया? चौदह सौ रुपये का तोला! उस समय चौबीस रुपया

था। उसका भाव बढ़ा या कल्पित भाव है, वह बढ़ा। यह तो कल्पित भाव है। उसका-सोने का भाव तो पीलापन, चिकनापन, वजन तो कायम है, उसमें कोई घट-बढ़ है नहीं। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** आपकी दुकान ही अलग प्रकार की है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** वस्तुस्थिति ऐसी है। आहा...हा...!

इसी प्रकार आत्मा का भाव, वह क्या? आत्मा का भाव तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदि वह आत्मा का भाव है। उसका भाव बढ़ता-घटता है? वह बढ़े-घटे ऐसी मान्यता जो है, कि राग से मेरी दशा घट गयी और वीतरागता से मेरी दशा बढ़े - ऐसा है नहीं। वस्तु ऐसी नहीं है। यह अन्तर में दृष्टि करे, तब शान्ति की वृद्धि हो और बाहर की दृष्टि रखे तो मिथ्यादृष्टि—अंश में मिथ्यादृष्टि हो जाये। आहा...हा...! यह इसका (भाव) है।

पर्याय में राग है, वह भी इसका भाव है और द्रव्य में त्रिकाली स्वभाव है, वह भी इसका एक भाव है। वह पर्याय का भाव है, यह शक्ति-गुण भाव है। आहा...हा...! सूक्ष्म बातें बहुत, भाई! आहा...हा...! सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या? आहा...हा...! जिसमें एक-एक धर्म को जाननेवाला एक-एक नय, उस नय के समूह द्वारा देखना तो अन्दर में द्रव्य चैतन्यमात्र देखता ही है। उसे समकित और उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आहा...हा...! बाकी पढ़ गया ग्यारह अंग और शास्त्र पढ़ा, इसलिए ज्ञानी है - ऐसा है नहीं। आहा...! बहुत सूक्ष्म, बापू! आहा...हा...! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि हमने जो सैंतालीस नय कहे, ऐसे अनन्त नय हैं। इसके गुण और पर्याय के स्वभाव की अनन्ता है। वे अनन्त नय के एक-एक धर्म को देखे तो भी देखकर अन्तर में चैतन्यद्रव्य पर जाना है। आहा...हा...! जहाँ चैतन्यद्रव्य त्रिकाली **निज आत्मद्रव्य को भीतर में...** अन्दर में; पर्याय में नहीं, द्रव्य में। आहा...हा...! अरे! ऐसी बातें हैं। मार्ग यह है। आहा...हा...! परन्तु अब क्या हो? अभी मार्ग बिखर गया है। अब इसे इस प्रकार से कहना कठिन पड़े। वस्तु की स्थिति ऐसी है, भाई! आहा...हा...!

पर के कारण विकार हुआ है — ऐसा नहीं है और पर के कारण आत्मा में शान्ति मिले - ऐसा नहीं है। स्व के कारण राग होता है; और स्व के कारण लाभ होता

है। आहा...हा...! यह लाभ स्व के कारण कब होता है? कि जो ये ४७ नय हैं, उन्हें एक-एक नय को-एक-एक धर्म को जानने पर... आहा...हा...! यह तो अकेला ज्ञान का विषय है, प्रभु! आहा...हा...! इसमें क्रियाकाण्ड का राग है, व्यवहार का राग है परन्तु वह एक नय का विषय है, वह एक भाव है। ऐसे अनन्त भाव आत्मा ने धार रखे हैं। इसलिए राग के कारण अन्तर में जा सकता है - ऐसा नहीं है तथा राग के कारण निश्चय होता है — ऐसा नहीं है परन्तु राग है, उसका ज्ञान करके, लक्ष्य में लेकर अन्तर में जाये, तब उसे अन्तर में निज आत्मद्रव्य **चैतन्यमात्र देखता ही हैं।** आहा...हा....! अरे रे! ऐसी बातें। पहले इसकी श्रद्धा में तो सुधार करे। आहा...हा...! कि राग से मुझे लाभ होगा, पर्यायबुद्धि से मुझे धर्म होगा—ऐसी जो बुद्धि है वह मिथ्यात्व है। आहा...हा...! इसे अभी श्रद्धा से सुधारे तो सही, कि मार्ग तो यह है। आहा...हा...! यह स्यात्कार। बहुत गजब बात!

अमृतचन्द्राचार्य हजार वर्ष पहले (हुए) परन्तु केवली का विरह भुलावे-ऐसी बातें की हैं। दिगम्बर सन्त, ऐसे झूलते, चलते सिद्ध थे। यहाँ भरतक्षेत्र में थे। आहा...हा...! वे आनन्द में झूलते (थे)। अतीन्द्रिय आनन्द में, प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में झूलते थे। आहा...! वे ऐसा कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन! भगवन्त! तू भी भगवान है, प्रभु है, आत्मा है! मेरे साधर्मीरूप से प्रभु, तू भगवान है! आहा...हा...! तू वस्तु है, प्रभु! उसका सम्मान करना, सत्-मान करना, सत् स्वरूप जो प्रभु है, उसका मान करना, बहुमान करना। अन्तर्दृष्टि ले (जाकर) उसका बहुमान करना, यह आत्मा का सम्मान है। आहा...हा...! और राग में रुककर आत्मा का अनादर करना, वह आत्मा का असम्मान है, असत्मान है। आहा...हा...!

पहले परद्रव्य के प्रति ममता है, वह मैं नहीं-ऐसा करना और फिर परद्रव्य के प्रति जो ममता है, वह हेय है—ऐसा जानकर उपादेय की ओर झुकना, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! परद्रव्य के प्रति ममता है तो वह परद्रव्य मैं नहीं—ऐसा पहले (निर्णय) करना; फिर परद्रव्य के प्रति जो रागादि होते हैं, वह राग उपादेय नहीं; जाननेयोग्य है। नय से जाननेयोग्य है। आहा...हा...! व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, भाई! गजब किया है न! जहाँ-तहाँ कोई भी (बात) देखो! दिगम्बर शास्त्र कोई भी देखो, परन्तु पूर्वापर विरोध रहित बातें हैं, बापू! आहा...हा...!

ग्यारहवीं गाथा में ऐसा कहा '**ववहारोऽभूदत्थो**' प्रभु! जो पर्यायें हैं, वे सभी झूठी हैं अर्थात्? है नहीं, ऐसा नहीं है परन्तु उन्हें गौण करके, झूठा कहकर '**भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' भूतार्थ जो सत्यार्थ प्रभु त्रिकाल है, वह शुद्धनय है, वह वस्तु है। आहा...हा...! पर्याय नहीं, ऐसा नहीं है। तब तो वेदान्त हो जायेगा परन्तु पर्याय को गौण करके अभूतार्थ कहा है। बिल्कुल पर्याय है ही नहीं; तब तो सिद्ध भी पर्याय है, केवलज्ञान भी पर्याय है, निश्चय मोक्षमार्ग है, वह भी पर्याय है परन्तु पर्याय का लक्ष्य छुड़ाकर तथा द्रव्य त्रिकाली का (लक्ष्य कराया है)। उसका (पर्याय का) ज्ञान करना है। है, ऐसा। परन्तु इतना ही है-ऐसा लक्ष्य नहीं करके पूरा है। आहा...हा...!

सत् महाप्रभु पर दृष्टि करने से **निज आत्मद्रव्य को भीतर में....** अन्तरात्मा को अन्तर में **शुद्ध चैतन्यमात्र...** शुद्ध चैतन्यमात्र अर्थात् चैतन्य के साथ अनन्त गुण हैं परन्तु चैतन्यमात्र की मुख्यता की। शुद्ध गुणस्वभावमात्र देखता ही है। आहा...हा..! जगत को ऐसी बातें कठिन पड़े, क्या हो? अरे! भाई! सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की यह विधि है; इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन कदापि तीन काल तीन लोक में नहीं होता। तथापि यहाँ कहेंगे राग की मन्दता होती है और उससे छूटकर निश्चय में (जाता है), तथापि उससे होता है—ऐसा भी कथन आता है। आहा...हा...! परन्तु उससे होता है अर्थात् कब? कि राग है, उसे जानकर, उससे छूटकर अन्दर में जाये। आहा...हा...! जहाँ प्रभु पूर्ण विराजता है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, पूर्ण सत्साहेब है। वे 'कबीर' साहेब, साहेब करते हैं न? वह नहीं। आहा...हा...! यह साहेब, साहेब करते हैं, वह सिद्ध है, उसकी अपेक्षा भी आगे का साहेब है - ऐसा कहते हैं। यह एकान्त है। यहाँ तो सत् साहेब यहाँ रहता है। आहा!

भूतार्थ कहो या सत्यार्थ (कहो)। ११ वीं गाथा जैनदर्शन का प्राण है। ११ वीं गाथा जैनदर्शन, विश्वदर्शन का प्राण है। विश्व-दर्शन अर्थात् समस्त दर्शन-ऐसा नहीं। विश्व-दर्शन अर्थात् जैनस्वरूप है, वह विश्व को देखनेवाला है। समस्त पदार्थों को, अनन्त गुण, द्रव्य को देखनेवाला ऐसा जो विश्व-दर्शन, जैनदर्शन, वह जैनदर्शन की पर्याय है—ऐसा जानने पर भी, द्रव्यस्वभाव की ओर ढलना है। अरे! ऐसी बातें हैं। समझ में आया? आहा...हा...! यह तो मार्ग एकान्त ऐसा हो जाता है न, (ऐसा कहते हैं)। प्रभु! परन्तु मार्ग ऐसा ही है। वह अभी अन्दर कहेंगे

कि, कर्मकाण्ड से निश्चय ज्ञानकाण्ड प्राप्त होता है—ऐसा बाद में आयेगा। वह तो निमित्त का कथन है। आहा...हा...! व्यवहार होता है, इतना सिद्ध करने को यह बात की, परन्तु व्यवहार से होता है, वह तो व्यवहारनय का कथन है। आहा...हा...! अरे! क्या हो? सम्यग्ज्ञानदीपिका में इसका अर्थ नहीं किया। यह एक बोल निकाल दिया है। ऐसा कि कोई एकान्त न ले जाये, इतनी बात। यह तो एक ज्ञान कराने की बात की है। आहा...!

यहाँ कहते हैं कि इसकी पर्याय में राग की मन्दता हो, उसे जानकर, आत्मा अस्ति है, पर से नास्ति है—ऐसा जानकर, वह एक-एक नय का विषय हुआ। भगवान तो अनन्त नय के समूह से एकरूप वस्तु अन्दर है। आहा...हा...! अब ऐसा उपदेश। समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ यह कहते थे, वह सन्त जगत को कहते हैं। आहा...हा...! यह मार्ग वीतराग परमात्मा का है। ऐसा वीतराग परमात्मा प्रभु तू है! इसका स्वरूप ही वीतराग परमात्मा परमेश्वरस्वरूप है। ३८ गाथा में आया है न? अपने परमेश्वर को भूल गया है। जैसे दातून करते हुए दाँत का सोना हो, वह व्यवधान करता है (इसलिए) ऐसा निकालकर रखते हैं। ऐसे-ऐसे घिसना हो, (इसलिए निकालकर रखते हैं), भूल गया वापस कि कहाँ रखा है? वैसे ही भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु को भूल गया है—अपने परमेश्वर को भूल गया है। पर-परमेश्वर को तूने जाना और आदर किया। देव-गुरु-शास्त्र... सबेरे आया था न? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा तो अभव्य भी नौवें ग्रैवेयक गया, तब की थी। टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक में है। वह तो राग है। भगवान आत्मा निज परमात्मद्रव्य की अन्तर्मुख होकर प्रतीति कभी की ही नहीं। आहा...हा...! यह क्या कहा?

अपेक्षा से **निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से...** उसे नयसमूह से देखे। आहा...हा...! ये बातें कोई बातें नहीं, बापू! आहा...हा...! अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ है, नयसमूह से देखकर भी अन्दर में देख। प्रमाण से भले द्रव्य और पर्याय का ज्ञान कर, यह ज्ञान हो, परन्तु ज्ञान होकर, जिसमें पर्याय का निषेध होकर द्रव्य की दृष्टि होती है। नयचक्र में आता है न, भाई! निश्चय पूज्य है और प्रमाण पूज्य नहीं है-ऐसा आता है। प्रमाण में तो द्रव्य और पर्याय दोनों मिलते हैं; इसलिए वह पूज्य नहीं है - ऐसा कहा है। पूज्य तो निश्चय जो त्रिकाली ज्ञायकभाव

का आश्रय (ले वह) निश्चयनय पूज्य है। क्योंकि उसमें पर्याय का निषेध वर्तता है। आहा...हा...! पर्याय अर्थात् व्यवहार। व्यवहार का निषेध वर्तता है, वह निश्चयनय पूज्य है। व्यवहार और निश्चय का ज्ञान है, वह प्रमाण है। प्रमाण पूज्य नहीं, क्योंकि उसमें व्यवहार का निषेध नहीं होता। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** दो को...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** दो को जानता है, यह तो आ गया। जानता है इतना। जानता है परन्तु उसका निषेध नहीं होता। आहा...हा...! ऐसा मार्ग अब! बनियों को निवृत्ति नहीं मिलती। भाई! उस चूरे में पूरे दिन रुकता है, प्लास्टिक का चूरा, क्या कहलाता है वह? हमारे यह पालेज दुकानवाले पूरे दिन धन्धा... धन्धा... धन्धा... ये बड़ी दुकानें! बड़ी बोरियाँ भरी हों। (दूसरे मुसलमान की थी) ऐसी बड़ी दुकान! पैसावाला है न! फिर बड़ा व्यापार चलता है। आहा...! 'उपलेटा' में दुकान थी। 'पालेज' में दुकान थी। अभी एक मुसलमान आया था। (वह कहे) उपलेटा का हूँ। कहा, तेरा नाम हासम? तो कहे हाँ। कहा, हमारी पालेज में दुकान थी। बड़ी दुकान! फिर निकल गया, अभी तो नहीं है। गवर्नर की दुकान थी। बड़ोदरा का बोहरा था। यह लोटियाबोरा कहते हैं न? उसकी बड़ी दुकान थी। तब कण्ठ बहुत मीठा था, इसलिए अच्छा गायन बुलावे, आओ, आओ! कानजीभाई बोलो, बोलो, गायन बोलो। मुसलमान भी सुनते थे। क्योंकि दुकान थी न, यह मानो कि यह पिताजी की दुकान है, पिताजी गुजर गये, अब स्वयं (बैठता है)। दुकान में बुलावे, गायन बोलो। कण्ठ बहुत था न तब! यह तो ९१ हुए। आहा...हा...! उस दुकान का एक आया था। ऐसी उन लोगों की बड़ी दुकान है परन्तु उसे धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती।

यह वस्तु, प्रभु! यह व्यापार जिसने किया है, उसे उसमें पर्याय अर्थात् अवस्था में रागादि हो, शुद्धता का अंश भी हो, स्वपने अस्ति परपने नास्ति—ऐसा भी इसमें धर्म हो... आहा...हा...! परन्तु उसे लक्ष्य में लेकर अन्दर में जा। निज आत्मद्रव्य को देख। आहा...हा...! भगवान... भगवान क्या हो? इन्द्रों के समक्ष परमात्मा ऐसा कहते थे। इन्द्र एकावतारी, हों! पहले देवलोक का इन्द्र है न? एक भवतारी। एक भव में मोक्ष जानेवाला है, मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है। क्षायिक समकिती है, उसकी इन्द्राणी भी एक भव में मोक्ष जानेवाली है। सौधर्म देवलोक

में ३२ लाख विमान का स्वामी! एक-एक विमान में बहुतों में असंख्यात देव! परन्तु फिर भी वह समकिती है। कोई चीज़ मेरी है - ऐसा वह नहीं मानता। राग का विकल्प भी मेरा है - ऐसा वह नहीं मानता। आहा...हा...! तथापि बत्तीस लाख विमान और करोड़ों अप्सराएँ मेरी चीज़ नहीं। मैं जो हूँ, वह त्रिकाली आत्मा, आत्मद्रव्य हूँ। आहा...हा...! उसे इन्द्र के समक्ष में भगवान महाविदेह में तीन लोक के नाथ विराजते हैं। उसके समक्ष में परमात्मा ऐसा प्रवचन में कहते थे। वह यह प्रवचनसार है। प्र अर्थात् विशेष, वचन (अर्थात्) दिव्यध्वनि। दिव्यध्वनि-ओमध्वनि। ओमकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश भविकजीव संशय निवारे। आहा! मिथ्यात्व का अभाव करे। आगम के सुनने का आशय तो यह है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि अनन्त धर्मों में से (४७ कहे), उनके एक-एक धर्म को देखो तो भी अन्दर में जाना है। जिसका आधार, अधिष्ठाता भगवान है। आहा! **आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।** आहा...हा...! है? शुद्धचिद् का अर्थ अन्तः '**पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधम**' है न? '**एव**' है न? तीसरा पद है, '**पश्यन्त्येव**' प्रभु! तू प्रयत्न तो कर। आहा...हा...! अन्दर में देखने को '**पश्यन्त्येव**'। आहा...हा...! नयों के ज्ञान में न रूककर अन्दर चैतन्यभगवान को '**पश्यन्त्येव**' देखता ही है। भाषा ऐसी है न? '**पश्यन्त्येव**' देखता ही है। आहा...हा...! देखो, यह सन्तों की वाणी। आहा...हा...! जगत को खड़ा कर डाले, ऐसा है। खड़ा हो, खड़ा हो, जहाँ है वहाँ सोकर मत रह। आहा...हा...!

**इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया।** शिष्य का प्रश्न था न कि आत्मा कितना है? (तो कहा) वह इतना है। अनन्त धर्मों का अधिष्ठान, अनन्त धर्मों को जानकर भी अन्दर में जाना, इतना वह है। आहा...हा...! यह एक प्रश्न का उत्तर हुआ। **अब उसकी प्राप्ति का प्रकार कहा जाता है:...** उसमें आ तो गया है परन्तु उसे विशेष स्पष्ट (करते हैं)। ऐसे आत्मद्रव्य को कैसे प्राप्त किया जाये, किस प्रकार से प्राप्त किया जाये? किस विधि से प्राप्त किया जाये? उसका उपाय कहते हैं। आहा...हा...! है?

**प्रथम तो,...** आचार्य महाराज दिगम्बर सन्त अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि कहते हैं कि प्रभु! एक बार सुन! उसका क्या उपाय है, वह मैं तुझे कहता हूँ।

आहा...हा... ! **प्रथम तो, अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका निमित्त है, ऐसी मोहभावना के ( मोह के अनुभव के ) प्रभाव से....** आहा...हा... ! पौद्गलिककर्म तो जिसका निमित्त है, ऐसी मोहभावना अर्थात् मोह का अनुभव-मिथ्यात्व का अनुभव। आहा...हा... ! मोह अर्थात् मिथ्यात्व। आहा...हा... ! उसके अनुभव द्वारा **( मोह के अनुभव के ) प्रभाव से आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है,....** आहा...हा... ! आत्मा की पर्याय सदा घुमरी-चक्कर खाती है, स्थिर नहीं रहती। मिथ्यात्व के कारण चक्कर खाती है। आहा...हा... ! आत्म-परिणति मिथ्यात्व के प्रभाव के कारण सदा चक्कर खाती होने से... आहा...हा... ! जैसे वह क्या कहलाता है ? लट्टू ! भूल जाते हैं। वह लट्टू ऐसे जोर से डाले कि हिलता न हो ऐसा दिखे परन्तु चक्कर खाता है। लट्टू, लट्टू ! क्या कहलाता है ? गरियो... गरियो ! गुजराती भाषा। गरियो कहते थे। उस समय वह बहुत खेले हैं। गरियो (लट्टू) ऐसे जोर से ऐसे करे कि मानो हिलता नहीं। चक्कर बहुत खाता है परन्तु स्थिर लगता है और धीरे... धीरे... धीरे... होकर फिर डोलायमान लगता है। वैसे इस मिथ्यात्व के कारण ऐसा चक्कर खाता है, मानो चक्रवात में एकाकार पड़ गया है। आहा...हा... !

भगवान आत्मा पूर्णानन्द के नाथ का आश्रय लिये बिना... आहा...हा... ! चाहे तो वह क्रियाकाण्डी हो, दया, दान, व्रत का पालनेवाला (हो) परन्तु वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उससे धर्म मानता है। आहा...हा... ! वह मिथ्यादृष्टि **पौद्गलिक कर्म जिसका निमित्त है....** निमित्त है। उपादान तो तेरा स्वयं का है। उससे होता है-ऐसा नहीं, वह तो मात्र निमित्त है। **ऐसी मोहभावना के ( मोह के अनुभव के )....** मोह अर्थात् मिथ्यात्व। उसकी भावना अर्थात् अनुभव। अर्थात् **प्रभाव से...** अनुभव के प्रभाव द्वारा। आहा...हा... ! स्थिर होना (उसके) बदले पर्याय में चक्कर खाते मिथ्यात्व के कारण चक्कर (खाता है)। राग-द्वेष, पुण्य-पाप चक्कर में चढ़ गया है, कहते हैं। आहा...हा... ! शुभभाव में आवे इसलिए उसे लगता है (कि) कुछ शान्ति हुई परन्तु वह चक्कर में पड़ा है। तुझे स्थिर लगता है। आहा... ! वह चक्कर में है। आहा...हा... !

**आत्मपरिणति....** है ? आत्मा की दशा, मोहकर्म जिसका निमित्त है और मोहभाव का प्रभाव किया है अर्थात् मिथ्यात्व का अनुभव जिसे है... आहा...हा... ! उसके **प्रभाव से....** आत्म-अवस्था सदा ही चक्कर खाती है। आहा...हा... ! एक

क्षण भी स्थिर नहीं। पुण्य और पाप, पुण्य और पाप, पुण्य और पाप। पुण्य के-शुभभाव के भी असंख्य प्रकार, अशुभ के असंख्य प्रकार, इस चक्र में चक्कर खाता है। आहा...हा...! **चक्कर खाती है, इसलिए यह आत्मा समुद्र की भाँति अपने में ही क्षुब्ध होता हुआ....** यह क्षुब्ध होता है अपनी पर्याय में; कर्म में और पर में नहीं। आहा...! बहुत सूक्ष्म बातें, प्रभु! मार्ग कोई सूक्ष्म है, भाई! आहा...हा...!

**यह आत्मा, समुद्र की भाँति अपने में ही क्षुब्ध होता हुआ क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों...** क्या कहते हैं? ज्ञान की क्षयोपशम की अनेक प्रकार की प्रगट दशायें क्रम से प्रवर्तती। ज्ञान की व्यक्तता / प्रगटता क्रम-क्रम से वर्तती **अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों से परिवर्तन को प्राप्त होता है,...** इन राग और द्वेष को जाननेवाली ज्ञप्तिक्रिया भिन्न... भिन्न... भिन्न... भिन्न... ज्ञप्तिरूप से अन्दर चक्कर मारती है। आहा...हा...! भगवान आत्मा दल है, उसके ऊपर यह परिणति चक्कर मारती है। अब ऐसी बात! **अपने में ही क्षुब्ध होता हुआ क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों...** जानने की पर्याय की प्रगटता। चाहे तो ग्यारह अंग का ज्ञान किया हो, नौ पूर्व का लब्धज्ञान हो, उस प्रगट ज्ञप्ति की व्यक्ति में वहीं की वहीं चक्कर खाती है। आहा...हा...! समझ में आया? क्या कहा

यह आत्मा समुद्र की भाँति। समुद्र में क्षोभ होता है न? ऐसे तरंगें (होती हैं) ऐसे क्षुब्ध होता हुआ **क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों से...** अपने में। **परिवर्तन को प्राप्त होता है,...** वह ज्ञान की पर्याय की व्यक्तता और प्रगटता में क्रम-क्रम से फेरफार किया करता है, उसमें हुआ करता है। आहा...हा...! पर्यायबुद्धि है न! यहाँ तो ज्ञप्ति (अर्थात्) जानने की प्रगट दशाओं को यहाँ ज्ञप्तिक्रिया कहा है। यहाँ तो राग की (क्रिया भी) नहीं ली है। क्या कहा? भाई! जो आत्मा ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप प्रभु, उसकी ज्ञान की व्यक्तदशा जो क्रम से प्रवर्तती अनेक ज्ञप्तिक्रिया, जानने की क्रिया। आहा...हा...! राग की क्रिया तो भिन्न रह गयी। राग को जानती ज्ञान की व्यक्त पर्यायों (की बात है)। आहा...हा...! अरे! सन्तों ने करुणा करके जगत को उद्धार का मार्ग बताया है। आहा...हा...! कैसी शैली है? आहा...हा...! प्रभु! यह सूक्ष्म पड़े परन्तु तेरे हित की बात है। आहा...हा...!

अरे रे! अनन्त काल से जानने की क्रिया की व्यक्तता की पर्याय में अनन्त व्यक्ति-ज्ञप्ति-क्रियायें (हुई)। आहा...हा...! अनन्त-अनन्त ज्ञान की भिन्न-भिन्न

पर्याय की प्रगटता के द्वारा परिवर्तन पाती है, चक्कर खाती है। एक को जाने, दूसरे को जाने, तीसरे को जाने, चौथे को जाने परन्तु जाननेवाले को जानने गया नहीं। आहा...हा...! ज्ञानस्वरूपी भगवान त्रिकाल की पर्याय में ज्ञप्ति अर्थात् जानने की क्रियायें। **प्रवर्तमान अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों से परिवर्तन को प्राप्त होता है,...** अनन्त-अनन्त पदार्थ को जानने की ज्ञप्ति की अनन्त क्रियायें। आहा...हा...!

**इसलिए ज्ञप्तिव्यक्तिव्यों के निमित्तरूप....** क्या कहते हैं अब? यह जानने की प्रगटता जो है, ज्ञप्ति अर्थात् जानने की (क्रिया)। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट है) ***[ व्यक्तियों=प्रगटताओं पर्यायें; विशेषों। [ बाह्यपदार्थविशेष ज्ञप्तिविशेषों के निमित्त होने से ज्ञेयभूत हैं। ]*** क्या कहा? जानने की क्रियाओं की प्रगटता में निमित्तभूत होने से जो ज्ञेयभूत है। कौन? बाह्यपदार्थ? ऐसी बाह्यपदार्थ-व्यक्तियाँ। चाहे तो देव हो, गुरु हो या शास्त्र हो परन्तु वे सब बाह्यपदार्थ हैं। आहा...हा...! ज्ञान की पर्याय में क्रम-क्रम से जानने की क्रिया प्रगट होती व्यक्तता, उसमें बाह्यपदार्थ निमित्त हैं। हुई है स्वयं से परन्तु बाह्यपदार्थ व्यक्तियाँ **के प्रति उसकी मैत्री प्रवर्तती है,....** क्योंकि उसका लक्ष्य ही आत्मा पर नहीं। उसका-जानने की क्रिया का लक्ष्य पर के ऊपर है। सूक्ष्म बात है प्रभु! यह ऐसा मार्ग है। आहा...हा...! अरे रे! जानने की अनादि की ज्ञप्ति अर्थात् जानने की व्यक्तायें अनन्त-अनन्त है, कहते हैं। आहा...हा...! अपने निज के अतिरिक्त अनन्त पदार्थ हैं न? आहा...हा...! उन अनन्त पदार्थों को निमित्तरूप होकर ज्ञप्तिक्रियायें अपने में भिन्न-भिन्नरूप से प्रगट दशाएँ ज्ञान की वर्तती है। आहा...हा...!

**इसलिए ज्ञप्तिव्यक्तिव्यों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं....** वह तो ज्ञेयभूत है। अरिहन्त, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्य, अरे! आत्मा के अतिरिक्त सभी छह द्रव्य। आहा...हा...! है या नहीं इसमें? घर की-कल्पना की बात है यह? है तो घर की। आहा...हा...! प्रभु! तू कहाँ गोता खाता है? कहते हैं। जो जानने की प्रगट दशा में बाह्यपदार्थ निमित्तभूत हैं, उसमें उसे मैत्री वर्तती है। क्योंकि उससे मुझे ज्ञान हुआ, उससे मुझे ज्ञान हुआ (-ऐसा लगता है); इसलिए उसे बाह्य में प्रेम वर्तता है। आहा...हा...! तीन लोक के नाथ ऐसा कहते हैं कि मेरे प्रति तुझे ज्ञप्तिक्रिया में प्रेम वर्तता है, उसमें मैं तो निमित्त हूँ। आहा...हा...!

मोक्षपाहुड़ में १६ वीं गाथा में कहा है न? भगवान ऐसा कहते हैं कि **परदव्वादो दुग्गई** प्रभु! मैं तो तुझसे परद्रव्य हूँ, मुझ पर तेरा लक्ष्य जायेगा तो तुझे दुर्गति होगी, राग होगा; चैतन्य की गति नहीं होगी। आहा...हा...! ऐसी वाणी वीतराग कहे। मान के लोभी (ऐसा कहते हैं) हमें तुम मानो (तो) तुम्हें लाभ होगा। यहाँ तो तीन लोक के नाथ वीतराग पुकार करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य! मोक्षपाहुड़ में १६ वीं गाथा है। **परदव्वादो दुग्गई।** ज्ञप्ति क्रियायें प्रगट व्यक्तता में निमित्तभूत बाह्यपदार्थ है, उसमें इसे प्रेम वर्तता है, वह राग है और राग में एकताबुद्धि है वह मिथ्यात्वभाव है। आहा...हा...! गजब काम। कहो, भाई! इसमें निवृत्त कब हो? बाहर से पूरा निवृत्त होकर अन्दर में जाये तब (यह हो ऐसा है)।

यहाँ तो कहते हैं ज्ञान की अनेक प्रगट दशाएँ, उसमें निमित्तभूत बाह्यपदार्थ; इसलिए उसे बाह्यपदार्थ में मैत्री वर्तती है। यहाँ भगवान आत्मा में मैत्री वर्तना चाहिए। आहा...हा...! ज्ञानानन्द सहजात्म निजद्रव्य में प्रेम होना चाहिए, वात्सल्य वहाँ होना चाहिए। आहा...हा...! उसके बदले अज्ञानी अनादि से जानने की पर्याय में अनेक क्रियायें वर्तती है, उसमें निमित्तभूत बाह्यपदार्थ हैं; इसलिए उसमें उसे मैत्री वर्तती है। आहा...हा...! है?

**बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसकी मैत्री प्रवर्तती है,...** देव, इष्टदेव हैं, पंच परमेष्ठी-परम इष्ट देव है न? परन्तु कहते हैं कि यदि इष्ट तुझे वर्तता हो... वे भले परमेष्ठी हैं परन्तु तेरी ज्ञान की पर्याय में यदि परमेष्ठी के प्रति प्रेम वर्तता हो... आहा...हा...! तो तुझे उनके प्रति मैत्री है। तेरे आत्मा की मैत्री तूने छोड़ दी है। आहा...हा...! लोगों को बहुत कठिन पड़ता है। ग्यारह-ग्यारह अंग का ज्ञान करे, तो भी ज्ञप्ति-व्यक्ति परसन्मुख के प्रेमवाली है। आहा...हा...! उस ज्ञप्तिक्रिया में परपदार्थ निमित्त है; इसलिए उसमें उसे पर का प्रेम वर्तता है। आहा...हा...! मानो कि इन भगवान को मैंने देखा, इसलिए मुझे ज्ञान हुआ शास्त्र पढ़ा, इसलिए मुझे ज्ञान हुआ। आहा...हा...! गुरु को मैंने सुना, इसलिए मुझे ज्ञान हुआ। ऐसी बातें! सूक्ष्म बात बहुत, भाई!

**मुमुक्षु :** गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** ये बातें निमित्त से कथन है। आत्मद्रव्य बिना ज्ञान नहीं। यह आत्मा गुरु है 'समाधिशतक' में आता है न? समाधिशतक पुस्तक है न?

इष्टोपदेश आदि, जो पूज्यपादस्वामी ने (रचना की है)। आत्मा, आत्मा का गुरु है, प्रभु! आहा...हा...! आत्मा, आत्मा का देव है और आत्मा का धर्म अन्तर में है। आहा...हा...! ऐसा है। पहले तो अभी ऐसा सुनने को मिलता नहीं और दूसरा सुन-सुनकर कान फूटे हों... आहा...हा...! आता है न? 'कथा सांभली फूट्या कान तोय न आव्यु...' आता है। सुन-सुनकर कान फूटे, तो भी ब्रह्मज्ञान नहीं आया। अन्यमत में आता है।

कहते हैं, यहाँ पर्यायबुद्धि में पर्याय में ज्ञान की पर्याय की व्यक्तता जो क्षयोपशम है, उसकी अनेक प्रकार की प्रगटता है, यहाँ तो कहते हैं, अनन्त प्रकार की है। आहा...हा...! क्रम-क्रम से है। वह ज्ञप्तिक्रिया में निमित्त तो बाह्य पदार्थ है, इसलिए उसकी दृष्टि में बाह्य पदार्थ के प्रति प्रेम वर्तता है। आहा...हा...! नय का अधिकार अलौकिक रीति से वर्णन किया है! अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार की २७५ गाथाओं की टीका करके यह परिशिष्ट किया है। आहा...हा...! ऊपर कलश चढ़ाया। आहा...हा...! भाई! प्रभु! तू कहाँ है? प्रभु! तू कहाँ है? तेरी जानने की पर्याय में तू है, इतना? और जानने की अनन्त व्यक्तता में तो परद्रव्य निमित्त है, उसमें तेरा प्रेम है, प्रभु! तू कहाँ गया? खो गया। आहा...हा...! गजब बातें हैं, प्रभु! दिगम्बर धर्म कोई पक्ष नहीं, कोई बाड़ा नहीं, वस्तु का स्वरूप है। समझ में आया? आहा...हा...! क्या कहते हैं? गजब बात है, प्रभु!

तेरी पर्याय पर बुद्धि है और पर्याय में पर के अवलम्बनवाली अनेक प्रकार की ज्ञान की प्रगटतायें हैं। आहा! और इससे उसमें पर का निमित्त है, इसलिए तेरी दृष्टि वहाँ है, इसलिए तुझे निमित्त में प्रेम है, उसका मैत्रीभाव तुझे वर्तता है। आहा...हा...! ये मेरे गुरु और ये मेरे देव और ये मेरे शास्त्र। गजब करता है यह! समझ में आया? मेरा देव अन्दर भगवान है और गुरु मेरा भगवान अन्दर है। आहा...हा...! उसे न देखकर, न मानकर, उसकी जानने की क्रिया में परिवर्तन पाती दशा में भिन्न-भिन्न निमित्त होते हैं, उस निमित्त में इसका मैत्री वर्तती है, यह वहाँ रुक गया है, कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा सुनना कठिन पड़े। पहले तो क्या कहते हैं, यह समझना कठिन पड़े, सम्यग्दर्शन तो फिर बाद (की बात है)। आहा...हा...! भाई! ये तेरा मार्ग कोई अलग है, प्रभु!

भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, सत्चिदानन्द-त्रिकाल सत् ज्ञान और आनन्द का

कन्द प्रभु का लक्ष्य और आश्रय छोड़कर, इसने पर्याय में ज्ञान की व्यक्तता वर्तती है, उसमें वर्ता और उसमें बाह्यपदार्थ निमित्त होने से बाह्य में तुझे मैत्री वर्तती है। यहाँ से मैत्री छूट गयी। आहा...हा...! 'द्वेष अरोचकभाव' भगवान पूर्णानन्द का नाथ ध्रुव है, वह तुझे रुचे नहीं तो आनन्दघनजी कहते हैं कि तुझे प्रभु के प्रति-आत्मा के प्रति द्वेष है। आहा...हा...! और पर के प्रति तुझे राग है। यहाँ (आत्मा के प्रति) द्वेष है, यहाँ (पर में) राग है। आहा! सूक्ष्म बातें बहुत, भाई! क्या हो? मार्ग की विधि तो यह है। कठिन पड़े, सुनने को न मिली हो, इसलिए कुछ दूसरा लगे परन्तु है तो यह। इसे ऐसा करके ही छुटकारा होगा, बापू! बाकी बाहर के लोगों को रंजन करना और राग की क्रिया करके मानो हम धर्मी हैं (ऐसा मानना हो तो) मानो... मानो। आहा...हा...! आहा...हा...!

**ज्ञेयभूत हैं ऐसी....** कौन? जानने की ज्ञप्तिक्रिया है, उसमें ज्ञेयभूत जो परपदार्थ निमित्तरूप होने से सामनेवाली चीज़ ज्ञेयभूत है। **ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्ति....** बाह्यपदार्थ प्रगटरूप से। है न? बाह्यपदार्थ के प्रति **उसकी मैत्री प्रवर्तती है,...** आहा...हा...! **इसलिए आत्मविवेक शिथिल हुआ होने से....** आहा...हा...! आत्मा का विवेक शिथिल-विपरीत हो गया है। शिथिल का अर्थ विपरीत है। आहा...हा...! श्रीमद् में एक वाक्य आता है न? श्वेताम्बर की शिथिलता के कारण रस शिथिल होता गया, दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य कुछ समझा जा सकता है। श्रीमद् कहते हैं। दिगम्बर सन्तों के वचन सुनकर रहस्य कुछ समझा जा सकता है परन्तु श्वेताम्बर के वचनों की शिथिलता के कारण रस शिथिल होता गया। शिथिलता का अर्थ विपरीत हो गया। गजब बात, भाई! आहा...हा...! सूक्ष्म बात, बापू! क्या हो? आहा...हा...! कहो! ये सब श्वेताम्बर के सेठिया (थे)।

भगवान तो ऐसा कहते हैं कि, आहा...हा...! कि बाह्यपदार्थ के प्रति (तुझे मैत्री वर्तती है)। ज्ञानस्वभाव तो त्रिकाल है। पर्याय में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रगट दशाएँ होती हैं, उसमें निमित्त बाह्यपदार्थ हैं; इसलिए तुझे वहाँ मैत्री वर्तती है और आत्मविवेक शिथिल हो गया, विपरीत हो गया। आत्मा का विवेक जो आत्मा, पर्याय से भिन्न है, निमित्त से भिन्न है, वहाँ जाना चाहिए, वह विवेक विपरीत हो गया। शिथिल शब्द से (आशय) विपरीत हो गया। आहा...हा...! समझ में आया?

ऐसा सुनकर कितनों को ही ऐसा लगता है कि यह सब सोनगढ़ का तो एकान्त है। प्रभु! सुन न भाई! यह सोनगढ़ का नहीं। यह तो सन्तों ने कहा हुआ तत्त्व है। यहाँ से कहने में आया, इसलिए सोनगढ़ का हो गया? अरे! लोगों को ऐसा कहकर निन्दा में चढ़ जाते हैं। आहा! प्रभु! ऐसा न कर, भाई! यह तो परमात्मा तीन लोक के नाथ की यह वाणी है। आहा...हा...! प्रभु! तू त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है न! उसका तुझे विवेक नहीं रहा और ज्ञानस्वरूप में से जो पर्याय की व्यक्तता हुई, निमित्त के वश (होकर); उसमें निमित्त परपदार्थ है, उसमें तेरा प्रेम और मैत्री वर्तती है। इससे आत्मविवेक शिथिल हो गया। आत्मा को पर्याय से भिन्न करके जानना, वह विवेक विपरीत हो गया। आहा...! भेदज्ञान विपरीत हो गया, अभेद हो गया कहते हैं। आहा...हा...! यहाँ तो कुछ थोड़ा-बहुत जानपना आवे, दो-पाँच-दस हजार श्लोक आवे तो मानो हम हो गये ज्ञानी और हो गया ज्ञान! अरे भगवान! उसमें पाँच-पाँच दस हजार श्लोक (कण्ठस्थ हो), सम्प्रदाय में छह हजार श्लोक कण्ठस्थ थे। सम्प्रदाय में, हों! परन्तु वह तो धारणा में, वह वस्तु कहाँ है? आहा...हा...! और यह जाना, इसलिए मानो ओहो...हो...! हमने मानो कितना ही जाना और कितना ही धारा!

**मुमुक्षु :** मान तो मिलता है न!

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मान किसे कहना? बापू! दुनिया मान दे, वह मान क्या गिरवी रखे ऐसा है? आहा...हा...! 'लही भव्यता मोटूँ मान, कह्यो अभव्य त्रिभुवन अपमान।' तीन लोक के नाथ तीर्थंकर ऐसा कहें कि यह प्राणी भव्य और लायक है, अब इसे मान किसका चाहिए? समझ में आया? यह श्वेताम्बर में एक आनन्दघनजी हो गये हैं, उन्होंने ऐसा कहा है। 'लही भव्यता मोटूँ मान' जिसे तीन लोक के नाथ ने कहा कि यह जीव भव्य और योग्य तथा मोक्ष के लिए लायक है। आहा...हा...! अरे! परन्तु यह सुना है कब इसने? कहते हैं इसके अतिरिक्त तुझे मान किसका चाहिए? त्रिभुवन के नाथ ने ऐसा कहा कि यह नालायक है तो अब तुझे अपमान किसका चाहिए? आहा...हा...! समझ में आया? त्रिभुवन के नाथ ने कहा अर्थात् उनकी वाणी में जो आया, उससे तेरा तत्त्व विरुद्ध आया और तुझे कहा कि तुझमें विरोध है, वह अपमान है। आहा...! दुनिया भले मान दे, परन्तु तीन लोक के नाथ की वाणी का इसे वहाँ अपमान है। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह पुनः पौद्गलिक कर्म के रचयिता रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है....** लो! ज्ञान की प्रगट-व्यक्तता-दशाओं में बाह्यपदार्थ निमित्त हैं, उसमें मैत्री वर्तती है, इसलिए वह फिर से मिथ्यात्व को, राग-द्वेष को रचकर... आहा...हा...! **रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है और इसलिए उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है।** उसे आत्मा की प्राप्ति तो दूर है, प्रभु! आहा...हा...!

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

**प्रवचन नं. २७३, श्लोक-१९**

**भाद्र कृष्ण ११, रविवार, १६ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, **इसलिए उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है।** यहाँ तक आया है। क्या कहा यह? कि यह भगवान आत्मा कायम ज्ञानस्वभावी होने पर भी, इसकी पर्याय में-अवस्था में ज्ञान की ज्ञप्तिक्रिया-जानने का प्रकार अनेक प्रकार से है, उसमें इसे प्रेम है अथवा इस ज्ञप्तिक्रिया के निमित्त बाह्यपदार्थ हैं, इसलिए इसे बाह्यपदार्थों में प्रेम वर्तता है। आहा...हा...!

भाई ने तो उसमें एक ऐसा डाला है कि पैसा है, उसमें कोई रूप, रस नहीं, तथापि उसमें लोभ का आरोप किया है। आहा...हा...! स्त्री, दूसरी चीज़ें, मकान आदि में तो अमुक चीज़ देखने में है, पैसे में कोई रूप-रस नहीं (कि) इससे (उसे) देखकर उसका लोभ हो। आहा...हा...! यह उठावगीर लोक पैसे के लिये उठाते हैं। आहा...हा...! और उनने तो वहाँ तक कहा है कि यहाँ ज्ञप्तिक्रिया है, उसमें जो लोभ आवे तो पशु तो आहारमात्र पेट भरकर फिर बैठा रहता है, सन्तोष होता है, बैठकर जुगाली करता है और ये पैसे के लोभी पेट भरने पर भी इन्हें पेटी भरना है। आहा...हा...! ऐसा लिखा है। पशु तो पेट भरने जितना हो जाये फिर वृक्ष के नीचे बैठकर जुगाली करता है, फिर जहाँ-तहाँ खाने का झपट्टा नहीं मारता। नहीं तो आहारसंज्ञा उसे मुख्य है अवश्य? और मनुष्य को मैथुनसंज्ञा मुख्य है। आहा...! देव को लोभसंज्ञा मुख्य है और नारकी को भयसंज्ञा है। आहार, भय, भोग (मैथुन)... चार आती है न? आहा...हा...!

कहते हैं कि भगवान आत्मा की ज्ञान की पर्याय में अनेक प्रकार की ज्ञप्ति जानने की क्रियायें प्रवर्तती हैं और उस प्रवर्तने में निमित्त बाह्यपदार्थ हैं। उनके आश्रय से वह राग और द्वेष करता है। वस्तु के आश्रय से (करता है)। वस्तु से नहीं परन्तु वस्तु का आश्रय (करके राग-द्वेष करता है)। आता है न? वस्तु... वस्तु के आश्रय से अध्यवसाय होते हैं, परन्तु वस्तु से अध्यवसाय नहीं होते। उसके आश्रय से होते हैं परन्तु वस्तु बन्ध का कारण नहीं है। आहा...हा...! उसने बाह्यपदार्थ का प्रेम किया है। जानने की क्रिया में अन्दर जानना चाहिए भगवान आत्मा, जो पूर्ण सम्पदा से भरपूर भगवान, इस देह में प्रभु पूर्ण आनन्द, ज्ञान, शान्ति की लक्ष्मी से भरपूर है, प्रभु! उसे अन्दर देखना चाहिए, उसे न देखकर अनादि से ज्ञान में विकास की पर्याय जो क्षयोपशम की हुई, उसमें बाह्यपदार्थ निमित्त होने से उसे बाह्य में प्रेम वर्तता है। आहा...हा...! इसीलिए... आहा...हा...! आत्मविवेक शिथिल हुआ है। आत्मा का भेदज्ञान करना, वह विपरीत हो गया है। आहा...हा...! अरे! पशु देखो बेचारे! यहाँ से वापस मरकर कहाँ जायेंगे? कुछ पता है? पशु मरकर कहीं (चले जायें) आहा...हा...! इसे यह मनुष्यपना मिला हो, वह भी उनके जैसी दशा करे तो अन्तर क्या है? आहा...!

भगवान आत्मा ज्ञान की पर्याय में, ज्ञप्ति-जानने की क्रिया के परिणमन में बाह्यपदार्थ का प्रेम होने से उसकी इसे मैत्री वर्तती है। आहा...हा...! जिसकी मैत्री, ज्ञान की पर्याय में द्रव्य के साथ मैत्री वर्तना चाहिए; जिसकी पर्याय है, उसमें इसकी मैत्री वर्तना चाहिए। आहा...हा...! उसके बदले जिसकी पर्याय है, उसे बाह्य में मैत्री वर्तती है। आहा...हा...! देखो तो! जो जानने की पर्याय है, उसकी मैत्री तो द्रव्य के साथ में मेल खाये ऐसी है। आहा...हा...! ज्ञायकभाव में इसकी प्रीति और रुचि... निर्जरा अधिकार में आता है न? रुचि, सन्तोष, कल्याण। आहा...हा...! विषय बहुत कठिन, बापू!

कहते हैं कि इसकी वर्तमान जो ज्ञानदशा है, उस अज्ञानी को उस दशा में आत्मा की ओर झुकना नहीं रुचता। आहा...हा...! उस दशा में ज्ञान की पर्याय में परपदार्थ उसमें निमित्त हैं, इसलिए उनका प्रेम वर्तता है; इसलिए इसे राग और द्वेष में प्रवृत्ति होती है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** निमित्त हो वहाँ प्रेम होता है।

**पूज्य गुरुदेवश्री :** निमित्त में प्रेम होता है, यह तो प्रेम करता है, निमित्त तो ज्ञेय है परन्तु जानने की पर्याय में अन्तर ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसकी तरफ इसका झुकाव नहीं, इसलिए उस जानने की क्रिया में बाह्यपदार्थ निमित्त होने से उसमें इसकी मैत्री वर्तती है। आहा...हा...! और स्वभाव के प्रति इसे अरुचि वर्तती है अर्थात् स्वभाव के प्रति इसे क्रोध वर्तता है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

भगवान पूर्णानन्द का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसकी जिसे रुचि नहीं, अरुचि है और इन बाह्यपदार्थों की रुचि तथा प्रेम है, उसे आत्मा के प्रति द्वेष है। आहा...! 'द्वेष अरोचकभाव' भगवान पूर्णानन्द का नाथ रुचे नहीं और वर्तमान ज्ञान की पर्याय और राग तथा निमित्त रुचे... सूक्ष्म बात है, भाई!

भगवान जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा की वाणी यह है। प्रवचनसार है न? भगवान तीन लोक के नाथ सीमन्धरस्वामी भगवान बिराजते हैं। महाविदेह में प्रभु है, वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। मुनि-भावलिंगी सन्त थे, तथापि वहाँ गये थे। आहा...हा...! आठ दिन सुना, साक्षात् तीन लोक के नाथ की वाणी; और कोई शंका रही (तो वहाँ) श्रुतकेवली सन्त थे, वहाँ नग्न-दिगम्बर मुनि बिराजमान हैं। वहाँ यह धर्म है। आहा...हा...! उनके पास-श्रुतकेवलियों के पास समाधान किया और आकर ये शास्त्र बनाये। आहा...हा...! वे ऐसा कहते हैं और उनकी टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्य उनका पेट (हृदय) खोलकर बातें करते हैं। आहा...हा...!

भाई! प्रभु को ऐसा कहना है, तू एक महाप्रभु है। अन्दर अनन्त आनन्द और ज्ञान की सम्पत्ति से भरपूर प्रभु तू है, प्रभु है, इस तेरी पर्याय को उसमें नहीं झुकाकर उस पर्याय को बाह्यपदार्थ की ओर उसका निमित्त है, इसलिए तुझे बाह्यपदार्थ में प्रेम वर्तता है। आहा..हा...! चाहे तो स्त्री, कुटुम्ब, परिवार हो या चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र हो। ऐ...ई! आहा! सुख का पंथ अलग प्रकार है प्रभु! आहा...हा...! इस सम्यग्दर्शन का पंथ कोई अलौकिक है।

यह यहाँ कहते हैं कि जिसे **आत्मविवेक शिथिल हुआ होने से अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा....** बहिर्मुखदृष्टि हो गयी। यह स्त्री और यह कुटुम्ब, यह देव और यह गुरु, ये शास्त्र, यह सब बहिर्मुखदृष्टि है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई!

परमात्मा जिनेश्वरदेव वीतराग 'णमो अरिहन्ताणं' में आता है न? वे णमो

अरिहन्ताणं में भगवान बिराजते हैं। महावीर आदि तो णमो सिद्धाणं, वे तो सिद्ध हो गये, उन्हें शरीर नहीं। अभी (वे) अरिहन्त नहीं हैं, जिन्हें वाणी और शरीर हों, वे अरिहन्त। चार घाति (कर्म) नाश हुए हों, चार कर्म बाकी हैं। आहा...हा...! उन परमात्मा का समागम हुआ, अन्तर अनुभव और दृष्टि तो थी परन्तु विशेष निर्मलता हुई (तो) यहाँ आकर, भगवान ऐसा फरमाते हैं—ऐसा जगत के लिये प्रसिद्ध करते हैं। यह सामायिक करते हैं, तब आज्ञा नहीं लेते? भगवान की आज्ञा लेते हैं, स्थानकवासी में बहुत लेते हैं, क्योंकि उन्हें मूर्ति (नहीं है)। वे भगवान बिराजते हैं, प्रभु महाविदेह में मनुष्यदेह में मौजूद हैं। पाँच सौ धनुष का देह है, करोड़ पूर्व की आयु है, उस पूर्व में छप्पन लाख करोड़ और सत्तर लाख करोड़ छप्पन हजार करोड़ वर्ष होते हैं। यहाँ मुनिसुव्रत भगवान थे, तब से भगवान वहाँ हैं, वे अभी बिराजमान हैं। आगामी चौबीसी के यहाँ तेरहवें तीर्थंकर होंवे, तब प्रभु मोक्ष जायेंगे। अरिहन्त पद में है, वह देह छूटकर सिद्ध होंगे। आहा...हा...! अरबों वर्ष तक उनकी दिव्यध्वनि (खिरेगी)। समवसरण में हाथी, घोड़ा, नाग, काग, बाघ, सिंह, इन्द्र, और नरेन्द्र आकर सुनते हैं। आहा...! वह यह वाणी है। समझ में आया?

कहते हैं, प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं, नाथ! अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्दसागर से भरपूर है, उसे देखने-जानने की तुझे निवृत्ति नहीं होती और इस पर को देखने-जानने में तू रुक गया, प्रभु! आहा...हा...! इससे तुझे... है? **इसलिए आत्मविवेक शिथिल हुआ...** शिथिल शब्द से (आशय) विपरीत हुआ। आहा...हा...! बाह्यपदार्थ और उनके प्रति होनेवाले राग से भिन्न पड़ना चाहिए। आहा...हा...! लोगों को बहुत कठिन बातें लगती हैं। साधारण समाज और ऐसी बातें लगती हैं। यह तो अपूर्व बातें हैं, प्रभु! आहा! यह तो तेरे संसार का, जन्म-मरण का अन्त कैसे आवें, उसकी बातें हैं। वैसे देखो तो देखो न, हरितकाय के पत्ते-पत्ते में असंख्य जीव। आहा...हा...! ऐसा पूरा नीम भरा है। अब वे बेचारे कब लट हों, कब चींटी हों? वे मनुष्य कब हों? और उन्हें वीतराग की वाणी सुनने का योग कब (मिले)? आहा...हा...!

वीतराग कहते हैं कि भाई! तुझे यह सुनने का योग मिला और तू बाह्य प्रवृत्ति के प्रेम में पड़ा रहा तो भगवान तुझे नहीं मिलेंगे। यह कहते हैं, देखो! **अत्यन्त**

**बहिर्मुख ऐसा वह पुनः पौद्गलिक कर्म के रचयिता रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है...** राग और द्वेषरूप से। भगवान अकेला एकरूप है, उसे छोड़कर राग और पुण्य और दया, दान तथा काम-क्रोध के भावरूप परिणमता है। है ? **और इसलिए उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है।** आहा...हा...! जिस बादशाह के दर्शन होना चाहिए, आत्मा बादशाह परमात्मा हरिस्वरूप है। आहा...हा...! उसके दर्शन होना चाहिए, उसके बदले कहते हैं, तू दूर ही रहा। आहा...हा...! बाहर में ही भटका करता है, प्रभु! आहा...हा...! ऐसी करुणा से सन्त जगत को (प्रसिद्ध करते हैं)। दिगम्बर मुनि गजब हैं! आहा...हा...! यह भगवान तो तुझे दूर ही है, कहते हैं। आहा...हा...! आत्मा की प्राप्ति तो दूर हो गयी, प्रभु! तू राग-द्वेष की प्राप्ति में पड़ा। आहा...हा...! एकपना प्राप्त होना चाहिए, उसके बदले राग-द्वेष का द्वैतपना प्राप्त हुआ। आहा...हा...! चाहे तो यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम करे परन्तु वह राग है और राग में वर्तता है, वह द्वैत में वर्तता है, क्योंकि उसे क्षण में राग और क्षण में द्वेष (होता है)। आहा...हा...! ऐसे राग-द्वेषरूप से परिणमता है। परिणमता है, हों! पर्याय में। **और इसलिए उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है।** दूर ही है। आहा...हा...!

**परन्तु...** अब सुलटा लेते हैं। **अब जब यही आत्मा प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा...** इसमें एक धर्म गिना था न ? क्रिया से (होता है-ऐसा) एक धर्म गिना था न ? धर्म अर्थात् योग्यता। वह योग्यता यहाँ ली है। उसका ज्ञान करते हैं परन्तु उसके द्वारा होता है-ऐसा कहा गया है। व्यवहारनय का यह अन्तिम है। चरणानुयोग का परिशिष्ट है। सम्यग्ज्ञानदीपिका में यह निकाल दिया है, क्योंकि लोग उल्टा अर्थ न ले जायें। आहा...हा...! **प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा....** अर्थात् ? बहुत ही राग की मन्दता... मन्दता... मन्दता... मन्दता... इतनी मन्दता। उसका लक्ष्य छोड़कर, उसके बदले (ऐसा कहा कि) व्यवहार द्वारा। समझ में आया ? आहा...हा...! ऐसे तो ऐसे क्रियाकाण्ड करके नौवें ग्रैवेयक में गया। इतनी क्रिया थी कि चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे, वह कोई चीज़ नहीं है। अन्तर का अनन्तानुबन्धी का भाव मिटे तब या द्रव्य का आश्रय ले तब (मुक्त होता है)। आहा...! बाहर की प्रवृत्ति का आश्रय ले, वहाँ तक तो वह मिथ्यात्व है। आहा...हा...! क्या कहा यह ? तथापि ऐसा कहा कि राग की मन्दता इतनी अधिक हुई कि एकदम छोड़कर अन्दर जाता है। भाषा तो ऐसी है-प्रचण्ड—प्र-चण्ड—बहुत ही राग की

मन्दता। इतनी मन्दता की उसे ऐसा भी लग जाये कि यह तो कोई शान्ति है। समझ में आया? परन्तु इतनी कषाय की मन्दता हो, वैसे कर्मकाण्ड के अर्थात् कार्य से, परिणति से। **अखण्ड ज्ञानकाण्ड को....** आहा...हा...! भगवान जो अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, प्रभु! यह कर्मकाण्ड है, वह तो खण्ड-खण्ड है परन्तु 'उसके द्वारा', ऐसा निमित्त का ज्ञान कराने को कहा है क्योंकि बात आ गयी न? क्रियानय द्वारा (ऐसी) एक योग्यता इसमें गिनी है, परन्तु उसी समय ज्ञाननय से योग्यता (भी) गिनी है। उसी समय निश्चय से मोक्ष होता है, यह भी गिना है, उसी समय व्यवहार से मोक्ष होता है—ऐसी भी योग्यता (गिनी है) परन्तु समय तो वही है। आहा...हा...! क्या हो? ऐसी एक योग्यता गिनकर उसके द्वारा कहने में आया है।

**ज्ञानकाण्ड को...** अर्थात् ज्ञानस्वरूपी भगवान। ज्ञानकाण्ड अर्थात् उसकी परिणति। आहा...हा...! स्वभाव पूर्णानन्द के नाथ पर दृष्टि पड़ने से (उसकी परिणति होती है)। क्रमबद्ध का बहुत आया है। मुम्बई में पूछा था, वह सब लेख आया है। ऐसा कि क्रम-क्रम से पर्याय होती है तो फिर हमारे करना क्या रहा? होगा तब होगा? भाई! तुझे पता नहीं। क्रमबद्ध की पर्याय का महा रहस्य है, उसमें जैनदर्शन का रहस्य है। आहा...हा...! जैनदर्शन जो अकर्तावादी है, उस अकर्ता की पराकाष्ठा का इसमें स्वरूप है। समझ में आया? जिस समय में जो पर्याय होनी है, वह क्रमबद्ध में होनी ही है; उसे इन्द्र, नरेन्द्र भी बदल नहीं सकते। आहा...हा...! तब कहते हैं, उसमें होती है, तब हमें करना क्या? बापू! जिस समय में होती है, उस समय में होती है, उसका निर्णय क्रमबद्ध की पर्याय के आश्रय से नहीं होता। समझ में आया? उसका निर्णय, द्रव्य की पर्याय है; इसलिए द्रव्य का-ज्ञायक का निर्णय करे, तब उसे क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है। आहा...! ऐसी बातें हैं। यहाँ तो उसका ऐसा करे और ऐसा करे और ऐसा करें... क्या करता है। प्रभु! सुन तो सही, भाई!

यह ज्ञानकाण्ड जाननेवाला स्वभाव भगवान, आहा...हा...! निमित्त को जाने, राग को जाने, अरे! जानने की निर्मल पर्याय हुई, वह दूसरी पर्याय को जाने। आहा...हा...! ऐसे आत्मा का ज्ञानकाण्ड अर्थात् स्वभाव की एकता की दृष्टि। ज्ञानकाण्ड अर्थात् आत्मा की क्रिया। ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता की क्रिया। आहा...! वह जो राग-द्वेष की एकाग्रता की क्रिया थी, वह संसार था। उससे एकता की बात

तोड़ डाली नहीं, एकता थी वहाँ। यहाँ राग-द्वेष के विकल्प हैं, वे क्रमबद्ध होते हैं— ऐसा निर्णय करने जाने से ज्ञायक पर दृष्टि जाती है। आहा! ऐसा कैसे जँचे?

यह बहुत वर्ष से कहते हैं परन्तु इस समय हिन्दी आत्मधर्म में आया है, सब डाला है। यह पुस्तक छपानेवाले हैं। जैसे यह दशलक्षण की पुस्तक छपायी है न? वैसे क्रमबद्ध की एक पुस्तक छापनेवाले हैं। आहा...! हिला डाले ऐसा है, आहा! हम ऐसा करें और हम ऐसा करें, ऐसा करें... किसका करें? प्रभु! सुन तो सही! जड़ की और पर की क्रिया उसके काल में हो, उसमें तू करे क्या? क्रमबद्ध में शरीर को ऐसे हिलना-चलना है, वह तो उसके क्रमबद्ध में होनेवाली वह क्रिया उसके कारण है। आहा...! भाषा की पर्याय भी क्रमबद्ध में जिस काल में जो भाषा होनी है, वह होती है। उसमें तू उसका क्या करे? आहा...हा...! वह तो भाषा और शरीर तो भिन्न है, इसलिए उनकी क्रिया तो आत्मा से भिन्न है परन्तु आत्मा में होनेवाली राग की क्रिया या ज्ञान की क्रमबद्ध (क्रिया)... आहा...हा...! उसमें से दृष्टि छोड़कर, ज्ञायकभाव का निर्णय करे, तब ज्ञानकाण्ड प्रगट होता है। तब ज्ञान की निर्मल क्रिया—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। आहा...हा...! कहो, भाई! ऐसा है, बापू! अरे रे! समय जाता है। अवसर जाता है, भाई! आहा...हा...! देह की स्थिति पूरी होने के समय जाते हैं न सब? जो अवधि है, उसमें फेरफार होनेवाला नहीं है। जितने दिन, महीने जाते हैं, वे सब मृत्यु के समीप, देह छूटने के समीप जाते हैं।

उसमें भगवान आत्मा, पर की रुचि छोड़कर, पर का आश्रय छोड़कर स्व का आश्रय करे, तब उसे सम्यग्दर्शन ज्ञानकाण्ड प्रगट होता है। वे ज्ञान की क्रियायें, ज्ञान की परिणति, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तब प्रगट होता है। आहा...हा...! दूसरों को ऐसा लगे कि यह तो सब हमारी बातें मानते हैं, (वह) सब उड़ा देते हैं। बापू! तेरी जो बात है, वह कैसी है?-उसे बताते हैं। समझ में आया? आहा! भगवन्त! तेरा अनादर नहीं करते परन्तु तेरा आदर करने के लिये, जो अनादर से चीज़ है, वह खोटी है और अन्दर में आदर करना चाहिए, वह बात सच्ची है, उसे समझाने को उसे कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? बहुत दया, व्रत, भक्ति अपवास करे और यात्राएँ करे तथा भक्ति करे, (वह कोई मार्ग नहीं है)। 'ज्ञानमार्ग रहा दूर' आता है न? 'धाम धूमे धमाधम चली' भगवान चिदानन्द प्रभु का मार्ग

अन्दर एक ओर रह गया। आहा...हा...! इतने अपवास किये और यह बालब्रह्मचारी हुई और लड़कियाँ बालब्रह्मचारी हुई और उनका जुलूस निकालो। क्या है? प्रभु! आहा...हा...!

अन्दर में पर से (और) राग की क्रिया से भी भिन्न पड़कर... आहा...हा...! और भगवान आनन्द का नाथ, उसे जगावे। आहा...हा...! जो राग में सो रहा है, वह राग में से जागृत होकर उसे छोड़े (और) आत्मा में जाये। आहा...हा...! वस्तु है भगवान पूर्णानन्द का नाथ आत्मा। (जो) परमात्मा को-अरिहन्त परमात्मा को अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है, वह आया कहाँ से? कहीं बाहर से आता है? आहा...हा...! यह मोरबी में देखो न! बड़ा क्या कहलाता है वह? तालाब, तालाब कहलाता है न? डैम। मिट्टी की पाल ऐसी ढीली थी, तोड़कर-फोड़कर निकला। कितने हजार, १५, २०, २५ हजार लोग मर गये। वह (पानी का) प्रवाह इतना अधिक आया... एक मिनिट में एक फीट, दो मिनिट में दो फीट (पानी आया)। वे माने कि अभी निकलेंगे... निकलेंगे, वहाँ तो आठ फीट सिर के ऊपर (पानी) आया, कितने ही मर गये।

यहाँ कहते हैं जैसे पानी का प्रवाह एक साथ पाल टूटकर (आया), वैसे अनन्त आनन्द का नाथ, उसकी राग की एकता टूटकर, अन्दर से पाल टूटकर... आहा...हा...! उसे आनन्द की धारा और ज्ञान की धारा अन्दर वर्ते, उसने जीव का जीवन प्रगट किया। समझ में आया? ऐसी बातें हैं। मोरबी की बातें बहुत आती हैं। परदेश में बात गयी है। कोई इन्हें मदद करो, मदद करो। आहा...! परन्तु वह तालाब ऐसा फटा, इतना पानी था। कितने ही कहते हैं कि पहले किसी ने कहा था, राजकुमार गुजर गया, फिर कहा कि यह तालाब फटेगा। रैयत का नुकसान होगा। पानी... पानी... पानी...! फटा वहाँ आया धारावाही। अपने दिगम्बर मन्दिर में इतना-इतना कीचड़! पानी इतना, गारा-कीचड़, कारण (कि) पाल टूट गयी।

यह तो आत्मा, राग की एकता तोड़कर जब ज्ञानकाण्ड में गया, आहा...हा...! वहाँ अन्दर सम्यक्ज्ञानधारा प्रगट होती है, बापू! आहा...हा...! उसके प्रवाह को फिर कोई रोक नहीं सकता। आहा...हा...! ऐसा जो आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु! ज्ञान और अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शान्ति से भरपूर भगवान... आहा...हा...! उसमें

एकता होने पर, राग की एकता टूटने से ज्ञानकाण्ड प्रगट होता है। ज्ञान का प्रवाह प्रगट होता है, शुद्धता की परिणति का प्रवाह प्रगट होता है। आहा...हा...! इसका नाम धर्म! बाकी सब बातें हैं। आहा...हा...!

अरे रे! कितने ही जीव तो बेचारे अभी त्रस भी नहीं हुए। इतने जीवों की संख्या प्रभु कहते हैं। निगोद में इतने पड़े हैं कि अभी कभी लट भी नहीं हुए, इतने अनन्त जीव हैं। अरे रे! उन्हें कब उभरने का अवसर (आवे)? अरे...! प्रभु! तुझे समय मिला है न! आहा...! मनुष्यपना मिला, पाँच इन्द्रियाँ (मिलीं), आर्यकुल में अवतार (हुआ)... आहा..हा...! और वह भी यहाँ तक ऐसी वीतराग की वाणी मिले, वहाँ तक आया। अब प्रभु! तुझे करना तो यह है। आहा...हा...! स्वभाव का सागर भगवान है, वहाँ सन्मुख जाना है। जो राग में रुककर पर को जानने में रुक गया है, अरे! अरिहन्त को जानने में रुक गया, वह भी राग है। आहा...हा...! इसलिए कहा न वहाँ? **जो जाणदि अरहंतम्** जानकर भी अब अन्दर में जा। आहा...हा...! प्रवचनसार ८० गाथा। सन्तों ने तो बहुत करुणा की है। लट-लट में तेल डाला है। आहा...हा...!

कहते हैं कि आत्मा **ज्ञानकाण्ड को प्रचण्ड करने से....** देखा? पहला खण्ड-खण्ड था, और यह अखण्ड ज्ञानकाण्ड। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अखण्ड एक स्वरूप है, त्रिकाल निरावरण है, अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है, अविनश्वर है, शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण परमात्मद्रव्य निज परमात्मद्रव्य है। आहा...हा...! वह मैं हूँ—ऐसा अन्तर में दृष्टि होने से ज्ञान शुद्ध चैतन्य की पर्याय (का) प्रवाह बहता है। आहा...हा...! वह आनन्द का झरना बहता है। जैसे पर्वत में से पानी झरे, वैसे तीन लोक का नाथ परमात्मा स्वयं है, उसकी दृष्टि जहाँ हुई... आहा...हा...! उसकी पर्याय में आनन्द झरता है। वह ज्ञानकाण्ड कहने में आता है। अरे... ऐसी बातें अब। आहा...हा..!

भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति! यह पहले भी कहा था न? **अनन्त धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को अन्दर में शुद्धचैतन्यमात्र देखता ही है।** आया था न? आहा...हा...! इसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं, **अखण्ड ज्ञानकाण्ड को प्रचण्ड करने से....** वापस उसे प्रचण्ड! आहा...हा...! इस वीर्य के झुकाव को अन्दर में झुकाकर,... जो पुण्य और पाप में वीर्य रुक गया है, वह वीर्य तो नपुंसक है।

आहा...हा... ! उस वीर्य को, जिसका वीर्य है, वहाँ उसे झुका और पर की एकता की बाड़ तोड़ दे। जो जोड़ी है, उसे तोड़ और तोड़ी है, उसे जोड़। अरे ! ऐसी बातें अब। जवान शरीर हो, रूपवान शरीर हो और उसमें मकान के पाँच-पच्चीस लाख रुपये हों, उसमें मजा करता हो। अरे... भाई ! तू दुःखी है, भाई ! इस दुःख की तुझे खबर नहीं। आहा...हा... ! इस दुःख के भाव में गच्चा खा गया है, भाई ! तुझे आनन्द के नाथ की खबर नहीं होती और हम सुखी हैं-ऐसा मानता है। हम पैसे-टके से सुखी हैं। धूल भी नहीं, सुन न ! भिखारी है। तेरी लक्ष्मी पड़ी है, उसे देखता नहीं और दूर की लक्ष्मी को लेना चाहता है। रंक-भिखारी है, भाई ! ऐसी बातें हैं यह। आहा...हा... !

यहाँ कर्मकाण्ड की व्याख्या की है। उसकी यह (बात) चलती है। भगवान पूर्णानन्द का नाथ... आहा...हा... ! उसकी ओर जहाँ दृष्टि करता है, तब आत्मा के ज्ञानक्रिया, श्रद्धाक्रिया, शान्तिक्रिया प्रगट होती है। निर्विकल्प आनन्द प्रगट होता है। आहा...हा... ! जिस आनन्द की अनन्त काल में कभी गन्ध नहीं ली थी। आहा...हा... ! समझ में आया ? धर्म प्राप्त करने की यह विधि है। आहा ! अरे रे !

**अखण्ड ज्ञानकाण्ड को प्रचण्ड करने से अनादि-पौद्गलिक-कर्मरचित मोह...** (अर्थात्) मिथ्यात्व। **वध्य-घातक के विभागज्ञानपूर्वक...** आत्मा घात होनेयोग्य और मोह घातक है। क्या कहते हैं ? राग का विकल्प जो शुभराग है, उसकी एकत्वबुद्धि, वह भी मिथ्यात्वभाव है। मिथ्यात्वभाव घातक है और आत्मा की पर्याय घातयोग्य है। पर्याय, हों ! द्रव्य तो है वह है। भगवान जो पूर्णानन्द का नाथ अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है, उसकी पर्याय में जो मिथ्यात्व है, राग की एकता है, राग की एकता (अर्थात्) राग मेरा और मुझे दया, दान की क्रिया से धर्म होगा—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह घातक है, और आत्मा की पर्याय वध्य अर्थात् घातयोग्य है। आहा...हा... ! भाई ! ऐसा स्वरूप है। अब इसमें कहाँ... ? करोड़-दो करोड़ रुपये मिले, इसलिए मानो हो गया... आहा...हा... ! हम बड़े हुए। जगत में हमें मान मिलेगा। मान का भूखा। मान मिलेगा ऐसा कहे, सम्मान मिलेगा परन्तु वह सम्मान कहाँ आया ? वहाँ कहाँ सत् का मान है ? सम्मान तो असत् का सम्मान है। आहा...हा... !

यहाँ तो परमात्मा पूर्ण स्वरूप विराजमान है, उसकी जहाँ एकता की, ज्ञानकाण्ड

प्रगट किया... आहा...हा... ! राग का जो क्रियाकाण्ड था, उसे छोड़कर। 'उससे'— ऐसा निमित्त से कथन है। आहा...हा... ! बहुत सूक्ष्म बात भाई ! साधारण लोगों को ऐसा लगे यह तो निश्चय... निश्चय... निश्चय की पुकार है। बापू ! निश्चय अर्थात् सच्चा; व्यवहार अर्थात् आरोपित कथन। आहा...हा... ! कहा नहीं ? पैसे में कहीं रूप-रस नहीं, तथापि उसका लोभ, वह तो आरोपित लोभ है। स्त्री का शरीर और दूसरे का सुन्दर मकान देखकर उसमें प्रेम होता है, वह तो वस्तु में निमित्त है, इसमें तो यह निमित्तपना भी नहीं है, पैसे में रूप-रस (कुछ नहीं)। क्या कहलाता है तुम्हारे यह ? नोट, अरे ! रोकड़-रुपये थे, उसमें कहाँ रूप, रस था ? परन्तु देखकर अन्दर लोभ करके रुक गया। यह तो अरूपी अगन्ध, अवर्ण, अरस (बिराजमान) परमात्मा अन्दर है, वस्तु है। आहा... ! उसमें रूप (अर्थात्) स्वरूप और आनन्दरस पड़ा है। रूप और रस आत्मा में है। आहा...हा... ! पैसे में कोई रूप-रस नहीं कि (उन्हें) देखकर प्रेम हो। यह तो लोभ खड़ा करता है। भाई ! ऐसी बातें हैं, भाई ! आहा...हा... ! अन्तर में तो रूप और रस भरे हैं, भाई ! रूप अर्थात् स्वरूप। अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का रूप-स्वरूप पड़ा है और रस अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का रस अन्दर पड़ा है। अरे ! जिसमें रूप और रस नहीं, उसमें तू ललचा गया ! जिसमें रूप और रस भरा है, उसमें तुझे ललचाना नहीं हुआ। प्रभु ! तूने क्या किया ? आहा...हा... ! आहा...हा... ! गजब बात करते हैं ? क्या कहते हैं ?

**कर्मरचित मोह....** मिथ्यात्व। राग की एकता की बुद्धि, वह मिथ्यात्व है। ऐसे मोह को रचते **वध्य-घातक के विभाग....** किया। आत्मा जो पर्याय में घात योग्य है, मिथ्यात्व घातक है, उसके **विभागज्ञानपूर्वक विभक्त...** किया। उसे भिन्न किया। जो मिथ्यात्व घातक है। भले वह बहुत क्रियाकाण्ड पंच महाव्रत का ऊँचा करे परन्तु वह राग है, घातक है, क्योंकि राग की एकता, वह मिथ्यात्व है। आहा...हा... ! गजब बातें ! लोगों को कठिन लगती है, भाई ! प्रभु ! तेरा पंथ कोई निराला है। अरे रे ! अभी तो फेरफार इतना हो गया, बाहर का प्रदर्शन करना और अन्दर में कुछ नहीं होता। तथा छह खण्ड के राज्य में पड़ा परन्तु जिसने ज्ञानकाण्ड प्रगट किया है। आहा...हा... ! जिसने आंशिक उत्तम क्षमा, उत्तम सरलता प्रगट की है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं ऐसा जो आत्मा-ज्ञानस्वरूपी पूरा आत्मा, उसका काण्ड अर्थात् क्रिया। आत्मा की निर्मल क्रिया प्रगट की है। आहा...हा...! **विभागज्ञानपूर्वक...** अर्थात् भेद करने पूर्वक **विभक्त करने से....** आहा...हा...! उस राग की एकताबुद्धि जो मिथ्यात्वभाव, उस दुःख के पंथ में था; उसे अब धर्म (प्रगट करके) सुख के पंथ में लाया। उसका भेदज्ञान किया। आहा...हा...! अरे! ऐसी बातें। बनियों को समय नहीं मिलता, मुश्किल से घण्टे भर सुनें। भावनगर की बात सुनी थी, अस्सी लोग आते हैं। तीस आदमी और तीस महिलायें। कितने, अस्सी घर हैं न? तुम्हारे भाई को पूछा था। इतने लोग होते हैं। पर्यूषण में आते हैं। क्या हो? सुनने का समय नहीं लेते। (श्रोता : सौ मेम्बर हैं।) आते हैं तीस भाई, तीस बहिनें। वैसे अस्सी घर हैं। यह तो भाई मेरे साथ बैठे थे, उसमें इन्हें पूछा कि कितने लोग आते हैं? तीस आदमी, तीस महिलायें। स्थानकवासी में तो साधु न हो तो इतने भी नहीं जाते। यह तो अपने हर रोज आते हैं। परन्तु अस्सी घर (अर्थात्) चार सौ लोग होंगे। नहीं? चार सौ, उनमें तीस आदमी, महिलायें एक घण्टे सुनने का भी समय नहीं होता। भाई! तुम जाते हो या नहीं? अरे!

ऐसी बातें परमात्मा सन्तों की। दिगम्बर मुनि अर्थात् साक्षात् वीतराग। आहा...हा...! जिन्हें अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का उछाला आता है। जिनकी ज्ञानकाण्ड की दशा अन्दर उछाला मारती है। आहा...! अतीन्द्रिय आनन्द की बाढ़ आती है। समुद्र के पानी का जो बाढ़ आवे... भरती (बाढ़ का गुजराती शब्द)। समझे? बाढ़। वैसे आत्मा की पर्याय में जो सच्चे सन्त होते हैं, उन्हें अतीन्द्रिय (आनन्द की) पर्याय की बाढ़ आती है। आहा...हा...! उसे यहाँ ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। आहा...हा...!

वह **वध्य-घातक के...** भाषा देखी? राग जो दया, दान, शुभभाव है, वह मेरा है-ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह मिथ्यात्वभाव घातक है और आत्मा की शान्ति का पर्याय में घात होता है। द्रव्य में नहीं। द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण है। भाई! शान्ति की बात आयी। आहा...हा...! वध्य कहा न? वर्तमान पर्याय की शान्ति का घात होता है और राग की एकताबुद्धि में मिथ्यात्व है, वह घातक है। उसका इसमें विभाग किया। पर के ऊपर जो दृष्टि थी, वह छोड़कर स्व की दृष्टि की, भेदज्ञान किया। आहा...हा...! चाहे तो दया, दान का राग हो परन्तु उससे भगवान को अन्दर भिन्न

किया। इसका नाम धार्मिक क्रिया है। अरे रे! ऐसा किस प्रकार का? आहा...हा...! अन्य तो भगवान के पास भक्ति (करे), दो-चार घण्टे बैठे और स्तुति किया करे, भक्ति करे। बापू! यह सब क्रिया तो जड़ की है। तेरा भाव-राग मन्द हो तो शुभ हो परन्तु वह कोई धर्म नहीं है। अरे रे! ऐसी बातें! तो फिर ऐसा है तो कोई भगवान का दर्शन नहीं करेगा। परन्तु बापू! इसे राग आयेगा। जो राग से भिन्न पड़ा है, ऐसा भाव जाना, तथापि जब तक वीतराग न हो, तब तक ऐसा शुभराग आयेगा। उसे जानेगा कि यह हेय है, परन्तु आये बिना नहीं रहेगा। आहा...हा...! ऐसी अटपटी बातें। एक ओर कहना कि राग हेय है और एक ओर कहना कि धर्मी को भी राग आता है।

**मुमुक्षु :** भाव नहीं आते?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** आते हैं। नहीं (आवे) तो वीतराग हो जाये। आहा...हा...! तथापि धर्मी उस राग को दुःख मानता है और जितना ज्ञानकाण्ड प्रगट हुआ, उतना सुख मानता है। आहा..हा...! सुख-दुःख की यह व्याख्या है। यहाँ तो पैसेवाला हो, वह सुखी और निर्धन हो, वह दुःखी। यह सब व्याख्या ही झूठी है। आहा...हा...!

**मुमुक्षु :** पैसेवाला....

**पूज्य गुरुदेवश्री :** अभी पैसेवाला तो बेचारा हैरान (होता है) और कायदे ऐसे हुए हैं, हों! लाख कमाये तो सरकार को चौरासी हजार देना पड़े। इसलिए कितने ही भाग करते हैं। स्त्री के नाम के, पुत्र के नाथ के, पुत्र की बहू के नाम के। बनिया है न! भाई! यह सब तुम्हारी पोल खुलती है। आठ-दस भाग करे। दस-बीस-पचास लाख हो, उसमें से भाग कर डाले। पाँच, पाँच रहे, इसलिए उसको थोड़ा देना पड़े। क्या कहलाता है तुम्हारे वह? इनकम टैक्स, आहा!

यहाँ तो प्रभु कहते हैं, जिसे इस राग की एकताबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व घातक है, प्रभु! तेरी पर्याय वध्य है; इस कारण उसका जिसने विभाग किया... आहा...हा...! जिसने भाग कर दिये-राग भिन्न है, मेरी चीज़ भिन्न है। आहा...हा...! **विभक्त करने से (स्वयं) केवल आत्मभावना के [आत्मानुभव के] प्रभाव से....** देखा? केवल आत्मभाव। शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो आत्मभाव। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह आत्मभावना। आहा...हा...! केवल! आहा...हा...! आत्मभावना-आत्मा को अनुभव करना। भगवान

आनन्दस्वरूप प्रभु! अरे! उसकी मिठास के समक्ष जगत के इन्द्र के इन्द्राणी के करोड़ों के सुख सड़े हुए स्वान जैसे लगते हैं। आहा...हा...! बापू! तेरे आनन्द के स्वाद के समक्ष... ऐसा वह स्वाद जहाँ आता है, तब कहते हैं कि **आत्मभावना के [ आत्मानुभव के ] प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से....** आहा...हा...! स्वरूप की ओर के झुकाव के ढाल में पर्याय को ढाली होने से। आहा...हा...!

**समुद्र की भाँति अपने में ही अति निष्कम्प रहता हुआ....** जैसे समुद्र ऐसा स्थिर रहता है, वैसे स्वयं भगवान आत्मा अपने में निष्कम्प रहता है। राग की कम्पना में जाता नहीं। आहा...! अरे.. अरे...! ऐसी बातें। फिर सोनगढ़वालों का- बेचारे ऐसा कहें न? कहें, हम इतना-इतना व्यवहार दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या करते हैं, ग्यारह-ग्यारह प्रतिमायें लेते हैं... (एक मुमुक्षु ने ऐसा कहा) बीस प्रतिमा हो तो बीस ले। ऐसी कहाँ वस्तु है? अरे! भगवान! तुझे प्रतिमा कहाँ से आयी? अभी सम्यग्दर्शन नहीं हो, उसे प्रतिमा कहाँ से आयी? आहा...हा...! अभी कहाँ पता है?

एक व्यक्ति कहता, यहाँ का सुनकर, फिर किसी ने उसे प्रतिमा दी। तो कहे - प्रतिमा तुमने दी, परन्तु मेरे पास आयी नहीं। भाई! एक यहाँ आता था, गुजर गया बेचारा। प्रतिमा ली थी परन्तु रात्रि में बीड़ी पीवे। कोई ठिकाना नहीं होता। यहाँ आता, उसके गाँव में गये थे। कौन सा गाँव है? 'कुरावली'। एक बार यहाँ स्वाध्यायमन्दिर में आया तो मुझे गन्ध आयी। यहाँ नाक सही, यह आया और गन्ध आती है यह क्या? वहाँ पोल निकली, सात प्रतिमाधारी रात्रि में बीड़ी पीता है! एक व्यक्ति राजकोट में कहता था। आठ प्रतिमावाला आया था। फिर कहे, आठ प्रतिमावाले तक कोई भाव नहीं पूछता; इसलिए ग्यारह लेनी पड़ेगी, इसीलिए हमें माने, त्यागीरूप से आहार का आदर करे। आहा...हा...! कौन सा गाँव वह? उदयपुर! उदयपुर में व्याख्यान चलता, (तब) सब त्यागी ऊपर बैठे। सब आहार का आमन्त्रण दे। अकेला यहाँ बैठ जाये तो आहार दे नहीं। अरे रे! रोटियों के लिये भी इसकी कितनी दीनता! कहते हैं कि तुझे कुछ पता नहीं, बापू! वस्तु क्या है? आहा...हा...!

भगवान आत्मा राग से भिन्न पड़कर जहाँ आत्मभावना प्रगट हुई। पहले राग की भावना थी, वह मिथ्यात्व था। ऐसा राग करूँ, ऐसा राग करूँ, राग का कर्ता हो,

वह मिथ्यात्व है। आहा...हा...! क्योंकि भगवान तो ज्ञानस्वरूप है। शुद्ध-पवित्र अनन्त गुण का पिण्ड है, उसे राग का कर्तापना मानना, वह मिथ्यात्व है। आहा...हा...! वह विभाग करके **समुद्र की भाँति अपने में ही अति निष्कम्प रहता हुआ एक साथ ही अनन्त ज्ञप्तिव्यक्तियों में व्याप्त होकर....** एक समय में जितनी जानने की (ज्ञप्ति है), उन सबमें व्याप्त होता है। उसमें क्रम-क्रम से खण्ड-खण्ड, ऐसा नहीं- ऐसा कहते हैं। पूर्ण की बात है। नीचे भी उतने अंश में अखण्ड व्याप्त होता है।

जानने की अनन्त प्रगटताओं में **व्याप्त होकर अवकाश के अभाव के कारण....** फिर अवकाश कहाँ रहा? जहाँ अन्दर में एकाग्र होता है... आहा...हा...! **सर्वथा विवर्तन [ परिवर्तन ] को प्राप्त नहीं होता, तब ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं, ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसे वास्तव में मैत्री नहीं प्रवर्तती....** आहा...हा...! ज्ञान की पर्याय में भगवान जानने में आये, तब राग हुआ। भगवान, हों! अरिहन्त जानने में राग हुआ। यह भेदज्ञान करने से उस राग के अवकाश के अभाव के कारण बिल्कुल परिवर्तन नहीं पाता। आहा...हा...! और इसलिए ज्ञेयभूत ऐसे बाह्यपदार्थ। बाह्यपदार्थ (अर्थात्) भगवान अरिहन्त और देव-गुरु-शास्त्र भी बाह्यपदार्थ है। अन्तर पदार्थ तो भगवान यहाँ अन्दर है। अरे रे! कठिन काम बहुत। भगवान स्वयं ऐसा कहते हैं। भगवान ऐसा कहते हैं कि हमारे सामने देखने से प्रभु! तुझे राग होगा। तेरे द्रव्य का आश्रय छोड़कर हमारे सामने देखेगा तो राग होगा। यह राग है, वह दुर्गति है; चैतन्य की गति नहीं। आहा...हा...! ऐसा कठिन काम। एक ओर भक्ति में ऐसा आता है कि हे प्रभु! तुम्हारी भक्ति से मुझे कल्याण होगा। यह तो सब निमित्त के कथन हैं। आहा...हा...!

**ज्ञेयभूत हैं, ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसे वास्तव में मैत्री नहीं प्रवर्तती और इसलिए आत्मविवेक सुप्रतिष्ठित [ सुस्थित ] हुआ होने के कारण...** अपने में स्थित हुआ होने से **अन्तर्मुख हुआ....** बाह्यपदार्थ में प्रेम होने से वह बहिर्मुख था; यहाँ अन्तर्मुख हुआ। अरे रे! ऐसा है। **अत्यन्त अन्तर्मुख हुआ...** वापस ऐसा (कहा है)। ज्ञायकस्वभाव भगवान पूर्णानन्द के नाथ में जिसकी परिणति ढल गयी है। आहा...हा...! **ऐसा यह आत्मा पौद्गलिक कर्मों के रचयिता राग-द्वेषद्वैतरूप परिणति से दूर होता हुआ....** उसे राग और द्वेष की

परिणति नहीं रहती। आहा...हा...! **पूर्व में अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्मा को....** आहा...हा...! देखो! पूर्व में नहीं अनुभव किये हुए अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्मा! दया, दान के विकल्प— राग, वह जीव का स्वभाव नहीं है; वह तो विभाव है। आहा...हा...! ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा! भगवान आत्मा लिखा है, देखो! अमृतचन्द्राचार्य! आहा...हा...! यह तो बापू! वीतराग के घर की बातें बहुत सूक्ष्म, भाई! लोगों ने तो बाहर में सब मनवा डाला है। आहा...हा...! राग की बहुत क्रिया करे और ग्यारह प्रतिमा और यह और वह... मानो कि मैं त्यागी हो गया। अरे रे! प्रभु! तूने क्या किया? अभी मिथ्यात्व का त्याग किया नहीं, वहाँ बाहर का त्यागी कहाँ से हुआ? बाहर का त्यागी तो अनादि से है। क्योंकि तेरी पर्याय में वह परपदार्थ तो नहीं। क्या कहा यह? तेरी पर्याय में कर्म, शरीर, वस्तु तो नहीं, फिर नहीं उसका त्याग क्या? तेरी पर्याय में तो राग और द्वेष-विकार है। आहा...हा...! समझ में आया? भगवान आत्मा की पर्याय में शरीर, कर्म, परपदार्थ तो है ही नहीं; वे तो भिन्न हैं। तेरी पर्याय में राग-द्वेष है, वे तुझमें हैं, उनसे भिन्न करना है।

**अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्मा का आत्यन्तिक रूप से ही प्राप्त करता है।** अत्यन्तरूप से प्राप्त करता है। **जगत भी ज्ञानानन्दात्मक परमात्मा को अवश्य प्राप्त करो।** आहा...हा...! देखा अन्तिम? प्रभु! तुम सब इस प्रकार प्राप्त करो।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

## श्लोक-२० से २२

**भवति चात्र श्लोकः-**

**आनन्दामृतपूरनिर्भरवहत्कैवल्यकल्लोलिनी-**
**निर्मग्नं जगदीक्षणक्षममहासंवेदनश्रीमुखम्।**
**स्यात्काराङ्कजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत्।**
**स्वं तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिष्टं जनाः।।२०।।**

**व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फो गिरां**
**व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।**
**वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्**
**लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः।।२१।।**

**इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत्**
**चिति तदपि किलाभूत्कल्पमग्नौ हुतस्य।**
**अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद्**
**अपरमिह न किञ्चित्तत्त्वमेकं परं चित्।।२२।।**

**समाप्तेयं तत्त्वदीपिका टीका।**

---

यहाँ श्लोक भी है :—

**[ अर्थ : ]** आनन्दामृत के पूर से भरपूर बहती हुई कैवल्यसरिता में (मुक्तिरूपी नदी में) जो डूबा हुआ है, जगत को देखने में समर्थ ऐसी महासंवेदनरूपी श्री (महाज्ञानरूपी लक्ष्मी) जिसमें मुख्य है, जो उत्तम रत्न-किरण की भाँति स्पष्ट है और जो इष्ट है ऐसे उल्लसित (प्रकाशमान, आनन्दमय) स्वतत्त्व को जन स्यात्कारलक्षण जिनेश शासन के वश से प्राप्त हों। (-'स्यात्कार' जिसका चिह्न है ऐसे जिनेन्द्रभगवान के शासन का आश्रय लेकर के प्राप्त करो।)

(अब, 'अमृतचन्द्रसूरि इस टीका के रचयिता हैं' ऐसा मानना योग्य नहीं है

ऐसे अर्थवाले काव्य द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रगट करके स्वतत्व प्राप्ति की प्रेरणा की जाती है:—)

**[ अर्थ : ]** (वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं, आत्मा उन्हें परिणमित नहीं कर सकता, तथा वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं, शब्द उन्हें ज्ञेय बना—समझा नहीं सकते इसलिए) 'आत्मा सहित विश्व वह व्याख्येय (समझानेयोग्य) है, वाणी का गुंथन वह व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि वे व्याख्याता हैं, इस प्रकार जन मोह से मत नाचो (-मत फूलो) (किन्तु) स्याद्वाद-विद्याबल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्व को प्राप्त करके आज (जन) अव्याकुलरूप से नाचो (-परमानन्दपरिणामरूप परिणत होओ।)

[अब, काव्य द्वारा चैतन्य की महिमा गाकर, वही एक अनुभव करने योग्य है ऐसी प्रेरणा करके, इस परम पवित्र परमागम की पूर्णाहुति की जाती है:—]

**[ अर्थ : ]** इस प्रकार [इस परमागम में] अमन्दरूप से [बलपूर्वक, जोरशोर से] जो थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है, वह सब चैतन्य में वास्तव में अग्नि में होमी गयी वस्तु के समान [स्वाहा] हो गया है। [अग्नि में होमे गये घी को अग्नि खा जाती है, मानो कुछ होमा ही न गया हो! इसी प्रकार अनन्त माहात्म्यवन्त चैतन्य का चाहे जितना वर्णन किया जाय तथापि मानो उस समस्त वर्णन को अनन्त महिमावान चैतन्य खा जाता है; चैतन्य की अनन्त महिमा के निकट सारा वर्णन मानो वर्णन ही न हुआ हो इस प्रकार तुच्छता को प्राप्त होता है।] उस चैतन्य को ही चैतन्य आज प्रबलता-उग्रता से अनुभव करो (अर्थात् उस चित्स्वरूप आत्मा को ही आत्मा आज अत्यन्त अनुभवो) क्योंकि इस लोक में दूसरा कुछ भी (उत्तम) नहीं है, चैतन्य ही परम (उत्तम) तत्त्व है।

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री प्रवचनसार शास्त्र की श्रीमद्-अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित) **तत्त्वदीपिका** नामक संस्कृत टीका के श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ।

**प्रवचन नं. २७४, श्लोक-२० से२२**
**भाद्र कृष्ण १२, सोमवार, १७ सितम्बर १९७९**

प्रवचनसार, अन्तिम तीन श्लोक हैं। बीसवाँ है न

**आनन्दामृतपूरनिर्भरवहत्कैवल्यकल्लोलिनी-**
**निर्मग्नं जगदीक्षणक्षममहासंवेदनश्रीमुखम्।**
**स्यात्काराङ्कजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत्।**
**स्वं तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिष्टं जनाः।।२०।।**

ये अन्तिम श्लोक है न? हे जनों! ऐसा कहते हैं न? **आनन्दामृत के पूर से भरपूर बहती हुई कैवल्यसरिता....** आहा! अन्तर भगवान आत्मा आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का पूर। **भरपूर बहती हुई कैवल्यसरिता...** मुक्तिरूपी सरिता। अन्दर मुक्तस्वरूप है। आहा! आनन्दामृत-आनन्दरूपी अमृत के पूर से। आहा! ऐसा आत्मा कहाँ... ? उसे शोधे बिना वह मिले, ऐसा नहीं है। वह भगवान अन्दर आनन्द के अमृत के पूर से भरचक (भरा हुअ है)। आहा! यह बहती कैवल्यसरिता। मुक्तिरूपी प्रवाह है यह। आहा...हा...!

इस मुक्तिरूपी सरिता में जो डूबा हुआ है। पूर्णानन्द का नाथ मुक्तस्वरूप में स्वयं रहा है। आहा! उसे राग का और बन्ध का सम्बन्ध है नहीं। ऐसी वह वस्तु है। आहा! वस्तु है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। आहा! अखण्ड है, एक है। आनन्द के अमृत का पूर है वह तो! आहा...हा...! आनन्द के अमृत का पूर बहता है। आहा! भरचक-भरचक भरपूर है। भरपूर पूरा तत्त्व अन्दर है। आहा...हा...! अरे! कैवल्यसरिता (अर्थात्) मुक्तिरूपी नदी। मुक्तिरूपी नदी, अन्दर प्रवाह (बहता है)। मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा में द्रव्य डूबा हुआ है, उसमें द्रव्य रहा हुआ है। आहा...हा...!

**जगत को देखने में समर्थ ऐसी महासंवेदनरूपी श्री (महाज्ञानरूपी लक्ष्मी) जिसमें मुख्य है,....** क्या कहा? **जगत को देखने...** जाननेवाला। जानना... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... वह ज्ञान जिसकी अन्तरलक्ष्मी है। वह सब गुणों में जिसकी मुख्यता वह है। आहा...हा...! यह प्रवचनसार को पूरा करते हैं और यह इसके ऊपर कलश चढ़ाकर बताते हैं। इस **जगत को देखने में समर्थ ऐसी**

**महासंवेदनरूपी...** लक्ष्मी। ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान...। समस्त अनन्त गुणों में मुख्य जो महाज्ञान, जाननस्वभाव जो जगत को देखने को समर्थ है। जगत शब्द से (आशय) लोकालोक। आहा...हा...! ऐसा जो जानने के सामर्थ्यवाला यह तत्त्व भगवान। अरे... अरे...! ऐसी बातें!

यह भगवान आत्मा, कहते हैं कि आनन्द के अमृत के पूर से भरचक नदी अन्दर बहती है। आहा! सूक्ष्म बात, भाई! यह तो मूल बात है। आहा...हा...! अन्दर आनन्द के अमृत के पूर से भरचक कैवल्यसरिता। पूर्ण-पूर्ण स्वभाववाली नदी, मुक्तस्वरूप नदी, प्रवाह अन्दर है। उसमें द्रव्य है। आहा...हा..! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! भगवान की दिव्यध्वनि का अन्तिम यह सार है। आनन्द के अमृत से भरपूर पूर अन्दर बहता है। जैसे पानी का पूर ऐसा होता है, वैसे यह ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... पूर बहता है। आहा...हा...! ऐसा जो भगवान आत्मा, वह **जगत को देखने में समर्थ ऐसी महासंवेदनरूपी...** लक्ष्मी (अर्थात्) ज्ञान। वह तो सम्पूर्ण लोकालोक को जाननेवाला ज्ञान है। किसी का करनेवाला, किसी को माननेवाला, किसी की मदद करनेवाला, ऐसा वह तत्त्व नहीं है। आहा...हा...! जगत् शब्द से पूरा लोकालोक। आहा...हा...! उसे महासंवेदन ज्ञानस्वभाव भगवान, उसे तो जानने को... है?

**मुख्य है,...** ज्ञान जिसमें मुख्य है। भगवान आनन्द के पूर में, आनन्द के अमृत के पूर में ज्ञान जिसमें मुख्य है कि जगत को-लोकालोक को जानने की ताकतवाला है। आहा...हा...! कोई भी अपने अतिरिक्त (पर) चीज़ है, उसे कुछ करनेवाला नहीं, मदद करनेवाला नहीं, देनेवाला नहीं, लेनेवाला नहीं। आहा...! वह अपना ज्ञानस्वभाव ऐसा है कि सम्पूर्ण लोकालोक को जाननेवाला ज्ञान, अनन्त गुण में वह मुख्य है। आहा...हा...! जाननेवाला किसी का करे-ऐसा है नहीं, कहते हैं। आहा...हा...! दूसरे की दया पाले या दूसरे की हिंसा करे या सत्य बोले। आहा...हा...! वह आत्मा का स्वरूप ही नहीं। आहा...हा...! वह तो सम्पूर्ण जगत को (जाननेवाला है)। राग, शरीर, कर्म, वाणी, मन और लोकालोक,... भगवान आत्मा का स्वभाव अकेला जानना-देखना जिसके गुणों में मुख्यता है। आहा...हा...! वह जानने-देखनेवाला क्या करे? आहा! वह राग को करे? व्यवहार, दया, दान के राग को करे? आहा...हा...! उसे जाने। आहा...हा...! यह ऐसी शैली है। यह तो कहे-व्रत पालो, दया पालो, दया, दान की क्रिया करो। यहाँ तो कहते हैं कि

भगवान! यह विकल्प है, उसे जाननेवाला ज्ञानतत्त्व है। उसे करनेवाला ज्ञानतत्त्व नहीं। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म, बापू! आहा...हा...!

प्रभु! तेरा पन्थ कोई अलौकिक है। यहाँ तो भगवान शासन कहेंगे, जैनशासन। जिनशासन कहीं बाहर नहीं रहता। आहा! जो कोई आत्मा को ऐसा देखे, वह जैनशासन को देखे। यह पन्द्रहवीं गाथा में आता है न? जो कोई प्रभु आत्मा को अबद्धस्पृष्ट-राग के संयोगरहित... आहा...हा...! ऐसा जो पूर्णानन्द का नाथ, अभी कहेंगे चैतन्यरत्न भगवान को जो अन्तर में देखता है, वह पर को देखता है—ऐसा उसका स्वभाव है। वह अन्तर को देखता है, उसने जैनशासन को देखा। आहा...हा...! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव जिनशासन जो कहते हैं, वह जिनशासन यह। आहा...हा...! पूर्णानन्द के नाथ को अन्दर में ज्ञान की मुख्यतावाला, जो जगत को जाननेवाला तत्त्व है। आहा...हा...!

**जो उत्तम रत्न-किरण की भाँति...** है। उत्तम रत्न की किरण जैसे चमकती है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! आहा...हा...! जैसे यह महा उत्तम रत्न की चमक उठती है, वैसे भगवान उत्तम रत्न की चमकवाला अन्दर है। ज्ञान, आनन्द, शान्ति की चमक उठती है। आहा...हा...! ऐसी बातें अब। घर में गुँथे हुए लोगों को यह समझना, बापू! यह सब अन्दर निवृत्ति लेनी पड़ेगी। अन्दर, हों! बाहर की निवृत्ति तो है ही, यह तो कहा नहीं? इसकी पर्याय में कर्म, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार जिसका यह त्याग कहता है, वह तो इसकी पर्याय में है नहीं। आहा...हा...!

ऐसा जो आत्मा, जिसका ज्ञायकस्वभाव चैतन्यरत्न, दिव्यरत्न! वह **उत्तम रत्न-किरण की भाँति स्पष्ट है...** आहा...हा...! आनन्द और ज्ञानस्वभाव से भरपूर रत्न, उत्तम रत्न, हों! साधारण रत्न नहीं। आहा...हा...! चैतन्य हीरा भगवान! अरे रे! वह स्पष्ट है, प्रत्यक्ष है-ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! इसे कोई राग की (मदद) मिले तो आत्मा ज्ञात हो-ऐसा यह है ही नहीं। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प जो राग है, उसे यह जाननेवाला है। उसके आश्रय से स्पष्ट नहीं। आत्मा का प्रत्यक्ष होना ऐसा उसका स्वभाव है। आहा...हा...! सैंतालीस शक्ति में आया है न? समयसार में सैंतालीस शक्ति ली है। उसमें एक प्रकाश नामक बारहवीं शक्ति है। वह प्रकाशशक्ति का गुण है, स्वसंवेदन अनुभव करे। वह स्वयं अपने को प्रत्यक्ष करे, उसका नाम स्वसंवेदनशक्ति है। अरे रे! ऐसा सूक्ष्म तत्त्व अब।

कहते हैं, वह तो स्पष्ट है। प्रत्यक्ष रत्न, चैतन्यरत्न प्रत्यक्ष है। उसके प्रत्यक्ष होने के लिये किसी राग की अपेक्षा, निमित्त की अपेक्षा है ही नहीं। आहा...हा...! ऐसा स्पष्ट प्रभु चैतन्य ज्योति है। प्रत्यक्ष चैतन्य रत्न! आहा...हा...! अनन्त... अनन्त... अनन्त गुण और शक्तियों का सागर... आहा...हा...! ऐसा चैतन्यरत्न, जो स्पष्ट है। **और जो इष्ट है...** आहा...! **इष्ट है ऐसे उल्लसित...** क्या इष्ट है? ज्ञान और आनन्द। जिसे इष्ट है, ऐसा उल्लसित ज्ञान और आनन्द। **स्वतत्त्व को जन...** आहा...हा...! ज्ञान और आनन्द जिसमें उल्लसित है। आहा...हा...!

**( प्रकाशमान, आनन्दमय )...** आत्मा प्रभु, आहा...! ऐसा जो स्वतत्त्व आत्मा। परतत्त्व भगवान है, उन्हें यहाँ कुछ देखना नहीं, कहते हैं। अरे रे! ऐसी बातें अब। लोगों को फुरसत ही नहीं मिलती, अन्दर की निवृत्ति नहीं मिलती। आहा...हा...! अब उन्हें ऐसा कहना। परन्तु इसका कोई दूसरा साधन होगा या नहीं? अरे! प्रभु! वह साधन ही यह है। आहा...हा...! यह चैतन्यरत्नाकर प्रभु! स्पष्ट और इष्ट है। जिसमें ज्ञान और आनन्द इष्ट है, उससे भरपूर भगवान है। ऐसे स्वतत्त्व को। क्या कहा?

**स्पष्ट है और जो इष्ट है...** स्पष्ट है और जो इष्ट है—ऐसे रत्न के किरण जैसा। **ऐसे उल्लसित ( प्रकाशमान, आनन्दमय ) स्वतत्त्व को....** आहा...हा...! ऐसे ज्ञान और आनन्द से भरपूर भगवान यह उल्लसित-उछलता है जिसकी पर्याय में। आहा! ऐसा भगवान है। यह निश्चय... निश्चय लोग (चिल्लाते हैं) व्यवहार साधन है या नहीं कुछ? व्रत पालना, भक्ति करना। अरे... प्रभु! सुन न, भाई! यह राग है, वह साधन होगा? राग है, वह तो अधर्म है। आहा...हा...! भाई! कठिन बात है।

यहाँ कहते हैं, परमात्मा अन्दर रागरहित चैतन्य से भरपूर, आनन्द के अमृत का उछाला मारता (विद्यमान है)। आहा...हा...! जैसे समुद्र के किनारे ज्वार / बाढ़ आवे, वैसे भगवान की पर्याय में आनन्द और ज्ञान की बाढ़ आवे-ऐसा भगवान है, कहते हैं। यह स्पष्ट और इष्ट हो - ऐसा यह आत्मा है। अरे रे! ऐसी बात अब। बाकी तो ग्यारह अंग का जानपना अनन्त बार किया और महाव्रत तथा अट्ठाईस मूलगुण की क्रियाएँ भी अनन्त बार कीं। वे तो सब क्रियाएँ राग और पर का ज्ञान है, वह इन्द्रियज्ञान, वह कहीं आत्मज्ञान नहीं है। आहा...हा...!

आत्मज्ञान न? राग का, निमित्त का, और पर्याय का ज्ञान-ऐसा नहीं कहा। आत्मरत्न भगवान चैतन्य का (ज्ञान)। आहा...! आनन्द का दल, अनन्त-अनन्त आनन्द और शान्ति का उल्लसित तत्त्व। है न? **उल्लसित (प्रकाशमान, आनन्दमय) स्वतत्त्व को जन...** आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्य पुकार करते हैं। तीर्थंकरों की, दिव्यध्वनि की यह पुकार है। हे जनों! आहा...हा...! हे जीवों! आहा...हा...! **स्यात्कारलक्षण...** कथंचित् कहनेवाला ऐसा है। राग भी पर्याय में है, द्रव्य में-गुण में नहीं, अशुद्धता है, शुद्ध त्रिकाल में नहीं ऐसा अपेक्षा से कथन करनेवाला है। आहा...हा...! वीतराग का शासन ऐसा है। अरे! किसे पड़ी है? अरे! कहाँ जाना यहाँ से? आहा...! सब बिखर जायेगा। इसकी पर्याय में तो ये (पर) द्रव्य नहीं, इसकी पर्याय में तो राग और द्वेष भरे हैं। वे कहीं भगवान नहीं, आत्मा नहीं। आहा...हा...!

आत्मा तो चैतन्यरत्न स्पष्ट, प्रत्यक्ष और इष्ट—ऐसे ज्ञान और आनन्द का उल्लसित तत्त्व है। आहा...हा...! ऐसा **स्वतत्त्व...** है? स्व अर्थात् अपना भगवान आत्मा। आहा...हा...! ऐसा स्वतत्त्व, जो आनन्दामृत के पूर से भरचक बहती नदी, मुक्तिरूपी (सरिता में) पूरा द्रव्य पड़ा है। **जगत को देखने में समर्थ ऐसी महासंवेदनरूपी श्री (महाज्ञानरूपी लक्ष्मी) जिसमें मुख्य है, जो उत्तम रत्न-किरण की भाँति स्पष्ट है और जो इष्ट है—ऐसे उल्लसित (प्रकाशमान, आनन्दमय) स्वतत्त्व को....** आहा...हा...! हे जनों! अरे! भगवान आचार्य पुकार करते हैं। आहा...हा...! करुणा का विकल्प है न! (इसलिए कहते हैं)। हे जीवों! ऐसी चीज़ पड़ी है, वहाँ जाओ न, प्रभु! आहा...! यह बाहर के परिभ्रमण के विकल्प में क्यों रुका है? भाई! आहा...हा...!

हे जनों! ऐसा कहा है न? बीसवें श्लोक का **जनाः** अन्तिम शब्द है। **जनाः** हे जनों! आहा...हा...! हे जीवों! ऐसा अमृत का पूर अन्दर बहता है, वहाँ जा न! अपेक्षा से सब कथन है। एकान्त द्रव्य शुद्ध ही है और पर्याय में अशुद्धता नहीं-ऐसा नहीं है। आहा...हा...! सैंतालीस नय कहे हैं न सब? पर्याय में अशुद्धता है। आहा...हा...! द्रव्य-गुण शुद्ध है—ऐसा कथंचित् जो जैनशासन का कथन है, उसे समझकर... आहा...हा...! **स्वतत्त्व को जन स्यात्कारलक्षण जिनेश शासन के वश...** जिनेश-जिनेश्वर परमात्मा के शासन के वश। ऐसा अन्यत्र कहीं है

नहीं। आहा...हा...! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने कहे हुए शासन के वश होकर **प्राप्त हो।** प्राप्त हो। आहा...हा...! इसमें संख्या बाँधी नहीं है। आहा...हा...! हे जनों! आहा...हा...!

पंचम काल है, इसलिए प्राप्त नहीं होगा-ऐसा यहाँ नहीं लिया है। पंचम काल के मुनि तो कहते हैं। स्वयं मुनि पंचम काल के हैं। आहा...हा...! ये पंचम काल के नहीं, वे पंचम काल में थे। ये पंचम काल के नहीं। अरे! अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त, जिनकी वीतरागदशा उल्लसित हो गयी है। आहा...हा...! ऐसे मुनि, ऐसे अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं), हे जीवों! तुम इसे प्राप्त हो। आहा...हा...! स्यात्कार जिसका चिह्न अर्थात् लक्षण है। ऐसे भगवान के शासन का आश्रय करके (अर्थात्) भगवान ने कहे हुए ऐसे आत्मा का आश्रय करके। आहा...हा...! बाकी तो सब बातें चाहे जो करो। वस्तु तो अन्दर त्रिलोक की नाथ है, उसका आश्रय करो। आहा...हा...! इससे तुझे उसकी प्राप्ति होगी। आहा...हा...! ऐसी बात कठिन पड़े। क्या हो? भाई! ऐसा पाँचवाँ काल, साधारण प्राणी, आजीविका के लिये धन्धे में रुक गया और बाहर की प्ररूपणा भी अभी इतनी अधिक बदल गयी है कि यह करो, यह करो, व्रत करो, अपवास करो, तप करो, त्याग करो, ऐसी प्ररूपणा। अर...र! यह मिथ्यात्व की प्ररूपणा है। उसमें यह भगवान की प्ररूपणा है। आहा...हा...!

प्रभु! तू चैतन्यरत्नाकर भगवान परमेश्वर अन्दर है न! उसे हे जीवों! पंचम काल है, इसलिए नहीं मिले और पंचम काल है, इसलिए शुभयोग ही रहेगा—ऐसा यहाँ नहीं कहा। आहा...हा...! अभी तो शुभयोग ही होता है; तो शुभयोग तो राग है, जहर है, दुःख है, मिथ्यात्व है। उस शुभयोग को अपना धर्म मानना, वह मिथ्यात्व है। आहा...हा...! क्या हो? प्रभु! वस्तु घट गयी और लोगों को रंजन करने का रास्ता हाथ में ले लिया। लोकरंजन हो, ऐसे दस-दस हजार, बीस-बीस हजार लोग एकत्रित हों। हो... हा... हो...हा...! अरे, बापू! जगत को रंजन (कराता है)! प्रभु! तू पर को रंजन करने में रुक गया परन्तु तुझे अन्दर प्रसन्न कर न! अर्थात् तू सुखी होने के पंथ में अन्दर जा न! बाकी सब प्ररूपणा हो, न हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! यह अभी कहेंगे।

**(-'स्यात्कार' जिसका चिह्न है-ऐसे जिनेन्द्रभगवान के शासन को आश्रय लेकर के प्राप्त करो।)** आहा...हा...! यह अमृतचन्द्राचार्य तो हजार वर्ष

पहले हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य तो अभी दो हजार वर्ष पहले (हुए)। यह तो हजार वर्ष पहले (हुए)। पंचम काल के जनों को पुकारते हैं। आहा...हा...! भगवान! तू विद्यमान चीज़ है न! स्वतत्त्व है-ऐसा कहा न? स्वतत्त्व है न पूरा? ज्ञानानन्द आदि के सरिता के स्वभाव से भरपूर भगवान है। आहा...हा...! आठ वर्ष का बालक भी यह प्राप्त कर सकता है, प्रभु! उसे कहीं उम्र की आवश्यकता नहीं है। आहा...हा...! आचार्य महाराज का उपदेश और पुकार है। हे जनों! तुम इसे प्राप्त हो। बाकी सब बातें हैं। आहा...हा...! ओहो...हो...! क्या करुणा की आवाज है! प्रभु! तुझे शरणभूत तो यह आत्मा ही है। आहा! इष्टपना तो आनन्द और ज्ञानादि गुणों का इष्टपना है। विकार के भाव का तो अनिष्टपना नहीं। आहा...हा...!

**जनाः** जीवों पाओ! इसे ऐसा नहीं कहा कि तू अभव्य होयेगा तो? अरे! परन्तु सुन तो सही! सुनने आया, तू अभव्य नहीं। यह बात यहाँ है ही नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! यहाँ तो भव्य / लायक प्राणी ही तू है प्रभु! आहा...हा...! **जिनेश शासन के वश से प्राप्त हों।** जनों प्राप्त हो, आहा...हा...! प्रभु की करुणा तो देखो! विकल्प है, टीका करने का विकल्प है, उस विकल्प के कर्ता नहीं; जानने-देखनेवाले हैं। अभी कहेंगे। आहा...हा...! टीका जो लिखी जाती है, वह कहीं पर्याय से नहीं लिखी जाती, जैन की पर्याय से; वह तो उसकी स्वयं की क्रिया-पर्याय से लिखी जाती है। आहा...हा...! यह लिखी जाती है, उस टीका की क्रिया को, ज्ञानस्वरूप सबको जाननेवाला तत्त्व है। लिखनेवाला वह नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें अब। लिखने के जो हाथ हैं या... क्या कहलाता है? कलम है, वह तो पर्याय में है ही नहीं। तेरी पर्याय में वह कलम और हाथ है ही नहीं। अब तू क्या करेगा? आहा...हा...!

**(अब, 'अमृतचन्द्रसूरि इस टीका के रचयिता हैं' - ऐसा मानना योग्य नहीं है...)** आहा...हा...! यह टीका है, वह मैंने की है-ऐसा मानना नहीं, प्रभु! यह तो वाणी की पर्याय है। आहा...हा...! इस मेरी पर्याय में वाणी नहीं कि जिससे मैं वाणी को रचूँ। आहा...हा...! बहुत कठिन काम, भाई! अभी बात कान में पड़ना मुश्किल, समझना तो बापू! (बहुत दुर्लभ है)। आहा! ऐसे के ऐसे भ्रम में इसने अनन्त काल बिताया है। हम कुछ समझते हैं और हम कुछ करते हैं। इसी-इसी में भ्रम में अनन्त काल से उलझ गया है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, इस टीका के रचनेवाले हम हैं-ऐसा मानना योग्य नहीं। **( ऐसे अर्थवाले काव्य द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रगट करके स्वतत्व प्राप्ति की प्रेरणा.... )** यथार्थ वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा बतलाकर। ऐसा नहीं कि टीका मैंने नहीं रची; इसलिए वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। टीका की रचना आत्मा कर नहीं सकता। आहा...हा...! २१ (श्लोक)

**व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फो गिरां**
**व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।**
**वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्**
**लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः।।२१।।**

**( वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं,.... )** आहा...हा...! गजब किया है! अरे! मैं बोलनेवाला नहीं, मैं टीका करनेवाला नहीं। आहा...हा...! यहाँ तो जरा बोलना आया, सभा को रंजन करना आया, (इसलिए) मानो, आहा...हा...! परन्तु बोलने की भाषा जड़ की है, प्रभु! आहा...हा...! काम बहुत (कठिन) **( पुद्गल ही स्वयं... )** पुद्गल ही। **( स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं,... )** मैं निमित्त हूँ, इसलिए परिणमित होते हैं-ऐसा नहीं। आहा...हा...! ही और स्वयं। यह टीका की जो पर्याय हुई है, वह शब्दों ने स्वयं ही की है; मैंने नहीं। अरे रे! आहा...हा...! परन्तु इसकी पर्याय में जो शब्द नहीं, उन शब्दों को रचे किस प्रकार? पर्याय को रच सकता है, परन्तु जो पर्याय में नहीं, उन्हें रचे किस प्रकार? आहा...हा...! ऐसी बात है।

**( आत्मा उन्हें परिणमित नहीं कर सकता,... )** यह टीका की है, उसे मैं कर नहीं सकता। अरे रे! ऐसी बातें हैं। **( तथा वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं,.... )** क्या कहते हैं? शब्द तो पुद्गल से हुए हैं और सामनेवाला समझता है, वह शब्दों से नहीं। आहा...हा...! यह अद्भुत महिमाशाली की बातें हैं, बापू! वीतराग तीन लोक के नाथ की गर्जना कोई अलग प्रकार की है! आहा...! पामर का तो कलेजा फट जाये ऐसा है। आहा...! क्या ऐसा होता है? ऐसा होता है? अरे... प्रभु! सुन न! यहाँ तो कहते हैं, यह टीका के हुए ये शब्द स्वयं परिणमते हैं, यह जड़ की पर्याय हुई है, जड़ से स्वयं यह परमाणु की पर्याय परिणमित हुई है; मैंने टीका की ही नहीं। आहा...हा...!

**( आत्मा उन्हें परिणमित नहीं कर सकता, तथा वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं,.... )** क्या कहते हैं ? शब्दों से सामनेवाले को ज्ञान हुआ-ऐसा नहीं है। उसका ज्ञान उसके कारण उससे हुआ है। शब्द कान में पड़े, इसलिए उसे ज्ञान हुआ (-ऐसा नहीं) आहा...हा... ! गजब बात है प्रभु! एक तो टीका की रचना मेरी नहीं और ये शब्द जिसे सुनने को मिले, इसलिए उसे ज्ञान की पर्याय हुई -ऐसा नहीं, कहते हैं। आहा...हा... ! उस क्षण उस जीव की वह ज्ञान की पर्याय की स्वतः स्वयं से हुई है, शब्द से नहीं। मेरी टीका से तुझे ज्ञान हो-ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

**मुमुक्षु :** इसकी टीका...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** मेरी टीका अर्थात् निमित्त है न ? यह टीका मेरी नहीं, यह तो शब्द की है और शब्द से हुई टीका है, भाई! आहा! तथापि पहले आता है, पहले (समयसार के तीसरे) श्लोक में (आता है कि) इस टीका से ही मेरी निर्मल परिणति प्रगट होओ। आहा... ! इसका अर्थ कि मेरा तो लक्ष्य ज्ञायक पर है और यह टीका होती है, उसके काल में मेरा जोर अन्दर में है तो वहाँ से शुद्धि बढ़ जाओ। टीका के कारण नहीं परन्तु अपने अन्दर में मेरा घोलन है। ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... पर घोलन है, इसलिए टीका के काल में मेरी शुद्धि बढ़ जाओ। काल में, टीका द्वारा नहीं परन्तु टीका के काल में। आहा...हा... ! पाठ तो ऐसा है, हों! 'टीका एव' आहा... ! प्रभु! तुझमें कहाँ कमी है कि तुझे शब्द के कारण ज्ञान हो ? आहा... !

यह तो आया नहीं था ? उस दिन पण्डितजी ने गाया था। 'प्रभु मेरे तू सब बातें पूरा, प्रभु मेरे तू सब बातें पूरा, पर की आस कहाँ प्रीतम, किस बातें तू अधूरा!' प्रभु मेरे तू सब बातें पूरा। आहा... ! प्रभु! तू सब बातें पूरा (है)। अब पर की आशा रखकर तुझे ज्ञान और आनन्द होता है, यह तूने कहाँ से निकाला ? आहा...हा... ! टीका करते हैं और टीका से तुझे ज्ञान होता है, उससे इनकार करते हैं। टीका मैं नहीं करता और टीका से तुझे ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है। तेरे स्वभाव में ज्ञान की पर्याय प्रगट होने का काल है, ये शब्द तो निमित्त पड़े; उससे तुझे वह ज्ञान की पर्याय हुई नहीं। आहा...हा... ! गजब किया है न ? वीतरागी मुनि हैं, उन्हें कहाँ जगत की पड़ी है ? जगत माने या न माने, जगत इस बात को स्वीकार करे या स्वीकार न करे, उसकी कुछ पड़ी नहीं है। आहा...हा... ! वस्तु की स्थिति थी, ऐसी प्रसिद्ध कर

डाली। ऐसी बातें कहाँ है ? यह तो क्षण में-पल में मैंने किया, मैंने किया... मैंने ऐसा पढ़ा और उसमें से मुझे ज्ञान हुआ, उसमें से मुझे ज्ञान हुआ। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि हे जीवों! **( वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं, शब्द उन्हें ज्ञेय बना—समझा नहीं सकते... )** आहा...हा...! यह तो उसकी पर्याय का काल है, इसलिए उसे जानने की पर्याय उससे होती है। शब्द से उसे ज्ञान होता है-ऐसा नहीं है। ओहो...हो...! गजब काम किया है न! प्रभु! मेरे स्वरूप की पर्याय में भाषा नहीं, मेरी पर्याय में भाषा नहीं तो भाषा किस प्रकार करूँ ? और उसकी पर्याय में जो सुनता है, उसमें यह भाषा नहीं। आहा...हा...! भाई! ऐसा कभी कहीं सुना नहीं। भाग्यशाली बापू! यह वस्तु, भाई! कान में पड़ी। अरे! यह तो तीन लोक के नाथ वीतराग और सन्तों की वाणी है, भाई! यह कहीं ऐरे-गैरे की बात नहीं है। भले यह साधारण काल है, परन्तु यह वस्तु कहीं साधारण नहीं है। आहा! ओहो...हो...! यह तो भाई ने मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा नहीं ? सब अवसर आ गया है, प्रभु! आहा! अब तुझे अन्दर में जाने की बात है, बाकी सब अवसर आ गया है। आहा...हा...! मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है आहा...हा...! ऐसी बात, जगत को तो कुछ शरीर का अभिमान, वाणी का अभिमान। जो इसका नहीं, उसका अभिमान! मैं रूपवान हूँ और मैं पतला हूँ और मैं मोटा हूँ, मेरी मीठी वाणी है, मेरा कण्ठ बहुत मीठा है, कण्ठ बहुत मीठा है! कण्ठ ही तेरा नहीं, वहाँ फिर मीठा कहाँ से आया ? आहा...हा...! काम बहुत (कठिन) भाई! सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, वह कोई अलौकिक चीज़ है। आहा! फिर अन्दर शान्ति की वृद्धि हो और फिर प्रतिमा आदि के विकल्प आवें, वह व्यवहार है परन्तु अन्दर अनुभव का भान होने के बाद की बात है। आहा...हा...!

'**आत्मा सहित विश्व, वह व्याख्येय....** आत्मा सहित विश्व वह समझाने योग्य है। **वाणी का गुंथन, वह व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि, वे व्याख्याता हैं, इस प्रकार जन मोह से मत नाचो...** आहा! ऐसी टीका, अमृतचन्द्राचार्य की टीका अभी भरतक्षेत्र में अन्यत्र कहीं है नहीं। ऐसी टीका! तथापि कहते हैं कि वह तो शब्द की पर्याय है, प्रभु! मैंने नहीं की। आहा...हा...! ओहो...हो...! और ये शब्द हैं, तेरा जो ज्ञान है, उसमें शब्द ज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं। तेरा ज्ञान है, उससे वह ज्ञान है; शब्द से नहीं। आहा...हा...! अरे रे! अनन्त काल से अभिमान छोड़ा नहीं।

'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, छोड़ा नहीं अभिमान' आता है न यह ? 'सेया नहीं गुरु सन्त को' इसका अर्थ (यह कि) गुरु ने कहा वह माना नहीं। आहा...हा... ! तेरी स्वच्छन्दता से मानकर तूने प्रभु अनन्त काल गँवाया है।

यह (समयसार की) ४ गाथा में भी कहा है न ? 'श्रुत, परिचित, अनुभूत'- इस राग की और राग की क्रिया की बात तूने अनन्त बार सुनी, परन्तु राग से भिन्न भगवान की बात तूने सुनी नहीं, प्रभु ! आहा...हा... ! 'श्रुत परिचित अनुभूता' दया, दान, व्रतादि का (विकल्प) वह तो राग है, लोभ है। उसका करना, यह बात तो प्रभु ! तूने अनन्त बार सुनी है। वहाँ तो ऐसा कहते हैं कि सर्व जीवों ने सुनी है। निगोद के जीव ने भी सुनी है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि उस प्रकार की राग की एकत्वबुद्धि वहाँ है न ? आहा...हा... ! वह राग की बात सुनी है, राग का परिचय किया है, राग का अनुभव किया है। आहा...हा... ! परन्तु राग से भिन्न भगवान पूर्णानन्द का नाथ, यह बात प्रभु ! तूने सुनी नहीं। आहा...हा... ! गजब काम कठिन ! यह दिगम्बर सन्तों की कथनी है—ऐसा कहना, यह भी निमित्त से है। आहा..हा... ! यहाँ तो थोड़ा लिखना आवे, पढ़ना आवे, वहाँ मानो मैं बाहर प्रसिद्ध करूँ, लोग मुझे गिनें। अन्दर दृष्टि में फेरफार है। समझ में आया ? आहा...हा... ! यह कहते हैं कि तुम पागल न होओ। इस शब्द को मैंने रचा और शब्द से तुझे ज्ञान हुआ-ऐसे पागल न होओ। है न ? मोह से न नाचो। आहा...हा... !

**'आत्मा सहित विश्व, वह व्याख्येय ( समझानेयोग्य ) है, '...** छहों द्रव्य, ऐसा। **वाणी का गुंथन, वह व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि, वे व्याख्याता हैं, इस प्रकार जन मोह से मत नाचो...** मोह से **( -मत फूलो )...** आहा...हा... ! तेरा नाथ अन्दर ज्ञायकभाव से भरपूर है। उसकी पर्याय तुझे तेरे से होती है, आहा...हा.. ! शब्द से नहीं।

**प्रश्न :** तो फिर विश्व व्याख्या कैसे होगी ?

**समाधान :** किसने कहा ? विश्व व्याख्या भाषा में होती है। देखो न, क्या कहा ? स्वयं आत्मा और सब, है न ? **आत्मा सहित विश्व...** ऐसा कहा न ? सब, आत्मा और विश्व अर्थात् सब, ऐसा। आत्मा और पूरा विश्व, सब। आहा...हा... ! वह व्याख्येय-समझाने योग्य है, ऐसा नहीं। अरे रे ! भाषा का कर्ता होना, वह तो पुद्गल की पर्याय का कर्ता, वह तो मिथ्यात्व है। अरे ! अन्दर समझाने का विकल्प

उत्पन्न होता है, उसका यह कर्ता-मालिक होता है, वह मिथ्यात्व है। आहा...हा...! अरे रे! समझ में आया? ऐसी बात है। दुनिया के प्रवाह से अलग बात है, भाई! दुनिया का प्रवाह तो देखा है न! हिन्दुस्तान दस-दस हजार मील घूमकर तीन बार देखा है। यह बात कहीं नहीं है। तीन लोक के नाथ ने कही हुई बात है। आहा...हा...! लोग कहीं के कहीं स्वयं अपनी स्वच्छन्दता से समझकर मानकर बैठे हैं कि अपन कुछ समझते हैं और अपन कुछ करते हैं। आहा...हा...!

ये कहते हैं, मोह से जन न फूलो। पहले कहा कि जनों! इस वस्तु को पाओ, तुम्हारे से पाओ। आहा...हा...! (मोह से) मत नाचो। **स्याद्वाद-विद्याबल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा....** अपेक्षा से जानकर। राग की पर्याय है, तथापि उसका जाननेवाला है। आहा...हा...! राग का कर्ता स्वयं है, तथापि कर्ता (कहा), वह तो ज्ञान की अपेक्षा से कर्ता कहा जाता है। समझ में आया?

वह १८९ गाथा है न? १८९ गाथा, वह इसके बाद लेंगे। १८९-१९० गाथा बहुत अच्छी है। वे लोग कल आनेवाले हैं न! सरदारशहरवाले, १५ व्यक्ति हैं, कितने दूर से आते हैं। १८९ लगभग है। निश्चय-व्यवहार। राग का कर्ता जीव, शुद्धनय से है। आहा...हा...! पर का कर्ता कहना, वह व्यवहारनय से है। गजब बात आयेगी! वीतराग का मार्ग, बापू! कहीं है नहीं। जैनधर्म के अतिरिक्त यह बात कहीं है ही नहीं। वेदान्त आदि सबने गड़बड़ी कर डाली। निश्चयाभास है। समझ में आया? कोई ईश्वरकर्ता मानकर, कोई आत्मा को व्यापक (मानकर), लोकालोक में अकेला व्यापक मानकर, आहा...हा...! कोई पर्याय को मानता नहीं; किसी ने पर्याय को माना, द्रव्य को नहीं। बौद्ध है, वह पर्याय को मानता है, द्रव्य को नहीं मानता। वेदान्त, द्रव्य को मानता है, पर्याय को नहीं मानता परन्तु द्रव्य माना किसमें तूने? द्रव्य में द्रव्य माना जाता है? आहा...हा...! एकान्त कहाँ होता है, यह लोगों को पता नहीं। आहा...हा...!

कहते हैं **स्याद्वाद-विद्याबल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा....** विशुद्ध सम्यग्ज्ञान की कला द्वारा। आहा...हा...! **इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्व को....** इस एक सम्पूर्ण शाश्वत् तत्त्व जो प्रभु, उसे **प्राप्त करके...** आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्य मुनिराज (कहते हैं), प्रभु! तू आज ही अन्दर जा न! आहा...हा...! प्रभु! तुझे समय मिला है न! यह बेचारे पशु, पत्तों में असंख्य जीव... आहा...हा...!

प्याज, लहसुन के एक टुकड़े में असंख्य शरीर और एक शरीर में अनन्त जीव। अरे! प्रभु! कब निकलें? भाई! भाई! तू विचार कर, तुझे अवसर मूल्यवान मिला है, भाई! आहा...हा...! यह देखो तो चींटी, कौआ, कंथवा बेचारे मरकर वहीं के वहीं उत्पन्न होते हैं। यह मनुष्यपना और यह वाणी कहाँ मिले? आहा!

यहाँ कहते हैं कि हे जनों! विशुद्ध ज्ञान के बल द्वारा, राग के बल द्वारा - ऐसा नहीं। आहा...हा...! **स्याद्वाद-विद्याबल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्व को...** यहाँ तो शाश्वत् स्वतत्त्व की बात है न? (उसे) **प्राप्त करके आज....** आहा...हा...! दिगम्बर मुनियों की वाणी तो देखो! प्रभु! परन्तु हम साधारण मनुष्य! अरे! तू साधारण नहीं, प्रभु! असाधारण शक्ति का धारक है। आहा...हा...! वाणी देखो वाणी! पंचम काल के मुनि, पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा नहीं (कि) तुम शुभभाव में रहो, शुभभाव करो। आहा...हा...! और अभी शुभभाव से आगे नहीं जाया जाता -ऐसा नहीं कहते। आहा...हा...! क्या हो? पूरा प्रवाह टूट गया न, प्रभु! ओहो!

(एक साधु है, उसने) पत्र में डाला है, अभी शुभयोग ही होता है। अर र! प्रभु... प्रभु! तूने क्या किया? भाई! यह तो कहते हैं कि तू प्राप्त कर। पंचम काल का जीव है, शुभयोग (ही) है-ऐसा नहीं। अभी के सब साधु (जो) हुए, उन सबको शुभयोग था। आहा...हा...! समाचार पत्र में आया है तो भी लोग विचार नहीं करते कि यह क्या कहते हैं और यह क्या मानते हैं? अरे! प्रभु! ये सन्त क्या कहते हैं?

**एक समस्त शाश्वत स्वतत्व को प्राप्त करके आज (जन) अव्याकुलरूप से नाचो (-परमानन्दपरिणामरूप परिणत होओ।)** आहा...हा...! हो सकनेयोग्य है, इसलिए हो सकता है, ऐसा कहा। अरे रे! ऐसी बड़ी शर्तें! प्रभु! तू पूर्णानन्द का नाथ भरा है। यह आनन्द और ज्ञान प्रभु तुझमें भरा हुआ उल्लसित होता है न! आज ही जन उसे प्राप्त करो और प्राप्त करके आनन्द में नाचो। उसे प्राप्त करके अतीन्द्रिय आनन्द का परिणमन करो। आहा...हा...! गजब किया है! आहा! ऐसा नहीं कहा कि ये बहिनें, लड़कियाँ ऐसी हैं और अमुक हैं। अरे! भगवान तुम पूर्ण आत्मा हो न! प्रभु! आहा..हा...! जनों में व्याख्या इतनी नहीं करे, अमुक आदमी ही (हों)। जीवों! तुम सुननेवाले प्राणियों! यह कहते हैं कि वाणी द्वारा आया है और तेरे ज्ञान से तुझे ज्ञात होता है, ऐसे तत्त्व को तू प्राप्त कर। भाई!

आहा...हा...! सन्तों की वाणी गजब है! वह तो यह करो और यह करो और व्रत करो, दस अपवास करो और चौविहार करो और नकोड़ा करो... कर-करके मर गया। परसन्मुख के लक्ष्यवाली सब राग की क्रिया है और उसमें माने कि हम कुछ धर्म करते हैं। मिथ्यात्व का पोषण है, अनन्त संसार को बढ़ाता है। आहा...हा...! कठिन काम। **( -परमानन्द-परिणामरूप परिणत होओ। )**

**[ अब, काव्य द्वारा चैतन्य की महिमा गाकर, वही एक अनुभव करने योग्य है - ऐसी प्रेरणा करके, इस परम पवित्र परमागम की पूर्णाहुति की जाती है:— ]**

**इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत्**
**चिति तदपि किलाभूत्कल्पमग्नौ हुतस्य।**
**अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद्**
**अपरमिह न किञ्चित्तत्त्वमेकं परं चित्।।२२।।**

**इस प्रकार [ इस परमागम में ] अमन्दरूप से [ बलपूर्वक, जोरशोर से ]....** भाषा है? जोर से कहा है अर्थात् बलवानरूप से जो सत्य है, उसे पुकारा है। आहा...हा...! अमन्दरूप से-पाठ है न? ऐसा होगा न? ऐसा नहीं। ऐसा है, ऐसे अमन्दरूप से प्रभु ने पुकार की है। श्लोक तो देखो। **[ बलपूर्वक, जोरशोर से ]....** जोरशोर से अर्थात् बहुत कहा, ऐसा। एक ओर स्वयं इनकार करते हैं हम-हम कर्ता नहीं, परन्तु कहते हैं। आहा...हा...! जोरशोर से जोर से यह तत्त्व प्रसिद्ध किया है। आहा...हा...! गुप्त नहीं रखा, गुप्त नहीं रखा कि यह नहीं समझ में आयेगा, इसलिए इसे दूसरा कहना। यह तो हमने अगुप्तरूप से बात की है।

**थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है,...** अरे! इतना-इतना कहा तो भी कहते हैं कि थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है। **वह सब चैतन्य में वास्तव में अग्नि में होमी गयी वस्तु के समान [ स्वाहा ] हो गया है।** जैसे अग्नि में डालें और स्वाहा हो जाये, वैसे यह सब कथन भगवान आत्मा में स्वाहा (हो गया)। आहा...हा...! ओहो...हो...! **[ अग्नि में होमे गये घी को अग्नि खा जाती है, मानो कुछ होमा ही न गया हो! इसी प्रकार अनन्त माहात्म्यवन्त चैतन्य का चाहे जितना वर्णन किया जाय, तथापि मानो उस समस्त वर्णन को अनन्त महिमावान चैतन्य खा जाता है; चैतन्य की अनन्त महिमा के निकट सारा वर्णन मानो वर्णन**

**ही.... ]** हुआ नहीं। उसकी क्या बातें ? बापू! उस पूर्णानन्द के नाथ को चाहे जिस प्रकार हमने वर्णन किया परन्तु वह वर्णन सब खा गया। उसके माहात्म्य की क्या बात करनी ? भाई! **[ वर्णन मानो वर्णन ही न हुआ हो इस प्रकार तुच्छता को प्राप्त होता है। ]** कहना वह तो साधारण हो गया, कहते हैं। इतना कहा (तो भी) कुछ नहीं होता।

**उस चैतन्य को ही चैतन्य आज....** देखो आया। **चैतन्य को ही चैतन्य आज प्रबलता-उग्रता से अनुभव करो....** आहा...हा...! **( अर्थात् उस चित्स्वरूप आत्मा को ही आत्मा आज... )** आत्मा को ही आत्मा आज **( अत्यन्त अनुभवो ) क्योंकि इस लोक में दूसरा कुछ भी ( उत्तम ) नहीं है,...** करने का तो यह है और दूसरी कोई चीज़ है नहीं। **चैतन्य ही परम ( उत्तम ) तत्त्व है।** लो, यह पूरा किया।

***[ इस प्रकार ( श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री प्रवचनसार शास्त्र की श्रीमद्-अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित ) तत्त्वदीपिका नामक संस्कृत टीका के श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ। ]***

( **श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव! )

## मुनिदशा में अचिन्त्य सुख

मुनिराजों को संयोगरहित निजानन्द के अनुभव में जो सुख है, उस सुख का अंश भी चक्रवर्ती अथवा इन्द्र के वैभव में नहीं है। इन्द्रिय-विषयों में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द की परछांई भी नहीं है। अज्ञानी को बाह्य संयोग की अनुकूलता में सुख लगता है, वह उसकी कल्पनामात्र ही है। संयोग में कहीं सुख नहीं है, अज्ञानी अपनी कल्पना से ही सुख मानता है।

*- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, कानजीस्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २७६*